वेदश्रीः

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

वेदश्रीः

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

वेदश्रीः

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ

(Swami Satya Prakash Saraswati Commemoration Volume)

वेदश्रीः

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादिका

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

आर्य कन्या डिग्री कालेज

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

इलाहाबाद

प्रकाशक :

श्री लाल बहादुर शर्मा, प्रधान, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
श्री राजेन्द्र नारायण गुप्त, प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
पं० मूल चन्द अवस्थी, पूर्व प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद
श्री हीरा लाल शर्मा, प्रधान, आर्य समाज चौक, इलाहाबाद

संरक्षिका :

डॉ० कोमल भटनागर, प्राचार्या, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : 1997

मूल्य : रु० 200.00 मात्र

लेज़र टाइप सेटिंग :

हाई टेक कम्प्यूटर सिस्टम
5 सरदार पटेल मार्ग, इलाहाबाद-211 001

मुद्रक :

भार्गव आफसेट
2-ए बाई का बाग, इलाहाबाद-211 003

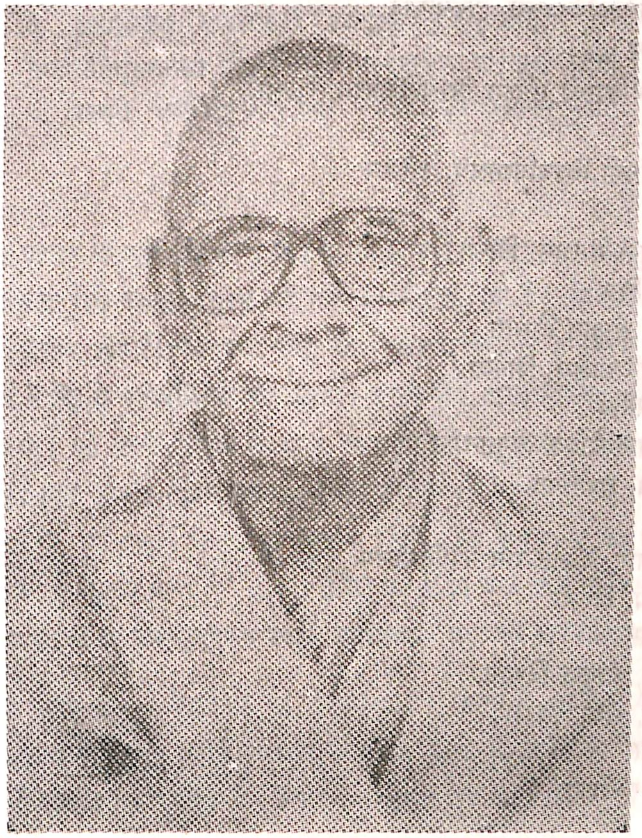

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती

२४ अगस्त, १६०५ — १८ जनवरी, १६६५

सम्पादन-परामर्शदातृ-समिति

1. **डॉ० राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी**
   महामहिम राज्यपाल, पाण्डिचेरी
2. **प्रो० कैलाशनाथ सिंह**
   प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, उ० प्र०, लखनऊ
3. **डॉ० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव**
   कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
4. **डॉ० वाचस्पति उपाध्याय**
   कुलपति, लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली
5. **डॉ० धर्मपाल**
   कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
6. **डॉ० के० के० मिश्र**
   निदेशक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली
7. **डॉ० अभिराज राजेन्द्र मिश्र**
   प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला
8. **डॉ० भवानी लाल भारतीय**
   अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ
   पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ
9. **डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ**
   अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दौलत राम महाविद्यालय
   दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
10. **डॉ० चन्द्र कान्त शुक्ल**
    प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
    राँची विश्वविद्यालय, राँची, बिहार
11. **श्री मोहन लाल मोहित**
    प्रधान, आर्य सभा, मॉरीशस
12. **स्वामी अग्निवेश**
    अध्यक्ष, बंधुआ मुक्ति मोर्चा, दिल्ली
13. **स्वामी ओमानन्द सरस्वती**
    गुरुकुल झज्झर, रोहतक, हरियाणा
14. **श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव**
    रीडर, वनस्पति शास्त्र विभाग
    सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद
15. **डॉ० विमलेश**
    भू० पू० प्रधानाचार्य
    डी०ए०वी० इण्टर कालेज, इलाहाबाद
16. **पं० दीनानाथ शास्त्री**
    आर्य समाज, अमेठी

पुरोवाक्

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।
समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।

परिचय प्रगाढ़ हो तो अतीत के पन्ने खोलने में विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता है। आज जब इस ग्रन्थ का सम्पादकीय लिखने बैठी हूँ तो हर पंक्ति मानो उस देवतुल्य पुरुष को स्वयं समर्पित हो रही है। विवाहित होकर इलाहाबाद आने के बाद से ही स्वामी जी का आशीर्वाद, प्रेरणा, स्नेह निरन्तर प्राप्त होता रहा। अगाध पांडित्य के स्वामी थे वे किन्तु यह तो एक सामान्य सी बात है। विशिष्टता तो इसमें है कि वे मानवशिल्पी थे। उन्होंने अपने जैसे अध्ययनशील, कर्मठ, रचनात्मक, कार्यकुशल सहस्रों-सहस्र शिष्यों का निर्माण किया। जो उनके सम्पर्क में आया अध्ययन की प्रेरणा और स्नेह की वर्षा से सदा अभिषिञ्चित होता रहा। सम्भवतः यह दोनों ही बातें उन्होंने अपने आस-पास के परिवेश से ग्रहण की थीं। डॉ० सत्यप्रकाश जी की जन्मस्थली बिजनौर नगर है। वह बिजनौर, जहाँ प्रकृति से अनन्य अनुराग रखने वाली शकुन्तला का शैशव-कैशोर्य बीता था, जहाँ दुष्यन्त ने सौहार्दपूर्ण व्यवहार से आश्रम की मुग्धा कन्या को चकित-भ्रमित कर दिया था। आचार्य कण्व की विद्वत्ता और दुष्यन्त-शकुन्तला मिथुन की प्रेम सनी मिट्टी का रस लेकर उस युगपुरुष स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के व्यक्तित्व की रचना हुई थी।

संक्रमण काल था वह भारत का — वैज्ञानिक नई संकल्पनाओं में व्यस्त थे, साहित्य साधना से साहित्यिक वातावरण बनते थे, धर्म तथा दर्शन की व्याख्याएं होती थीं, महर्षि दयानन्द के संदेश गूँजते थे, क्रांति के बिगुल बजते थे, ऐसे रोमाञ्चकारी युग में साहित्य, विज्ञान, दर्शन और क्रांति का समवेत स्वर लेकर उस धरती पुत्र का निर्माण हुआ था।

अध्ययन का प्रांगण विशाल होता है, असीमित और अनन्त। स्वामी सत्यप्रकाश ने इस विशालता को छूने का सार्थक प्रयास किया था। संन्यास आश्रम में दीक्षा ले लेने से अध्ययन के ये आयाम अधिक विस्तृत हो गये थे। एकान्त में बैठ कर वेदों की व्याख्या करते, व्यस्त क्षणों में वेदों का प्रचार करते। उनकी साहित्यानुरागी प्रवृत्ति ने उन्हें संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन तथा अफ्रीकन भाषाओं का ज्ञान कराया था। वे ऐसी शिक्षा के पक्षधर थे जिसमें छात्र सरस्वती के संश्रय से सरस साहित्य के मनन और प्रणयन में सुरुचिसम्पन्न बने।

भारतीय वैज्ञानिक परम्परा पर आधारित मौलिक ग्रन्थों की रचना अँग्रेजी और विशेष रूप से हिन्दी में करके उन्होंने हिन्दी के भाल को विज्ञान से और विज्ञान के मस्तक को हिन्दी से सजाया। उन्हें आश्चर्य होता था कि संस्कृत को ज्ञान का आधार

बनाने में जो प्रान्त अपनी प्रान्तीयता को भूल गये, अंग्रेजी का आश्रय लेते समय भी उन्हें अपनी प्रान्तीयता का स्मरण नहीं हुआ, वे ही प्रान्त उच्च कोटि के हिन्दी साहित्य के लिए हिन्दी अपनाते समय क्यों प्रान्तीयता की बाधा खड़ी करते हैं? यह पूर्वाग्रह उनके अनुसार सर्वथा अनुचित और अस्वीकार्य था।

उनके अपूर्व व्यक्तित्व का साक्षी था उनका कोमल और भावुक कवि हृदय जो कैशोर्य से ही कविता की ओर झुका था। प्रारम्भ में ईश तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों का हिन्दी काव्यानुवाद और फिर कविताओं का संग्रह 'प्रतिबिम्ब'। अप्रकाशित काव्यरचनाओं के विषय में कहते - ''कुछ मेरी मृत्यु के बाद के लिए भी रहने दो''।

स्वामी जी का धर्म मानव धर्म था, सम्पूर्ण मानव जाति के लिए कल्याणकारी। उसी धर्म के समर्थन में वे गङ्गा और टेम्स को समान पवित्र मानते थे, कश्मीर और स्विटज़रलैण्ड को समान आकर्षक कहते थे। उसी धर्म की प्रतिष्ठापना में उन्होंने पुस्तक लिखी थी —'Man and his religion' जो इतनी लोकप्रिय हुई कि विदेशी भाषाओं में भी उसके अनुवाद हुए।

अद्भुत वक्तृता शक्ति के धनी थे स्वामी जी, गूढ़तम विषयों को तर्कों और उदाहरणों से रोचक बना ऐसा सरलतम हृदयग्राही विश्लेषण प्रस्तुत करते कि श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाता। उनका जीवन सहज था औपचारिकता से परे, आडम्बरों से अछूता - सादा भोजन भी मधुकरी की भांति तृप्तभाव से ग्रहण करते। खादी की वेशभूषा में भी पाण्डित्य की उस प्रखरता का आभास देते जो उनमें भरी थी। सहज व्यवहार और मधुर स्वभाव तो मानों उन्हें ईश्वर से उपहार में मिले थे।

कथ्य और अकथ्य समग्र विलक्षणताओं ने उन्हें असमान्यता की कोटि में ला खड़ा किया था - सर्वथा निरभिमानी और निर्मोही। जीवन की सन्ध्या में, यही बीज बिन्दु असार संसार के प्रति विरक्ति का कारण बना था, नश्वर जीवन के प्रति अनासक्ति का भावक बना था, इसी की परिणति चतुर्थ आश्रम-संन्यास के रूप में हुई थी। सत्य अर्थों में वे ही तो भारतीय संस्कृति के सच्चे सम्पोषक थे, भारत की ऋषि-मुनियों की परम्परा के अनुपालक मनीषी थे। वे महर्षि दयानन्द की श्रृङ्खला की अगली कड़ी नहीं, दूसरे दयानन्द ही थे।

स्वामी जी पूर्णतः व्यवहारिक थे, मैं उनसे प्रायः कहती थी स्वामी जी आपके सम्मान में एक बृहद् अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने की इच्छा है और स्वामी जी (कठिन कार्य के मार्ग में आने वाली बाधाओं से सुपरिचित) हँस कर टाल देते। १८ जनवरी सन् ९५ को विद्यालय में दुःखद सूचना मिली--'स्वामी जी दिवङ्गत हुए'। शोक सभा हेतु शोक प्रस्ताव लिखते समय अचानक मन में कौंधा प्राचार्या डॉ० कोमल भटनागर की हार्दिक इच्छा है कि हमारे विद्यालय से पत्रिका विशेषांक प्रकाशित हो तो क्यों न यह विशेषांक स्वामी जी को समर्पित हो। दैवयोग से तत्कालीन प्रबन्धक श्री मूलचन्द अवस्थी भी उपस्थित थे। परस्पर विचार-विनिमय के पश्चात् निश्चित हुआ कि महाविद्यालय से **वेदश्रीः** नामक अधिकतम ३०० पृष्ठों में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जाए और इसके सम्पादन का दायित्व मैं लूँ। प्रधान श्री राजेन्द्र नारायण गुप्त ने सौजन्यतापूर्वक इस प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी।

स्वामी जी ने जिन सहस्त्रों-सहस्त्र अध्येताओं को आगे बढ़ने का मार्ग दिखाया था उनमें से मैं भी एक थी। मैंने अपना पहला शोध पत्र स्वामी जी के आदेश पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय परिसर में स्थित डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान में एक विद्वद्गोष्ठी में पढ़ा था। मेरा यह शोध पत्र तथा प्रथम पुस्तक स्वामी जी ने ही मुद्रित कराई थी, फिर तो निरन्तर उनका आशीर्वाद तथा प्रेरणा

मेरे साथ रही और मैं अध्ययन लेखन के क्षेत्र में आगे बढ़ती ही रही। स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ के श्रमसाध्य कठिन कार्य को मैं कुशलता पूर्वक सम्पन्न कर सकूँगी अथवा नहीं, इस भयजनित सङ्कोच के साथ मैंने सम्पादन स्वीकार कर लिया। महाविद्यालय के प्रधान श्री राजेन्द्र नारायण गुप्त, प्रबन्धक श्री मूलचन्द अवस्थी तथा प्राचार्या डॉ० कोमल भटनागर के सत्परामर्श से परामर्शदातृसमिति का चयन किया गया। समिति के निर्देशन में देश-विदेश के अनेक विद्वानों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों और उद्योगपतियों से सम्पर्क करने पर ज्ञात हुआ कि अधिकतम लोग स्वामी जी के शिष्य रह चुके थे, उनकी स्नेह शीतल छाया प्राप्त कर वैयक्तिक उन्नति को प्राप्त कर सके थे, उनके सहयोग से विद्या के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य कर रहे थे, उनके परामर्श से जीवन की कठिनाइयों को पार कर सके थे, उनकी प्रेरणा से स्वाभिमानपूर्वक महत्त्वपूर्ण पदों को कुशलतापूर्वक प्रतिष्ठित कर रहे थे, उनके परामर्श से जीवन साथी का चयन कर व्यवहारिक जगत् में सुखपूर्वक जीवन यापन कर रहे थे (स्वामी जी को विवाह सम्बन्ध निश्चित कराने में विशेष रुचि थी), उनके हँसमुख विनोदी स्वभाव का रसास्वादन कर चुके थे।

अस्तु, ५ फरवरी को वसन्तपञ्चमी के शुभ मुहूर्त में मैंने विश्व के अनेक देशों के तथा भारत के विभिन्न प्रांतों के विद्वानों को स्वामी जी के जीवन पर प्रकाश डालने वाले मुद्रित प्रपत्र ग्रन्थप्रकाशन की सूचना प्रसारण हेतु प्रेषित किये। दिल्ली, लखनऊ, वाराणसी, इलाहाबाद आदि नगरों में जाकर स्वामी जी के परिचितों, शुभचिन्तकों, वैदिक विद्वानों से व्यक्तिगत सम्पर्क किया। एक-एक व्यक्ति ने स्वामी जी की जितनी अधिक प्रशंसा की, उनकी महानता की जिस प्रकार से सराहना की, उसे व्यक्त करने को मेरे पास शब्द नहीं हैं। सभी ने मेरे कार्य की प्रशंसा कर मेरे उत्साह को द्विगुणित-चतुर्गुणित किया, ग्रन्थ की सफलता, पूर्णता के लिए सहर्ष लेख भेजने का आश्वासन भी दिया। उन सभी की शुभाशंसाएँ मेरे रचनापथ की पाथेय बनी हैं।

प्रत्युत्तर के लिए अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। कुछ ही दिनों में सबसे पहले प्रो० यजन वीर दहिया, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक का शोध पत्र आ गया। फिर तो यह सिलसिला अनवरत चलता ही रहा और लगभग १०० विद्वानों के सन्देश, श्रद्धाञ्जलि कविताएँ, शोधनिबन्ध आदि प्राप्त हुए। सम्पूर्ण सामग्री को सम्पादन के पश्चात् पुस्तकाकार में निबन्धित कर **वेदश्रीः** ग्रन्थ रूप श्रद्धा सुमनाञ्जलि के मुद्रण प्रकाशन की व्यवस्था की गई।

यह स्वामी जी का ममत्व भरा आशीर्वाद था कि गुरुजनों, परिचितों, मित्रों एवं शिष्यों ने मेरी अभ्यर्थना स्वीकार की और इस सङ्कल्पित वागध्वर के साफल्य हेतु सर्वथा नवीन एवं स्तरीय रचनाहुति प्रदान कर ग्रन्थ का एवं मेरा गौरव बढ़ाया। उन सभी अधीतियों के सौजन्य एवं अनुग्रह से मुझे ऋषिऋण से मुक्ति मिली है। एतदर्थ मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ तथा उन्हें प्रणाम, सम्मान एवं धन्यवाद निरूपित करती हूँ।

महर्षि दयानन्द के पथगामी स्वामी सत्यप्रकाश ने वेद एवं वैदिक साहित्य के उन्नयन एवं प्रसार में अपना समग्र जीवन निष्ठापूर्वक लगा दिया, मन वाणी एवं कर्म से वेदों के चिन्तन एवं अनुशीलन में व्याप्त रह साहित्यिक संसद में वैदिक अध्येता की गरिमा को सार्थक किया। वे वास्तव में वेदश्रीः थे अतः उनकी स्मृति में प्रकाशित इस श्रद्धागुच्छ का नाम भी मुझे 'वेदश्रीः' उपयुक्त जान पड़ा। पुस्तक, श्रद्धेय स्वामी जी के भव्य किन्तु अनुकरणीय चरित के प्रकाशन में सहायक सिद्ध होगी तथा सुधीजनों के ज्ञान की वृद्धि में लाभकारी, ऐसी विश्वासमयी विनत निवेदना के साथ पुस्तक आपके करकमलों में है ।

ग्रन्थ का प्रकाशन सहज कार्य नहीं था । मुझे इस कार्य में महाविद्यालय के तत्कालीन प्रधान एवं वर्तमान प्रबन्धक **श्री राजेन्द्र नारायण गुप्त**, पूर्व प्रबन्धक **श्री मूलचन्द अवस्थी**, प्रधान **श्री लालबहादुर शर्मा, 'शास्त्री'** प्राचार्या **डॉ० कोमल भटनागर**, प्रबन्धकर्तृ

समिति के सम्मानित सदस्यों, गुरुजनों एवं मित्रों से निरन्तर सहायता एवं प्रोत्साहन मिला है। परामर्शदातृसमिति के विज्ञ सदस्यों के अनुभव एवं सलाह का मैंने अधिकाधिक उपयोग कर समस्याओं के समाधान खोजे हैं। पूज्यपाद स्वामी जी के प्रति श्रद्धानुराग का अनौपचारिक प्रदर्शन करने वाले इन सभी महानुभावों के प्रति मैं 'जयतु' शब्द का पुनः पुनः उद्घोष करती हूँ। सम्पादन कार्य में मेरी सहयोगिनी **डॉ० ममता गुप्ता,** अँग्रेजी विभाग से प्राप्त महत्त्वपूर्ण सहयोग के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। धन की चिन्ता भी लघु नहीं थी, देश-विदेश के स्वनामधन्य दानी महानुभावों विशेष रूप से **डॉ० राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी,** महामहिम राज्यपाल, पाण्डिचेरी, **श्री मोहन लाल मोहित,** मॉरीशस; **श्री वाई० पी० वार्षनी,** कनाडा; **श्री रामनाथ सहगल,** महामन्त्री आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, दिल्ली; **श्री सत्यानन्द आर्य,** महामन्त्री, द इन्टरनेशनल दयानन्द वेदपीठ, दिल्ली; **महाशय धर्मपाल जी,** दिल्ली; **श्री एम० एल० जायसवाल,** प्रधान आर्य समाज कटरा इलाहाबाद, **श्री राधे मोहन,** उप प्रबन्धक आर्य कन्या डिग्री कालेज इलाहाबाद आदि ने धन-दान देकर ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य को सरल कर दिया। इस अपरोक्ष सहयोग के लिए उदारचेता उन व्यक्तियों को मेरा तथा आर्यपरिवार का शतशः धन्यवाद।

स्वामी जी ने भारतीय साहित्य और समाज के पल्लवन के लिए जितना अधिक श्रम किया था उसकी तुलना में मेरा यह कार्य नगण्य है तथापि यह पत्राञ्जलि उस अशरीरी महात्मा की स्मृति को स्थायी करेगा, ऐसे आश्वासन की आपसे आशा करती हूँ। अन्त में, समाज की सारस्वत प्रतिभाओं द्वारा सृजित इस सारस्वतोपायन को सरस्वती के समुपासक स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती के श्रीचरणों में समर्पित करती हूँ तथा परमपिता परमेश्वर से उनके यशः शरीर को आप्रलयान्त जीवित रखने की मङ्गलकामना करती हूँ।

जनवरी, १९९७

उर्मिला श्रीवास्तव

विषयानुक्रमणिका

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

(Reminiscences and Tributes)

1.	कर्मयोगी सत्यप्रकाश	प्रो० कैलाश नाथ सिंह	17
2.	स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती : श्रद्धास्पद मानव	डॉ० राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी	18
3.	क्या भूलूँ : क्या याद करूँ?	लाल बहादुर शर्मा	19
4.	स्वामी डॉ० सत्यप्रकाश : एक सार्थक जीवन	राजेन्द्र नारायण गुप्त	21
5.	अमृतपुत्र स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती	डॉ० कोमल भटनागर	22
6.	सत्यप्रकाशसुधियं सततं नतोऽहम्	अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र	24
7.	स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती : एक विलक्षण व्यक्तित्व	डॉ० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैया)	26
8.	स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती : एक प्रेरक व्यक्तित्व	पं० केशरी नाथ त्रिपाठी	28
9.	स्वामी सत्यप्रकाश : वेदों के महान् संदेशवाहक	मोहनलाल मोहित	30
10.	दिवंगत स्वामी सत्यप्रकाश जी एक महान् विभूति थे	रामनाथ सहगल	32
11.	वैभवे निःस्पृहेनापि, सम्प्राप्तं वै भवे पदम्	प्रो० प्रभाकर नारायण कवठेकर	35
12.	स्वामी सत्य प्रकाश : संस्मरण और साहित्य	डॉ० भवानी लाल भारतीय	36
13.	सत्य के लिए समर्पित व्यक्तित्व : स्वामी (डॉ०) सत्यप्रकाश सरस्वती	स्व० दरबारी लाल	41
14.	अनूठा व्यक्तित्व	गजानन्द आर्य	43
15.	शताब्दी के महानतम वैज्ञानिक एवं विद्वान् : स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती	डॉ० आनन्द प्रकाश	45

16.	डॉ० सत्यप्रकाश से स्वामी सत्यप्रकाशानन्द तक की जीवन यात्रा	डॉ० जगदीश गुप्त	47
17.	विजयते सत्यप्रकाशो यतिः	पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	50
18.	सत्य की खोज में प्रदीप्त प्रकाश पुञ्ज	प्रेम शंकर गुप्त	52
19.	स्वामी सत्यप्रकाश : कुछ मीठी यादें	फादर धीरानन्द भट्ट	55
20.	विद्या-अविद्या	डॉ० देवेन्द्र शर्मा	59
21.	श्रद्धेय स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती : एक अप्रतिम व्यक्तित्व	डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ	61
22.	सत्यप्रकाश-स्मृतिः	डॉ० हरिदत्त शर्मा	65
23.	कला साहित्य और विज्ञान की त्रिवेणी	प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'	67
24.	स्वामी सत्यप्रकाश जी एवं आर्यसमाज कटरा	एम० एल० जायसवाल	72
25.	विज्ञान एवं संस्कृति की महान् विभूति : स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती	राधे मोहन	74
26.	स्वामी सत्यप्रकाश : कुछ संस्मरण	ब्रह्म दत्त दीक्षित	76
27.	महान् वैज्ञानिक तपस्वी : स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती	डॉ० दर्शनानन्द	77
28.	स्मृतिशेष स्वामी सत्य प्रकाश	स्व० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी	80
29.	स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती से एक अभूतपूर्व संवाद	स्वामी रवीन्द्र सत्यार्थी	81
30.	श्रद्धाप्रणामाञ्जलिः	डॉ० जनार्दन प्रसाद पाण्डेय ''मणि''	83
31.	स्वामी सत्यप्रकाश की जीवन दृष्टि	डॉ० उषा सक्सेना 'माधवी'	85
32.	कृतित्व के धनी पूज्य स्वामी सत्यप्रकाश	डॉ० शिवगोपाल मिश्र	89
33.	'भारत की सम्पदा-वैज्ञानिक विश्वकोश' के प्रमुख सम्पादक : स्वामी (डॉ०) सत्यप्रकाश सरस्वती	डॉ० तुरशन पाल पाठक	94
34.	डॉ० सत्यप्रकाश द्वारा रचित रहस्यवादी काव्य	डॉ० भवानी लाल भारतीय	97
35.	Swāmijī and Poetry	Dr. Mamta Gupta	100
36.	वैज्ञानिक परिव्राजक	डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव	103

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज
(Ārya Samāja and its Founder)

37.	स्वामी दयानन्द, आर्यसमाज और भारतीय जागरण	नारायण दत्त	107

38.	महर्षि दयानन्द और उनका पुरुषार्थ दर्शन	प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'	113
39.	महर्षि दयानन्द का जीवन-दर्शन एवं योगदान	डॉ० किरण टण्डन	116
40.	महर्षि दयानन्द तथा युवावर्ग	डॉ० शान्ति देवबाला	123
41.	जागरण युग के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द	डॉ० सुरेश व्रत राय	126

वेद एवं वैदिक वाङ्मय
(Vedic Studies)

40.	A Glimpse of Musical Instruments In Rgveda	Dr. Sushma Kulshreshtha	135
43.	Hymn to 'Sraddhā' (Rv.10.141)	Dr. S.G. Kantawala	140
44.	अइर्यनम् वएज़ह् का त्रिधा विस्तार और उपलप्रपात	डॉ० हरि शंकर त्रिपाठी	143
45.	यजुर्वेद में यज्ञों की अवधारणा	पं० मूलचन्द अवस्थी	149
46.	सामवेद के विषय में कुछ प्रचलित भ्रम और उनका निवारण	डॉ० ओम प्रकाश पाण्डेय	153
47.	अथर्ववेद (कुछ स्फुट विचार)	आचार्य प्रभुदयालु अग्निहोत्री	156
48.	अथर्ववेद में द्यावापृथिवी की अवधारणा समष्टितत्त्व के रूप में	डॉ० शशि तिवारी	161
49.	वैदिक कुन्तापसूक्त : एक परिचय	डॉ० राजेश मिश्रा	166
50.	वेदों का रचना-काल	डॉ० बी० एन० पाण्डेय	168
51.	वैदिक देवमण्डल का उद्भव और परवर्ती विकास : एक विहंगम दृष्टि	डॉ० गयाचरण त्रिपाठी	174
52.	अथाह ज्ञान के सागर वेद	स्व० डॉ० प्रज्ञा देवी	182
53.	भारतीय नाट्य-परम्परा के आदि-स्रोत : वेद	डॉ० चन्द्रकान्त शुक्ल	185
54.	वैदिकः सोमस्तत्स्वरूपं च	डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री	189
55.	वैदिक स्वरों के उच्चारण में हस्तचालन की उपयोगिता	डॉ० चिरञ्जीवि शर्मा	196
56.	वैदिक कृषि-उपकरण एवं तकनीक	डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव	201
57.	वेदकालिक आर्थिक जीवन : एक दृष्टि	डॉ० श्याम कुमारी (श्यामा)	205
58.	वैदिक विज्ञान	डॉ० रघुवीर वेदालंकार	211
59.	Vedas and Itihāsapurāṇas	Dr. N. Gangadharan	216
60.	Himālayan Environment in Vedic Age	Dr. Rajendra Mishra	220

61.	Sacrifice and Environment in Vedic Literature	Dr. Yajan Veer Dahiya	225
62.	Environmental Consciousness in Ancient India	Dr. D.P. Dubey	229
63.	यज्ञ एवं पर्यावरण	डॉ० दुर्गा प्रसाद मिश्र	234
64.	The Prāṇa-tattva in the Ṛgvedic Upaniṣads	Dr. M.I. Khan	238
65.	उपनिषदों में ओङ्कार	डॉ० वेदवती वैदिक	241
66.	नैतिक शिक्षा का स्वरूप एवं महत्त्व (उपनिषदों के आधार पर)	डॉ० शशिप्रभा कुमार	249
67.	On Gārgī and Maitreyī	Dr. G.U. Thite	255
68.	वेद-संरक्षण में अनुक्रमणियों की भूमिका	डॉ० माया मालवीय	257
69.	वेदार्थपारिजातकारकृतस्य श्रीजिज्ञासुमतसमीक्षणस्य समीक्षणम्	डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा	260
70.	अद्वैतवाद	स्वामी विद्यानन्द सरस्वती	264
71.	A Note on Ākāśādhikaraṇa in the Light of Bhāmatī	Dr. S. Ranganath	268
72.	पाणिनीय धात्वधिकार के रहस्य	डॉ० पुष्पा दीक्षित	270
73.	''तुल्यास्यप्रयत्नम्'' एक समीक्षा	डॉ० वी० के० सिंह	275
74.	The words (nouns) which differ with the meaning of their roots	Dr. Goparāju Rāmā	280
75.	पाणिनि की वर्णमालाएँ	डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव	283
	वंश वृक्ष		293
	Contributers		295

प्रथम खण्ड

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

(Reminiscences and Tributes)

कर्मयोगी सत्यप्रकाश

प्रो० कैलाश नाथ सिंह

परम पिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा से इस पवित्र भारत-वसुन्धरा पर समय-समय पर अनेक महान् पुरुषों ने जन्म लेकर अज्ञान, अविद्या और कुरीतियों को दूर करके मानवता का असीम कल्याण किया है । इस युग के महान् सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जो ज्ञान की ज्योति जलाई थी उसी ज्योति के संवाहक, वेदों के उद्भट विद्वान, अनेक ग्रन्थों के रचयिता, देश-विदेश में वेद प्रचार की दुन्दुभि बजाने वाले इस प्रदेश के महान् गौरव, स्वामी सत्य प्रकाश जी सरस्वती थे । वे एक योग्य पिता की योग्य संतान थे और उन्होंने अपनी जीवन यात्रा में विज्ञान का अध्ययन और अध्यापन करने के साथ-साथ वैदिक धर्म के आयामों पर संस्थापित संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में अपने जीवन को समर्पित कर दिया था। वे इस प्रदेश की ही नहीं अपितु विश्व की महान् विभूतियों में गिने जाते हैं । उनके ग्रन्थों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनका ज्ञान कितना अगाध था, धर्म के विषय में उनकी मान्यताएँ कितनी गहन थीं। हिन्दी भाषा में साहित्य तो पर्याप्त लिखा गया है किन्तु हिन्दी भाषा को ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों से समृद्ध करने वालों में स्वामी जी प्रमुख थे । राष्ट्रभाषा हिन्दी की इस बहुमूल्य एवं ठोस सेवा के लिए स्वामी जी सदैव आदर पूर्वक स्मरणीय हैं।

स्वामी जी श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे । जीवन के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर वे मात्र लोकसंग्रह के लिए कर्म करते थे । उन्होंने स्वयं तो अध्ययन-अध्यापन, पठन-पाठन की पराकाष्ठा को प्राप्त किया ही था, असंख्य शिष्यों को भी इस दिशा में प्रेरित किया। सम्पूर्ण भारत तथा भारत के बाहर विश्व के अनेक देशों में उनके शिष्य सुप्रतिष्ठित हैं और अपने-अपने क्षेत्र विशेष में यश अर्जित कर रहे हैं।

स्वामी जी को संस्कृत ज्ञान अपने पिताश्री से विरासत में मिला था, वेद एवं वैदिक साहित्य के ज्ञान के प्रति उनकी लगन गहरी थी और उसके वे अच्छे ज्ञाता भी थे। किन्तु वे उन मनुष्यों में से नहीं थे जो ज्ञान की सीमा निर्धारित कर उससे सन्तुष्ट रहें। वे तो संस्कृत के अधिकाधिक ज्ञान के लिए सदा उत्सुक रहते थे । वैदिक साहित्य पर अनेक ग्रन्थ लिखने के साथ-साथ उन्होंने चारों वेदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद भी किया। यह एक श्रमसाध्य कार्य था, इस परिश्रम का उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा था और वे बीमार तथा दुर्बल हो गए थे।

जीवन और मृत्यु उस परम पिता परमात्मा का बनाया हुआ ही एक अटूट नियम है। यह बड़ी ही दुर्भाग्य की बात है कि वे गत १८ जनवरी, १९९५ को हमारे बीच से चले गये किन्तु किसी कवि की उक्ति में ''कीर्तिर्यस्य स जीवति'' वे अपने कृतित्व और व्यक्तित्व में सदा सर्वदा स्मरण किये जाते रहेंगे । आर्य समाज बड़ा गौरवशाली है कि उसे एक ऐसा उद्भट विद्वान्, मनीषी संन्यासी मिला जो वैज्ञानिक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा को उजागर करने के साथ ही आर्य समाज के गौरव को हिमालय की चोटियों तक पहुँचा सका। आज वे हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उनकी कर्मठता, जीवन के भोगों के प्रति उदासीनता तथा अध्ययन के प्रति निष्ठा सदैव हमारे लिए प्रेरणापुञ्ज बनेगी।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद उनकी पावन स्मृति में एक ''स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ'' प्रकाशित कर रहा है। मैं उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और मेरी परम पिता परमात्मा से यही प्रार्थना है कि ऐसी योग्य विद्वान् और महान् आत्माएँ पुनः आती रहें ताकि मानवता अपने कल्याण पथ से विमुख न हो सके।

प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, एवं पूर्व शिक्षा मंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती : श्रद्धास्पद मानव

डॉ० राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी

डॉ० सत्यप्रकाश जिन्होंने बाद में अपनी पत्नी के देहावसान के बाद उनके वियोग को सहन न कर सकने के कारण संन्यास ग्रहण कर आर्यसमाज के माध्यम से समाजसेवा का व्रत ले लिया, एक विलक्षण व्यक्ति थे। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग में अपनी एक अमिट छाप छोड़ी है। उनकी मृदुल वाणी, सज्जनता तथा गंभीर चिन्तन उनके व्यक्तित्व को निखारते थे।

उनकी अर्धांगिनी श्रीमती रत्नकुमारी जी हमारी आर्य कन्या इन्टर कालेज की प्रधानाचार्या थीं। इसलिये अक्सर ही डॉ० सत्यप्रकाश जी से भी मिलने का मौका मिलता रहता था । जब रत्नकुमारी जी को रक्तचाप की शिकायत रहने लगी उन दिनों वे बहुत चिन्तित रहते थे। एक बार कालेज में किसी प्रवचन के सिलसिले में उनका आना हुआ था । उन्होंने बहुत ही अच्छे ढंग से अपनी बात को रखा था, उसे हमने बहुत पसन्द किया था । बाद में चलते समय हम उन्हें नमस्कार करने गये तो अनायास ही बोले—''रत्नकुमारी को आराम की जरूरत है लेकिन आराम करती नहीं । आप लोग समझाइये ।'' उनकी बात से उनके मन की चिन्ता प्रकट हो रही थी । श्रीमती रत्नकुमारी जी का अचानक ही दिल का दौरा पड़ने से देहान्त हो गया- इससे डॉ० सत्यप्रकाश जी के जीवन में भी परिवर्तन आ गया और फिर वे गृहस्थ से संन्यासी बन गये।

कई वर्षों के बाद मैंने उनको गेरुआ वस्त्र में देखा, काफी दुबले हो गये थे। उसके उपरान्त कई बार कालेज में तथा आर्य-समाज की सभा में उनके प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । वे उच्चकोटि के विद्वान् और चिन्तक थे । उन्होंने एक आदर्शमय जीवन बिताया था इसलिये जो कुछ भी वे बोलते थे उसका प्रभाव लोगों पर पड़ता था । अपनी विराग की स्थिति में भी वे पूरी तरह मानवतावादी थे । समाज को अच्छे मनुष्यों की आवश्यकता है इसलिये उन्होंने देश के विभिन्न प्रदेशों में जाकर अपनी वाणी से मूल्यों के माध्यम से कार्य करने पर बल दिया था। स्वामी जी का वेदों पर गहन अध्ययन था। वे उनकी व्याख्या बड़े सरल शब्दों में अधिकाधिक रूप में करते थे। भाषा सरल होती थी और ऐसे सामयिक उदाहरण बोलते थे कि लोग मुग्ध होकर उनकी बातों को सुनते थे । उनकी विद्वत्ता का लाभ समाज ने उठाया, क्योंकि वे आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ प्राचीन को शीशे की तरह देख चुके थे।

मैं उनके व्यक्तित्व तथा विचारों से प्रभावित थी। ऐसे विद्वान् श्रद्धास्पद मानव को शत शत नमन !

महामहिम राज्यपाल, पाण्डिचेरी

क्या भूलूँ : क्या याद करूँ?

लाल बहादुर शर्मा

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री स्वामी सत्य प्रकाशानन्द जी महाराज का समग्र जीवन समूचे राष्ट्र के लिए अनुकरणीय रहा है। वे हमारे लिए एक आदर्श थे। मेरे लिए तो विशेष रूप से वे सदैव प्रेरणापुञ्ज रहे। उनका चिन्तन-मनन, अध्ययन-अध्यापन, बोलचाल, मधुर व्यवहार, हँसमुख स्वभाव सब कुछ विलक्षण था। स्मृतियाँ मानस पटल पर बरबस उभर आतीं हैं।

एक बार, आर्य समाज मिर्जापुर के वार्षिकोत्सव में पं प्रकाशवीर शास्त्री जा रहे हैं– ऐसा स्वामी जी को पता चला। स्वामी जी ने मुझे, श्री राधे मोहन जी, श्री विनय कुमार व डॉ० विमलेश जी आदि को बुलाकर कहा कि देखो पं प्रकाशवीर शास्त्री दिल्ली से मिर्जापुर अमुक तिथि को जा रहे हैं, गाड़ी इलाहाबाद जंक्शन पर रुकेगी ही– आप लोग एक ओ३म् का झण्डा लेकर स्टेशन पर पहुँच जाना। वे प्रायः प्रथम श्रेणी में यात्रा करते हैं। प्रथम श्रेणी डिब्बे के पास खड़े हो जाना, जैसे वे देखेंगे स्वयं अवश्य मिलेंगे। आप लोग इलाहाबाद की ओर से स्वागत कर देना। हम सभी लोग स्वामी जी सहित स्टेशन पर पहुँचे, बहुत खोज-बीन की लेकिन कहीं पता न चला और अन्त में हम लोग खोजते-खोजते एक ऐसे डिब्बे में जा पहुँचे जहाँ उषा आनन्द जी गाजियाबाद से मिर्जापुर जा रहीं थीं। स्वामी जी महाराज ने जैसे ही श्रीमती उषा आनन्द को देखा जोर से हँसने लगे और बोले देखो भाई प्रकाशवीर तो नहीं मिले लेकिन हमें जिनकी तलाश थी वह मिल गई। मुझे तो एक उषा चाहिए चाहे आनन्द हो और चाहे ज्योतिष्मती हो। हम लोग हँसते-हँसते लौट पड़े।

वर्ष १९७१ में जब डॉ० सत्य प्रकाश जी ने संन्यास की दीक्षा ली, उस समय गुरुकुल एटा के आचार्य श्रद्धेय श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज यज्ञ के ब्रह्मा, उद्‌गाता के रूप में मैं और होता के रूप में डॉ० आर्येन्द्र शर्मा थे। पूर्ण वैदिक रीत्यनुसार विज्ञान भवन में जिस तरह से डॉ० सत्य प्रकाश जी ने संन्यास की दीक्षा ली थी वह स्मृति आज भी मेरे मानस पटल पर अङ्कित है।

प्रयाग के आर्य समाजियों में विशेष रूप से आर्य समाज चौक के श्री राधेमोहन जी, डॉ० विमलेश, पं मूलचन्द अवस्थी, श्री राजेन्द्र नारायण गुप्त, श्री विनय कुमार जी, श्री सुरेन्द्र नाथ जायसवाल, डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव एवं उनकी पत्नी डॉ० (श्रीमती) उर्मिला श्रीवास्तव आदि एवं मुझे प्रायः चाहे छोटी गोष्ठी हो या कोई बड़ा कार्यक्रम अवश्य बुलाया करते थे। आज हम उन्हें विस्मृत नहीं कर पा रहे हैं। उनकी स्पष्टवादिता, मधुर मुस्कान, उदात्त मनोवृत्ति, सरल बोधगम्य भाषण शैली आज भी बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है।

आर्य-जगत् के विद्वानों, मनीषियों एवं स्वामी जी महाराज के भक्तों ने स्वामी जी की स्मृति को चिरस्थायी बनाए रखने के लिए स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का सुझाव दिया, जिसे प्रबन्ध समिति ने सहर्ष स्वीकार किया। विचार विमर्शोपरान्त यह निश्चय किया गया कि यह गुरुतर भार किसी ऐसे व्यक्ति पर डाला जाए जो विशृंखलित विचारों को एक सूत्र में आबद्ध कर ग्रन्थ का स्वरूप

प्रधान, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

प्रदान कर सके। दृष्टि विद्यालय में कार्यरत महान् विदुषी, संस्कृत विभाग की अध्यक्षा, डॉ० श्रीमती उर्मिला श्रीवास्तव पर गई और उन्हें यह कार्य सौंपा गया। डॉ० उर्मिला जी ने बड़ी निष्ठा, लगन एवं परिश्रम के साथ बृहद् स्मृति विशेषांक का सम्पादन किया जो कि निःसंदेह श्लाघनीय व स्तुत्य है।

सत्य कहा जाए तो बीसवीं सदी की आर्य सन्त परम्पराओं में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती सदैव स्मरणीय रहेंगे। अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विलक्षण व्यक्तित्व से उन्होंने समाज को जो योगदान दिया है उससे समाज निश्चित रूप से लाभान्वित होगा। आवश्यकता इस बात की है कि स्वामी जी के जीवन के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं से प्रेरणा लेकर आज की पीढ़ी उसे स्वयं में चरितार्थ करने का सङ्कल्प ले। उनके हृदय में प्रज्वलित पवित्र अग्नि के प्रकाश से स्वयं को आलोकित कर 'आत्मदीपो भव' की औपनिषदिक उक्ति को चरितार्थ करे।

स्वामी डॉ० सत्यप्रकाश : एक सार्थक जीवन

राजेन्द्र नारायण गुप्त

स्वामी (डॉ०) सत्यप्रकाश सरस्वती का स्मरण आते ही विज्ञानवेत्ता, वेद-वेदांग के विद्वान्, समालोचक और वैदिक साहित्य के वैज्ञानिक ज्ञान के प्रणेता तथा एक आदर्श आर्यसमाजी का ध्यान आ जाता है। जहाँ उनमें गाँधीवाद की सरलता व राष्ट्र प्रेम था वहीं एक विद्वान् आचार्य की गरिमा, मानवता के प्रति सहज स्नेह व प्रेम तथा अपनी समस्त सम्पत्ति समाज के कल्याणार्थ समर्पण— उनके त्यागमय व्यक्तित्व को बहु आयामी आभा से आलोकित करता है । उन्होंने अपनी बाल्यावस्था से महाप्रयाण तक आर्योचित मूल्यों एवं मान्यताओं की अपेक्षा के अनुरूप अपने जीवन को सार्थक किया।

स्व० स्वामी जी के इलाहाबाद विश्वविद्यालय के आचार्य जीवन व संन्यास जीवन की अनेक ऐसी घटनायें हैं जिन्हें आज की आधुनिक भौतिक जीवन प्रणाली के समानान्तर एक चुनौती ही कहा जायेगा । उनके अनेकानेक समकालीन महानुभाव उनकी विद्वत्ता, सादगी, सरलता एवं स्नेह के कारण उनके प्रति आदर का भाव रखते हैं।

हमारे और उनके परिवार के आर्यसमाज, प्रयाग के कार्यकलापों में निकटतम सहयोग के बावजूद उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय १६६५ के आसपास आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य होने के बाद हुआ । जन्मना आर्यसमाजी परिवार का सदस्य होने के नाते स्व० स्वामी जी के व्यक्तित्व व कर्तृत्व से परिचित होना स्वाभाविक ही था । यह अपने में एक श्रद्धावनत अनुभूति रही है जिसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति शायद संभव न हो सके।

उनकी महानता का आकलन उनके वास्तविक रूप में करने में मैं अपने को अक्षम मानता हूँ । आने वाली पीढ़ी उनके प्रति जिज्ञासु होगी तो आश्चर्यमिश्रित श्रद्धानुभूतियों से प्रेरित होकर उनके व्यक्तित्व व कर्तव्य से अभिभूत हो सकेगी, यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ।

डॉ० (स्वामी) सत्यप्रकाश सरस्वती आर्यसभ्यता एवं संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ स्वरूप हैं । उनके कार्य एवं उनके व्यवहार वास्तव में हमारी अक्षय निधि हैं, हमारी धरोहर हैं । हम इन्हें जितना संजो कर रख सकेंगे, अपने जीवन में व्यवहार कर सकेंगे, उतना भावी पीढ़ी का कल्याण करने में सक्षम हो सकेंगे, इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

महर्षि दयानन्द के आदर्शों की अलख जगाने वाले जो प्रथम पंक्ति की महान् विभूतियाँ आर्यसमाज ने देश को दीं उन्हीं के समकक्ष अपनी अलग आभा के साथ स्वामी सत्यप्रकाश आलोकित होते रहेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है । उनका नाम आर्यजगत् के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा, यह अटल सत्य है।

प्रबन्धक, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

अमृतपुत्र स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

डॉ० कोमल भटनागर

काल सापेक्ष जीवन का अन्त निश्चित है, विधि का विधान भी निश्चित है, अविश्रान्त श्रम ही इस विधान का प्रतिस्पर्धी है। स्वामी सत्यप्रकाश ने जीवन के इस तथ्य को भली-भाँति समझा था, जीवन की लयात्मकता के अन्तिम सप्तक में संन्यास स्वीकार करना इसी कर्मठता का प्रतीक है। युवावस्था के प्रारम्भ से मृत्यु पर्यन्त स्वामी जी विभिन्न कोणीय रचनात्मक कार्यों में व्याप्त रह साहित्य एवं विज्ञान को समृद्ध करते रहे। उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह स्फुट लेखों, अध्यक्षीय भाषणों, रेडियो वार्ताओं, पाठ्य पुस्तकों एवं मौलिक ग्रंथों के रूप में हिन्दी तथा अँग्रेजी दोनों ही भाषाओं में उपलब्ध है। आवश्यकता है उसके संकलन और विवेचन की। आर्यसमाज की सर्वोच्च शिक्षा संस्था होने के नाते आर्य कन्या डिग्री कालेज का यह नैतिक दायित्व था कि इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय ले। इस परिप्रेक्ष्य में स्वामी सत्यप्रकाश स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ-—**वेदश्री:** का प्रकाशन स्तुत्य प्रयास है।

भारत भूमि को गर्व से मंडित करने वाले ऋषि मुनियों की प्राचीन परंपराओं के अनुपालक स्वामी सत्यप्रकाश आर्य संन्यासी के रूप में विश्व में प्रतिष्ठित हैं। यह प्रयागवासियों का सौभाग्य था कि वे इस पावन भूमि से सम्पृक्त थे। गंगा की यह पवित्र मिट्टी उनके शान्त मन की, अक्लान्त कर्म की साक्षी है। आश्चर्य होता है उनकी अपूर्व बौद्धिक क्षमता पर जो या तो अनुपात में सामान्य से अधिक थी अथवा लगन की निरन्तरता से अधिक आभासित होती थी। वे कहते थे — 'संन्यास मेरे तई निष्क्रियता नहीं है। मैंने इस वेष को धारण करके जीवन का त्याग नहीं किया है। यह वेष तो अधिक कर्म का प्रतीक है। आज मेरे सभी कर्म लगभग निष्काम हैं, मैं धन और पद की कामना से ऊपर उठ चुका हूँ। निष्काम कर्म ही मेरा संन्यास है।'

स्वामी जी के प्रति मेरी श्रद्धा सदी के सातवें शतक में जागृत हुई जब आर्य कन्या डिग्री कालेज में अर्थशास्त्र की प्रवक्ता पद पर मेरी नियुक्ति हुई। प्राचार्या पद संभाल लेने पर यह संबंध और प्रगाढ़ हुआ। मैं उनके अपार स्नेह की पात्रा हुई। जन्म की क्रन्दन प्रक्रिया से लेकर संन्यास तक और संन्यास से निर्वाण तक उनका जीवन सादगी से पूर्ण था। इतना सादा कि उन्होंने अपने विवाह में शर्त रखी थी, मेरी पत्नी के पिता को विवाह में केवल एक माह का वेतन खर्च करना होगा इससे अधिक नहीं, और इसी शर्त पर उन्होंने विवाह किया भी। विचार इतने परिपक्व और आडम्बररहित कि सामने वाले को मोह लें, आत्मीय बना लें। मेरी उनसे प्रायः भेंट होती। बुलाने पर वह सहर्ष मेरे विद्यालय आते। आशीर्वाद की आकांक्षा होने पर मैं भी यज्ञादिक आयोजनों में विज्ञान परिषद् जाती और उस निर्लिप्त महापुरुष की सुखद छाँव में बैठ मानो स्वयं भी निर्लिप्त हो जाती। मुझे स्मरण है, अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ के तत्त्वावधान में आयोजित वेद संगोष्ठी, अत्यधिक अस्वस्थ होने पर भी वे उद्घाटन समारोह में आकर बैठे थे। सदैव शान्त सस्मित मुद्रा उनकी पहचान थी। जैसा मृदुल स्वभाव वैसा मृदुल हास। होठों पर सदैव हँसी विराजती, वचनों में हल्का सा परिहास भी रहता। असीम कष्ट में भी अविचलित, अपार दुःख में भी तटस्थ-संन्यास की कसौटी पर कञ्चन के समान खरे।

प्राचार्या, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

आज की पीढ़ी के लिये स्वामी जी का जीवन एक खुली हुई पुस्तक के समान है, आवश्यकता है उसमें से अपनी रुचि और स्वभाव के अनुरूप कुछ निकाल कर लाने की। उनके महाप्रयाण से हृदय कुछ रीता सा हो गया है, आकाश कुछ धुँधला सा हो गया है। युवा पीढ़ी ही इस रिक्तता को पूरित कर सकती है। जिस बिन्दु पर स्वामी जी ने विराम लिया है उस बिन्दु से कर्म की, धर्म की लम्बी लकीर खिंच सकती है। इसके लिये उसे स्वर का संधान स्वर से करना होगा। मनुष्यता की शक्ति को महाशक्ति से जोड़ना होगा और मनुष्यता की कमजोरी को उसी तरह पैरों तले रौंदना होगां जैसे हम वर्षा काल में धरती फोड़ कर उग आने वाले शिलीन्ध्र को निर्ममता पूर्वक रौंदते हैं। यह तभी संभव हो सकता है जब अगली पीढ़ी स्वामी जी के चरित्र के सार को गहेगी, उनसे स्वयं को जोड़कर स्वयं का मूल्यांकन करेगी।

स्वामी सत्यप्रकाश प्रखर प्रतिभावान् वैज्ञानिक थे, साहित्य के प्रति अभिरुचि सम्पन्न थे, धर्म के प्रति आस्थावान् थे। प्रगाढ़ चिन्तन ने उनके विचारों को मौलिकता प्रदान की थी। वे कहते थे —विज्ञान का धर्म से कोई विरोध नहीं जबकि धर्म विज्ञान के आड़े आता है। विचार सम्प्रेषण की कला में वे पटु थे इसलिये अपने भाषणों से श्रोता को मन्त्रमुग्ध कर लेते थे, विषय चाहे साहित्यिक हो अथवा सामाजिक, वैज्ञानिक हो अथवा धार्मिक। स्वामी सत्यप्रकाश कोमलकान्त भावुक कवि भी थे, भावनाओं का संग्रह 'प्रतिबिम्ब' इसका साक्षी है। स्वामी जी के व्यक्तित्व की विविधता का, कृतित्व की संचेतना का अध्ययन विज्ञान में अन्तर्लीन साहित्यिक चिन्तन के नए-नए आयाम उपस्थित करेगा। क्षितिज की रेखा पर वे ही तो सूर्यकिरण थे जिसने वेदों की ज्ञान गरिमा को ग्रहण करने की प्रबल इच्छा से उनका आकण्ठ आस्वादन किया था, हिन्दी भाषा के भाल को विज्ञान के तिलक से सजाया था।

मानव चेतना आस्था का चरम केन्द्र है। मानवीय प्रयासों की संहति, संस्कृति और सभ्यता की मर्मस्पर्शी उच्चता में दृष्टिगत होती है। उसी से निर्माण की अटूट श्रृंखला प्रारम्भ होती है। दर्शन संशय से प्रारम्भ होकर विज्ञान में तिरोहित हो जाता है। विज्ञान अपार शक्ति का भण्डार हो जाता है। यह संचयित राशि सामर्थ्यवान् तो है किन्तु नितान्त हृदयहीन। हृदय विहीन विज्ञान विध्वंसक नहीं तो और क्या होगा। संकलन ऐसा हो कि परिधि के केन्द्र में प्रच्छन्न हो अस्तित्व बोध। इसीलिए तो स्वामी जी ने विज्ञान को अध्ययन से जोड़ने की चेष्टा की थी। त्राहि-त्राहि के इस युग में ऐसे ही कल्याणकारी ज्ञान-विज्ञान की निकष पर कसे धर्म की आवश्यकता को सारा विश्व अनुभव कर रहा है। इस विश्वजनीन मानव धर्म के प्रेरणा स्रोत वेद हैं। वेद हमारे लिए इतिहास नहीं, समाजशास्त्र नहीं, अपितु जीवन को अनुप्राणित करने वाले, चेतना को संदीपित करने वाले अमृत कोष हैं—

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः
आ ये दामानि दिव्यानि तस्थुः

हे अमृत के पुत्रों! सुनो, हे दिव्यधामवासी देवगण! तुम भी सुनो। अज्ञान अंधकार और माया के परे उस परम पुरष को जानकर ही तुम मृत्यु के चक्र से छूट सकते हो, दूसरा कोई रास्ता नहीं।

जीवन पानी का बुलबुला है, सुबह के तारे के समान वह झट छिप जाएगा यदि कुछ शेष रह जाएगा तो वह है मनुष्य का कर्म। कर्म सौन्दर्य से मनुष्य की सुन्दरता की विलक्षणता आभासित होती है, स्मृतियाँ चिरन्तन शाश्वत होती हैं। स्वामी सत्यप्रकाश के जीवन संगीत का आरोह इसी लयात्मकता पर आधृत था। संन्यास व्यक्ति को सामान्य से ऊपर तो उठाता है किन्तु ईश्वर नहीं बना देता तथापि स्वयं को तुच्छ और अपूर्ण मानते हुए भी उन्होंने कभी भी असफल नहीं माना। उनके महाप्रयाण के पश्चात् रुदन उनका स्थानापन्न नहीं हो सकता, शब्दों की सीमा रेखा में उनके जीवन को बाँध पाना भी संभव नहीं हो सकता। नमन करती हूँ उस ऊर्जस्विता, मनस्विता को स्वामी विवेकानन्द की इस पंक्ति से—

Awake, arise and dream no more.

सत्यप्रकाशसुधियं सततं नतोऽहम् !!

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः

नित्यप्रसन्नमुखवारिजसौम्यशोभं
विद्यावदातहृदयं विनयप्ररोहम् ।
हैयङ्गवीनमसृणान्तरभूरिभावं
सत्यप्रकाशमनिशं बुधमानतोऽस्मि ।।१

विज्ञानसिन्धुजलवक्षसि पोतकल्पं
साहित्यपुष्करतटोद्गतपद्मकुञ्जम् ।
दोधूयमानभरताऽवनिकान्तकेतुं
सत्यप्रकाशसुधियं सततं नतोऽहम् ।।२

सेवानिवृत्त्यवधिनैकसहस्रयूनो
ज्ञानप्रदीपशिखया विदधे प्रबुद्धान् ।
भेजे सुदुर्लभयशोऽपि महर्षिकल्पो
वन्दे महायतिवरं तमहं दिविस्थम् ।।३

त्रय्यां यदीयधिषणा रमते स्म नित्यं
गम्भीरशास्त्रविषयांश्च भृशं जगाहे ।
सद्धर्मभास्वदुदयाञ्चितचक्रवाकं
तं नौमि सम्प्रति कृताऽमरसौधवासम् ।।४

आर्यं समग्रजगदेव विधातुकामो
नित्यं चचार भुवि यो हि यतीन्द्रवृत्तिः ।
त्यागेन सन्ततमभक्त सुखोपभोगं
सत्यं तमार्यचरितं नितरां नतोऽहम् ।।५

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला, हिमाचल प्रदेश

वैशारदी सदसि यस्य शतप्ररोहा
नित्यञ्चकार विदुषां प्रचितप्रमोदम् ।
कृतव्यथाश्च परिहासकथाः सखीनां
सर्वाऽनुरञ्जनकरं तमहं नमामि ।।६

भूयः प्रयागपरिषत्सु पुरा तदीयं
मानार्हसङ्गतिसुखं समवाप्य सिद्धः ।
मिश्रोऽभिराजपदभागधुना गुरुं तं
प्रीत्या समर्चति गुणैस्सुसमर्चनीयम् ।।७

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रो देववाणीसमर्थकः ।
विश्वविद्यालये रम्ये शिमलायां प्रतिष्ठितः ।।८

स्वामिसत्यप्रकाशानां गतो वात्सल्यपात्रताम् ।
यशःशेषमथ स्तौति साम्प्रतं सुरसन्निभम् ।।९

स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती

एक विलक्षण व्यक्तित्व

डॉ० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैया)

पूज्य स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती जो पूर्व आश्रम में डॉ० सत्यप्रकाश के नाम से विख्यात थे, प्रयाग विश्वविद्यालय में रसायन-शास्त्र पढ़ाते थे। मेरा उनसे प्रथम सम्पर्क १६३६ में आज से ५६ वर्ष पूर्व हुआ जब वे प्रवक्ता थे और रसायन प्रयोगशाला में हमारा मार्गदर्शन करते थे। आज के बड़े प्रसिद्ध व्यक्तित्व उस कमरे में साथ-साथ काम करते थे । स्व० डॉ० हरिश्चन्द्र जो Princeton में गणित के प्राध्यापक रहे, डॉ० दयाशंकर (राजर्षि टण्डन के सुपुत्र), डॉ० रामचरण मेहरोत्रा (प्रयाग और दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति), डॉ० चन्द्रिका प्रसाद (प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय) आदि ३२ विद्यार्थी उस कक्षा में थे । डॉ० साहब हमारे प्रयोगों में मार्गदर्शक थे । खद्दर की धोती-कुर्ता, उसी की टोपी, भारी शरीर और मुख पर खेलती मुस्कान। सभी को वे नाम से पुकारते और पीठ पर हाथ रख पुत्रवत् स्नेह से पूछते ''कहो राजेन्द्र कैसा प्रयोग चल रहा है ? उनके प्रयोगशाला के चक्कर में यही प्रश्न रहता था। हमें कोई कठिनाई हो तो उनसे पूछ लेते थे।

हम लोग डॉ० साहब के घर भी जाते थे— होली, दिवाली पर उनकी श्रीमती जी हम सभी को स्नेहपूर्वक खिलातीं। उनके पिता आर्य समाज के प्रसिद्ध प्रचारक रहे थे । घर पर डॉ० साहब नंगे बदन रहते थे । उन्होंने शीत सहने का अभ्यास किया था। रात में कभी कम्बल रजाई नहीं लेते और सर्दियों में कोई गर्म कपड़ा नहीं पहनते थे । घर साक्षात् सादगी का स्वरूप था। कमरे में तख्त, ऊपर गद्दे और खादी की चादर । डॉ० साहब को अपने प्राचीन साहित्य का भी बहुत गहन ज्ञान था । डॉ० साहब उस समय ३३-३४ वर्ष के रहे होंगे । बी०एस-सी० के रसायन प्रायोगिक परीक्षा में मुझे ४८।५० मिले जबकि मैं थोड़ी लापरवाही से प्रयोग करता था और दयासागर जो बहुत सावधानी बरतता था केवल १७।५०। मैंने डाक्टर साहब से इसके विषय में पूछा तो कहने लगे कि बहुत सावधानी से मनुष्य से अधिक भूल हो जाती है, स्वाभाविक रहना चाहिए। डॉ० साहब ने स्वयं बी०एस-सी० कक्षाओं के लिए रसायनशास्त्र का एक ग्रन्थ लिखा था।

डॉ० साहब ने एम०एस-सी० की उपाधि १६२७ में ली । उसके बाद अपने शोध कार्य को पूर्ण कर १६३० में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की । एक कांग्रेसी होने के नाते उन्होंने अपने आपको १६३० के सत्याग्रह के लिए प्रस्तुत किया। उनको उत्तर मिला कि अब कोई आवश्यकता नहीं है तो वे लौट आए और उन्हें रसायन-विभाग में डेमॉन्स्ट्रेटर का काम लिया । प्रत्यक्ष कोई कक्षा तो उन्होंने हमारी नहीं ली, पर अपने विषय पर अधिकार और वक्तव्य में ओज था । मैंने बी०एस-सी० के पश्चात् भौतिकशास्त्र विषय को एम०एस-सी० के लिए चुना । पारंगत होने पर प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रवक्ता का स्थान मिल गया।

१६४२ के आन्दोलन में विश्वविद्यालय से दो प्राध्यापक डॉ० साहब और विधि विभाग के के०के० भट्टाचार्य थोड़े काल के लिए निरुद्ध किए गये थे । जब मैं १६४८ में एक बार ५ महीने के लिए निरुद्ध और एक बार सत्याग्रह कर ६ महीने कारावास में रहा तो दोनों प्राध्यापकों का उदाहरण दे मैंने सरकार को लिखा कि विश्वविद्यालय स्वतंत्र विचारों का स्थान है और उसमें सरकार से सहमति आवश्यक नहीं है।

सर संघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, नागपुर

संघ कार्य पर डॉ० साहब का असीम प्रेम था । वे कहा करते थे कि धार्मिक दृष्टि से मैं आर्य समाजी, सांस्कृतिक दृष्टि से संघ का स्वयंसेवक और राजनैतिक दृष्टि से कांग्रेसी हूँ । वे कई उत्सवों में अध्यक्ष होकर गए और जब भी श्रीगुरुजी संघ के सरसंघचालक प्रयाग आते थे तो उनसे मिलने अवश्य आते।

१९६० के लगभग डॉ० साहब रसायन-विभाग के अध्यक्ष हो गए। मैं भी उस समय भौतिक विभाग का कार्याध्यक्ष हो गया। अनेक बैठकों में साथ होता था। मैंने १९६६ में विश्वविद्यालय छोड़ दिया और लगभग उसी समय डॉ० साहब ने भी विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त किया। मैं तो लखनऊ केन्द्र से काम रहता था, प्रयाग कम आता था फिर भी अपने सहयोगी डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से जो रसायन शास्त्र विभाग में थे जानकारी मिलती रहती थी । एक बार अचानक समाचार मिला कि डॉ० साहब ने संन्यास ग्रहण कर लिया है। वे आर्यसमाज कटरा में ठहरते थे। मुझे उन्होंने एक बार कहा कि पुराने संन्यासी केवल ज्ञान की साधना करते थे। मैं अभी विज्ञान की भी करता हूँ। उस समय भी कुछ शोधकर्ताओं का वे मार्गदर्शन करते थे। मुझे उन्होंने एक बार कहा, अपने पुराने शास्त्रों में, संन्यासियों के लिये भिक्षावृत्ति बताई गई है। पर मुझे यह एक बदलाव संन्यासी जीवन में करना पड़ा है । कोई यदि मुझे भोजन पर बुलाये तो मैं चला जाता हूँ। पर भिक्षा के लिए घूमना मेरे लिए सम्भव नहीं है । वैसे वृत्ति से वे पूर्ण संन्यासी थे । एक बार एक प्रकाशन के प्रमुख जिन्होंने स्वामी जी की कई किताबें छापी थीं वे उन्हें प्रकाशन का ब्यौरा और हिसाब-किताब समझाने के लिए आये। थोड़ी देर डॉ० साहब ने उनकी बात सुनी और पूछा आप किससे बात कर रहे हैं ? उनके कहने पर कि डॉ० सत्यप्रकाश से, उन्होंने हँसते हुए कहा कि सत्यप्रकाश तो मर गया । यह तो स्वामी सत्यप्रकाशानन्द है जिसका इस हिसाब से कोई मतलब नहीं। मुझसे परामर्श लेने की भी आवश्यकता नहीं। जो तुम्हारी इच्छा हो करो। घर की व्यवस्था करके मनुष्य संन्यासी नहीं बनता । जिस दिन विरक्ति का भाव आये उस दिन उठकर चल देना चाहिए, यह उनका भाव था।

संन्यासी के रूप में जब वे केनिया के दौरे पर गये तो मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे हमारी भारतीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं पर भी कार्यक्रम लें । उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार किया । लौटने पर जब मैंने उनसे समाचार पूछें तो उन्होंने कहा—कार्यक्रम अच्छे हुए परन्तु प्रातःकाल जो चेहरे यज्ञ और हवन के समय दिखते थे लगभग वहीं सायंकाल शाखा के स्वयंसेवकों के रूप में दिखते थे । अर्थात् संघ और आर्यसमाज दोनों में कार्य करने वाले बन्धु लगभग एक ही थे। विदेशों में वे आर्यसमाज के लिए अनेक बार गये । संभवतः आर्य जगत् में उन जैसा विद्वान् शायद ही कोई हो।

उनसे अन्तिम भेंट दिल्ली में बद्रीप्रसाद तोषणीवाल जो विहिप के उपाध्यक्ष थे, उनके घर हुई। बद्रीप्रसाद ने उस समय डॉ० कोठारी, स्वामीजी, धर्मवीरजी, डॉ० अजितराम वर्मा, डॉ० देवेन्द्र शर्मा और मुझे बुलाया हुआ था । बद्रीप्रसादजी के बड़े भाई डॉ० गोविन्दराम तोषणीवाल, जो कि हमारे गुरु थे, उस दिन उपस्थित थे । लगभग १५ वर्ष के अन्तर से दो पीढ़ियाँ उस दिन प्रयाग विश्वविद्यालय की पुरानी यादों में डूबी रहीं और हम लोग जो अपने आप को वरिष्ठ समझने लगे थे, स्मरण हो आया कि अभी हमारे गुरुजन सक्रिय हैं और हम उनकी तुलना में छोटे हैं।

स्वामीजी के व्याख्यान बहुत सरल होते थे । विद्यार्थियों के कार्यक्रम में उन्होंने सबको समझाया था कि ईसाई और इस्लाम धर्म के सृष्टि रचना की प्रक्रिया के निकट न होने के कारण विज्ञान से उनकी टकराहट होती है । परन्तु हमारे धर्म में जिसमें विज्ञान के लिए कुछ स्थान है, टकराहट नहीं होती।

वेद कठिन होते हैं, यह जब मैंने उनसे कहा तो हँसते हुए उन्होंने कहा, वे कठिन नहीं होते। लोगों ने उन्हें कठिन बताया है । कितने सरल मंत्र होते हैं बताते हुए उन्होंने कहा— ओम् विश्वानि देव (ओ ! विश्व के देवता) दुरितानि परासुव (खराब वस्तुओं को हमसे दूर करो) यद् भद्रं तन्न आसुव (जो अच्छा है उसे हमारे पास आने दो) क्या इससे भी सरल कोई बात हो सकती है? स्वामीजी के देह छोड़ने का समाचार जब मुझे मिला तो मुझे ऐसा लगा कि मेरे गुरु ही नहीं एक अपने घर के वरिष्ठ व्यक्ति जीवन में से चले गये।

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती : एक प्रेरक व्यक्तित्व

पं० केशरी नाथ त्रिपाठी

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती सरल हँसमुख और मिलनसार । स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती इलाहाबाद विश्वविद्यालय में डिमाँस्ट्रेटर, प्राध्यापक, विभागाध्यक्ष और संन्यासी किन्तु क्या यह उनका पूर्ण परिचय है, कदापि नहीं । यह तो उनके कर्मठ जीवन का क्षणांश भी नहीं, उन्होंने तो जीवन के हर पल को जिया है, जिया है माने सार्थक किया है । जिस क्षेत्र में उतरे, गहरे पानी पैठे । अध्ययन किया तो पूर्ण मनोयोग से, अध्यापन किया पूर्ण निष्ठा के साथ, संन्यस्त जीवन व्यतीत किया पूर्ण परित्याग भावना के साथ । एक बार लेखन कार्य शुरु हो गया तो जीवन के अन्तिम छोर तक लिखते ही गए। जितना कुछ स्तरीय लिखा जा सकता था लिखा।

स्वामी जी संस्कृत और संस्कृति के अनन्य भक्त थे । विज्ञान के अध्येता के लिए यह आश्चर्य की बात है कि उसकी संस्कृत भाषा और साहित्य में इतनी रुचि हो । मूलतः वे रसायनविज्ञानी थे तथापि अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को संस्कृत पढ़ने का साधिकार निर्देश देते थे। उन्होंने विज्ञान पर अनेक पुस्तकें लिखीं, यह हर्ष की बात है, उससे भी अधिक हर्ष की बात है कि उन्होंने विज्ञान की पुस्तकें हिन्दी भाषा में लिखीं और इस प्रकार हिन्दी के प्रचार-प्रसार में जो योगदान दे सकते थे, दिया । उनका यह हिन्दी प्रेम हम सबके लिए प्रेरणा का विषय है। अनेक ग्रन्थों के स्तरीय लेखन के साथ-साथ चारों वेदों के अँग्रेजी अनुवाद का जो अध्यवसायपूर्ण कार्य उन्होंने किया है वह उनकी समाज को एक अपूर्व देन है।

आज जब स्वामी जी के विषय में कुछ भूली-बिसरी बातें याद कर लिखने बैठा हूँ तो स्मृतियों के पर्त मानो स्वयं सायास आगे आ रहे हैं—

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती से मेरा परिचय लगभग पचीस वर्ष पुराना है । मैं कला का विद्यार्थी था । अतः विश्वविद्यालय-काल में उनके विशेष सम्पर्क में नहीं रहा। किन्तु स्वामीजी को छात्रों से इतना लगाव था कि वे लगभग सभी को वैयक्तिक रूप से पहचानते थे, यहाँ तक कि मुझे भी । स्वामी जी से संसर्ग का अवसर मुझे एक दो उत्सवों में मिला । विशेषकर विज्ञान परिषद् से संन्यास ग्रहण करने के उपरान्त जाते समय उनका एक छोटा सा आयोजन मैंने देखा था । देखा ही नहीं उसमें मैं पूर्णतः सम्मिलित भी हुआ था । समग्रतः स्वामीजी के व्यक्तित्व की कुछ व्यावहारिक विशिष्टताएँ आज भी मुझे प्रेरणा देती हैं।

एक बात विशेष जो मैंने देखी वह यह थी कि प्रश्न पर प्रश्न होने पर भी वे विचलित नहीं होते थे, सम्भवतः यह उनकी गहन ज्ञान गम्भीरता थी। उनके प्रत्येक उत्तर में तर्क रहता था। वे तर्क को आध्यात्मिकता के साथ सरलता की कसौटी पर कस लेते थे। अतः सामान्य व्यक्ति भी उनके तर्क को ग्रहण कर लेता था।

अध्यक्ष, विधान सभा, उत्तर प्रदेश (भू० पू०) एवं वरिष्ठ अधिवक्ता, उच्च न्यायालय

जीवन में एक स्थिति ऐसी आती है जब मनुष्य को उसका अभीष्ट मिल चुका होता है। स्वामीजी के जीवन में जब वे क्षण आए जब उपलब्धियाँ उन्हें वरने के लिये तत्पर थीं, तब उन्होंने सब कुछ त्याग दिया । उस समय सब कुछ छोड़ देना साहस का काम था, इस दृष्टि से वे मानो असाधारण थे।

उनका संन्यास स्वार्थ के लिये नहीं परार्थ के लिये था । जन-सामान्य ने उनके संन्यासी-जीवन से अधिकाधिक लाभ उठाया। प्रत्येक व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आता था, उनसे अपनत्व पाता था । उसे लगता था कि मानों वे अपना सारा स्नेह उसे ही दे रहे हैं । वे ही उसके सबसे अधिक निकटस्थ हैं। शायद यह उनकी सहजता और निश्छलता का परिणाम था।

स्वामीजी ने एक दिन संन्यास लेकर असार संसार से विदा ली थी, उनकी मृत्यु ने आकर मानों इस विदा पर पक्की मोहर लगा दी। वे संन्यास लेकर संसार से भागे थे जीवन से नहीं। जीवन के तो प्रत्येक क्षण का उन्होंने सदुपयोग किया । वे कहते भी थे अथर्ववेद भाष्य का कार्य पूरा हो जाए, ईश्वर मुझे तब बुलाए और यही हुआ भी, ईश्वर ने उन्हें इतनी शक्ति व समय दिया कि वे अथर्ववेद निबटाने के बाद ही मृत्यु को प्राप्त हुए । सम्भवतः यही है इच्छामृत्यु जो हमें तो भीतर तक दहला गई किन्तु उस महान् आत्मा को केवल चोला मात्र बदलने के लिए अपने साथ ले गई।

स्वामी सत्यप्रकाश : वेदों के महान् संदेशवाहक

मोहनलाल मोहित

संसार विचित्र पुरुषों से परिपूर्ण है । यहाँ लाखों-करोड़ों ऐसे जन जन्मते हैं, जो अपनी आसुरी प्रवृत्ति के कारण अपना सर्वनाश कर बैठते हैं । अनगिनत लोग ऐसे होते हैं जो स्वार्थ-जाल में फँसे, स्वहित के अतिरिक्त कुछ और देख पाते ही नहीं । इस धरा-धाम पर ऐसे भी नर-रत्न दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका प्रतिपल परोपकार में ही व्यतीत होता है। पूज्य स्वामी सत्यप्रकाश जी महाराज ऐसे ही महामना थे, जिन्होंने अपनी हर साँस को परहित में, सत्य प्रकाशित करने में ही खपा दिया।

सन् १९६६ की बात है । विज्ञान-विशारद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उपकुलपति, प्रोफेसर सत्यप्रकाश जी वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करके दक्षिण अफ्रीका जा रहे थे। उनका वायुयान मॉरीशस रुका और वे दो दिनों तक मेरे अतिथि रहे । मुझे उनके सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके सादा भेस, सरल स्वभाव, विमल विचार, अपार विद्वता, समाजसेवा के उदार दृष्टिकोण, वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में समर्पित जीवन ने मुझे उनके स्वर्गीय पिताश्री विद्वद्वर गंगा प्रसाद जी उपाध्याय का स्मरण दिला दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि वानप्रस्थी सत्यप्रकाश जी की समाज-सेवा की अनुपम निष्ठा एवं लगनशीलता से मैं अत्यन्त ही प्रभावित हुआ । आपने अपने पिताश्री के पथ का अनुसरण करके एक सुपुत्र का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित कर दिया।

महाराज अशोक के पुत्र, महेन्द्र ने बौद्ध मत का प्रचार-प्रसार देश-देशान्तरों में किया था । युवा बैरिस्टर मोहनदास कर्मचन्द गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में रंग-भेद नीति का जोरदार विरोध किया था । उसी देश में, जहाँ सदियों से गोरे-कालों के बीच नफरत की आँधी चलती रही है, पूज्य स्वामी सत्यप्रकाश जी ने वेदों का डंका अनेक बार बजाया। अहिन्दी भाषियों ने आपके वैदिक संदेशों को अंग्रेजी के माध्यम से सुनकर आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। आपने अशोक-पुत्र, महेन्द्र की ही भाँति विदेशों में अपने धर्मोपदेशों द्वारा अधर्म के ताप से विदग्ध मानवों को आत्मिक शांति प्रदान की । आपकी गम्भीरता, सहनशीलता एवं त्याग ने बहुतों के दिलों में आपके लिए अमिट स्थान बना लिया।

स्वामी सत्यप्रकाश जी महाराज बड़े उदारचेता थे । मॉरीशस में आपने अपने प्रवचनों द्वारा धर्म-प्रेमियों को मन्त्र-मुग्ध कर दिया । जब आप दूसरी बार यहाँ आये तब मेरे निवासस्थान के निकट नगर में एक समारोह का आयोजन हुआ। प्रातःकाल में भारी जुटाव हुआ, परन्तु सायंकाल में बीस ही लोग उपस्थित हो सके, वे बीस व्यक्ति गणमान्य जन थे जिनमें डॉक्टर, बैरिस्टर और प्रोफेसर सम्मिलित थे । स्वामी सत्यप्रकाश जी ने उसी उदारता से पूरा घण्टा सारगर्भित व्याख्यान दिया जैसे कि वे भारी जन-समूहों में यहाँ देते थे । उपस्थित विद्वान् जन उनकी विद्वत्ता और गम्भीरता से बड़े ही प्रभावित हुए। मॉरीशस, दक्षिण अफ्रीका, ईस्ट अफ्रीका आदि देशों में आपकी सेवा वन्दनीय रही । आप अंग्रेजी-हिन्दी में जहाँ धारा-प्रवाह प्रवचन करके सबको तृप्त करते रहे, वहीं अपने हिन्दी-अंग्रेजी लेखों से भी विदेशों को वैदिक ज्ञान देते रहे । आपकी दूरदर्शिता और कार्य कुशलता से कौन प्रभावित नहीं हुआ।

प्रधान, आर्य सभा, मारीशस

सन् १९७३ में मॉरीशस में आर्य महासम्मेलन बड़े ही समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ । श्री सत्यप्रकाश जी महाराज संन्यासी के वेश में थे । संन्यास में प्रवेश होने से पहले उन्होंने बड़ी सरलता पूर्वक मुझसे पूछा था—''मोहित जी, मेरे संन्यास का नाम क्या होना चाहिए, बताइये''। मैंने उत्तर दिया था 'आपका नाम' 'सत्यप्रकाश' इतना सुन्दर है कि यही नाम संन्यास का भी होना चाहिए। उन्होंने मेरे सुझाव का स्वागत किया । स्वामी सत्यप्रकाश जी ने आर्य महासम्मेलन को सफल बनाने में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । वे यहाँ के गाँवों और नगरों में घूम-घूम कर वैदिक प्रवचन करते रहे।

स्वामी सत्यप्रकाश जी महाराज के सहयोग और आत्मविश्वास को देखकर सन् १९८६ में मैंने छः लाख की धनराशि देकर 'अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ' की स्थापना करवायी। लगभग दस वर्ष होने को है । स्वामी जी महाराज बड़ी कुशलतापूर्वक 'अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ' के कार्य का सानन्द संचालन करते रहे। आपने अपनी कर्तव्य परायणता एवं शुद्धान्तःकरण का परिचय दिया।

स्वामी जी की बारम्बार मॉरीशस-यात्रा होती रही। हमने पाया कि आप बड़े गुण-ग्राही थे, सपने में भी परदोष-दर्शन नहीं करते थे। ठीक ही कहा है—

''गुणी च गुणरागी च विरलः सरलो जनः''

स्वामी जी ने सन्यास की मर्यादा का पूर्णतः पालन किया।

मैंने सन् १९७० में मॉरीशस के कुछ कर्मठ आर्यों के साथ भारत की यात्रा की। मुझे स्वामी जी के उस गृह में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसमें वे संन्यास ग्रहण करने से पहले रहा करते थे। उनका मकान सुन्दर और प्रांगण विशाल था जिसमें बड़े आराम से हम रहे । संन्यासी बनने पर स्वामी जी ने उस गृह में पुनः पग नहीं धरा। एक बार उस सुख-धाम को त्यागा तो जीवन पर्यन्त उससे अलग ही रहे । वे आदर्श संन्यासी थे । आज स्वामी जी महाराज का पार्थिव शरीर हमारे बीच न रहा, परन्तु उनकी कीर्ति-काया सदा अमर रहेगी । उनका अंग्रेजी में किया वेदभाष्य, उनके सुने हुए प्रवचन, उनका त्याग और परोपकारप्रियता उनकी सदा याद दिलाती रहेगी। मेरे अतिथि बनकर बारम्बार वे मेरे गृह को अपनी चरण-धूलि से पवित्र करते रहे । उनकी सादगी, सात्त्विकता, सेवापरायणता और वेद-निष्ठा मेरे मानस-पटल पर अंकित है। पूज्य स्वामी सत्यप्रकाश जी श्रद्धालु मॉरीशसवासियों को सदैव स्मरण रहेंगे।

दिवंगत स्वामी सत्यप्रकाश जी एक महान् विभूति थे

रामनाथ सहगल

डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश जी न केवल आर्यसमाज की या भारतवर्ष की प्रत्युत समस्त विश्व की दिव्य विभूति थे । स्वामी जी का निधन विश्व भर की विद्वत्समाज की अपूरणीय क्षति है। किन्तु जन्म और मृत्यु के शाश्वत् सम्बन्ध को उलटना किसी के वश में नहीं है। इसलिये प्रिय से प्रिय व्यक्ति की परलोक यात्रा से उत्पन्न व्यथा को, रिक्तता को शान्त मन से सहने के अतिरिक्त कोई अन्य रास्ता नहीं है। कहा है—मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।

माननीय स्वामी जी का स्मरण आते ही आँखों के सामने एक ऐसी मूर्ति, एक ऐसी देहयष्टि आ उपस्थित होती है जो व्यक्तित्व की दृष्टि से सामान्य होते हुए भी ज्ञान-विज्ञान की अकूत सम्पदा के कारण असामान्य थी, लोकोत्तर थी । मध्यम कद और कुछ भारी देह वाला भगवा धोती मात्र परिधान में मन्थर गति से चलता साधुमना वह आर्य संन्यासी पौरस्त्य एवं पाश्चात्त्य विद्याओं का अभूतपूर्व संगम था।

स्व० स्वामी सत्यप्रकाश जी का जन्म २४ अगस्त १६०५ को बिजनौर नगर के आर्यसमाज मन्दिर में हुआ था । स्वामी जी के पूज्य पिता स्वर्गीय श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय बिजनौर के राजकीय स्कूल में अध्यापक थे । स्वामी जी पाँच भाई-बहिनों में सबसे बड़े थे । उन्होंने १६२७ में प्रयाग विश्वविद्यालय से रसायनशास्त्र में सम्मानपूर्वक एम०एस-सी० परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्हीं दिनों प्रयाग से विज्ञान-परिषद् की मुख पत्रिका ''विज्ञान'' मासिक निकलती थी । स्व० सत्यप्रकाश जी उस पत्रिका का सम्पादन करते थे। उत्तरकाल में विश्वप्रसिद्धि प्राप्त करने वाले स्व० डॉ० आत्मा राम जी से स्वामी जी का बाल्यकाल से पारिवारिक सम्बन्ध था। उनको हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखने की प्रेरणा भी स्वामी जी से प्राप्त हुई थी। इसी प्रकार स्वामी जी ने अनेक लेखक उत्पन्न किये।

स्वामी जी की रुचि ''प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री का रासायनिक अध्ययन'' विषय में रही। उन्होंने अध्यापन के अन्तिम काल में ऐतिहासिक द्रव्यों के वैज्ञानिक परीक्षण स्वयं किये और अपने शिष्यों से करवाये, स्वामी जी के निर्देशन में अनेक शिष्यों ने महत्त्वपूर्ण विषयों पर शोध कार्य करके डाक्टर-उपाधि अर्जित की।

सन् १६३२ में स्वामी जी ने प्रयाग विश्वविद्यालय से डी०एस-सी० की उपाधि प्राप्त की । वहीं विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में डिमाँस्ट्रेटर के पद से स्वामी जी ने कार्यारम्भ करके अन्त में प्रोफेसर के सर्वोच्च पद पर कार्यरत रहकर १६६७ में सेवानिवृत्ति प्राप्त की। १६७१ में आपने संन्यास आश्रम की दीक्षा ली । तब से आपने पीछे मुड़कर नहीं देखा और अपने जीवन का एक-एक क्षण आर्यसमाज की सेवा में समर्पित कर दिया । संन्यासी प्राजापत्य इष्टि द्वारा अपने अतीत का सब कुछ छोड़कर

महामन्त्री, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

एवं समस्त अग्नियों का स्वयं में आधान करके लोक-शिक्षा के लिए निकल पड़ता है, स्वामी सत्यप्रकाश जी ऐसे ही संन्यासी थे । उनके जीवन की अनेक घटनाएँ हैं जो उनकी निस्संगता, स्थितप्रज्ञता एवं पूर्ण विरक्त भाव को प्रकट करती हैं।

स्वामी जी ने वाणी और लेखनी दोनों के द्वारा आर्यसमाज एवं विश्वसमाज की भरपूर सेवा की है । देश-विदेश में उन्होंने अनथक प्रचार-यात्राएँ कीं। वैदिक साहित्य, संस्कृत और अँग्रेजी के स्वामी जी श्रेष्ठ विद्वान् थे। उन्होंने यूरोप, अमेरिका एवं अफ्रीका आदि महाद्वीपों में वैदिक ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया । सैकड़ों पुस्तकें लिखीं । उनके विचारों को आर्यसमाज के प्रत्येक क्षेत्र में बड़े आदर के साथ सुना जाता था, कुछ ऐसे भी विषय रहे जिन पर मतभेद प्रायः हो जाता था। किन्तु देखा यह गया कि पूज्य स्वामी जी की पकड़ न केवल आधुनिक भौतिक विज्ञान पर थी, महर्षि दयानन्द के साहित्य के शब्द-शब्द पर भी उनका अप्रतिम और प्रामाणिक अधिकार था । विश्वविद्यालयीय क्षेत्र में काम करने वाले आर्य विद्वानों में एक स्वामी सत्यप्रकाश जी ही ऐसे थे जिन्होंने महर्षि दयानन्द की अनेक मान्यताओं की वैज्ञानिक व्याख्या की तथा जिन सिद्धान्तों को साधारण आर्यसमाजी आस्थावश स्वीकार करता है, उनकी विज्ञान सम्मत व्याख्या देकर महर्षि की सूझ को, उद्भावनाओं को विद्वद् वर्ग में आदरणीय बनवाया।

डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश जी का जन्म एक निर्धन किन्तु सारस्वत साधना से भूरपूर परिवार में हुआ था । उनके पूज्य पिता स्व० उपाध्याय जी आर्यसमाज के माने हुए विद्वान् थे । उनकी ''आस्तिकवाद'' पुस्तक पर मंगला प्रसाद पारितोषिक मिला था। वैदिक साहित्य एवं दर्शन साहित्य पर उपाध्याय जी का बड़ा गम्भीर अध्ययन था । स्वामी जी की माता स्वर्गीया श्रीमती कला देवी भी एक सिद्धान्तनिष्ठ महिला थीं । कम ही लोग जानते हैं कि जब धनाभाव में आर्यसमाज चौक इलाहाबाद का हॉल बनने से रुका हुआ था तब धन की अपील में माता कलादेवी ने अपने गले का स्वर्णाभरण अर्पित कर दिया था । ऐसे यशस्वी एवं धन्य माता-पिता की धन्य सन्तान थे स्व० स्वामी सत्यप्रकाश जी।

स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती से मेरा सबसे पहले परिचय स्व० पं० प्रकाशवीर शास्त्री ने जब १९७३ में मेरठ में आर्यसमाज की शताब्दी मनाई गई थी, तब कराया था । आर्य समाज की स्थापना को १०० वर्ष हो गये थे । उस श्रृंखला में सबसे पहले मेरठ में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के तत्कालीन प्रधान स्व० पं० प्रकाशवीर शास्त्री के तत्त्वावधान में एवं स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी की अध्यक्षता में शताब्दी मनाई गई थी । तब मुख्य अतिथि के रूप में भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी०वी० गिरि जी को आमन्त्रित किया गया था। राष्ट्रपति जी का कार्यक्रम स्थगित हो गया । श्री चौ० चरण सिंह, श्री मोरारजी देसाई, पं० शिव कुमार शास्त्री, श्री राजन बाटला, उद्योगपति समारोह में पधारे थे । मेरा स्वामी जी से तभी से परिचय हुआ और उसी दिन से दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया।

मोहन मिकिन्स के श्री वेद मोहन जी का देहान्त हुआ तो उनकी श्रद्धांजलि सभा में पं० प्रकाशवीर शास्त्री पधारे थे । उनकी हार्दिक इच्छा थी कि श्री वेद मोहनजी की स्मृति में मोहन मिकिन्स की ओर से एक अच्छी राशि दान स्वरूप देकर कोई कार्य किया जाय जिससे उनकी याद सर्वदा बनी रहे । तब चारों वेदों का अँग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने का कार्य आरम्भ करने का निश्चय हुआ। डी०डी०वी० के तत्कालीन प्रधान श्री जी०एल० दत्ता जी बैठक में उपस्थित थे । उन्होंने इसका अनुमोदन किया । मोहन मिकिन्स वालों ने घोषणा की कि हम रु० १००,०००/- देंगे। बाद में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी से प्रार्थना की गई कि इस कार्य को अपने हाथ में लेकर वे वेदों का अनुवाद करें । उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार किया और अपनी सेवायें निःशुल्क देने की घोषणा की। ''वेद-प्रतिष्ठान'' के नाम से एक संस्था बनाई गई जिसके प्रधान डॉ० एल०एम० सिंघवी जी, जो अब ब्रिटेन में भारत के हाई कमिश्नर हैं । अन्य लोग, जैसे श्री इन्द्रकुमार गुजराल, श्री जी० एल० दत्ता, डां० सूरजभान, पं० प्रकाशवीर शास्त्री, श्री

विश्वनाथ, पं० शिव कुमार शास्त्री भी थे। स्वामी सत्यप्रकाश जी लगभग २० वर्ष आर्यसमाज हनुमान रोड, नई दिल्ली में रहे, मैं भी वहाँ लगभग १५ वर्ष रहा । उसके बाद हम दोनों ही आर्यसमाज ''अनारकली'' मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली में आ गये। वेद-प्रतिष्ठान के तत्त्वावधान में अब तक सारे वेदों का अंग्रेजी अनुवाद २६ खण्डों में प्रकाशित हो चुका है और मे० एस० चांद एण्ड कम्पनी द्वारा इन वेदों को भारत तथा भारत से बाहर भिजवाया जा रहा है। इन वेदों पर लगभग ३० लाख रुपया व्यय हो चुका है।

अजमेर में स्वामी दयानन्द जी की जो निर्वाण शताब्दी अक्टूबर १९८३ में मनाई गई, उसके बारे में कई बार, दिल्ली, अजमेर आदि में बैठक में विचार हुआ कि शताब्दी दिल्ली, अजमेर या बम्बई में इन तीन स्थानों में कहाँ मनाई जाये। स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी इस बात पर दृढ़ थे कि स्वामी जी का निर्वाण अजमेर में हुआ था। इसलिये शताब्दी अजमेर में ही मनाई जाये। परोपकारिणी सभा ने इसकी सम्पुष्टि कर दी । यह निश्चय १९८३ में लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व हुआ । स्वामी सत्यप्रकाश जी ने इसे सफल बनाने के लिए पूर्ण जिम्मेदारी ले ली । यह कार्य मेरे घर तथा तत्कालीन डी० ए० वी० कालेज प्रबन्धकर्त्री समिति के संगठन सचिव और वर्तमान में प्रधान श्री दरबारी लाल जी, आर्य जगत् के सम्पादक पं० क्षितीश वेदालंकार पर छोड़ दिया गया। शताब्दी मनाने के लिए आर्यसमाज ''अनारकली'' मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी के नेतृत्व में २० सब-कमेटियाँ बनाई गई। जो लोग अजमेर में शताब्दी मनाने का विरोध कर रहे थे वे भी साथ हो गये । तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी वहाँ पधारी थीं और उन्होंने स्वामी दयानन्द जी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। उस निर्वाण शताब्दी में हरि० मु० म० श्री शिवचरण माथुर, कैबिनेट मन्त्री श्री टी० एन० चतुर्वेदी एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री राम गोपाल शालवाले भी पधारे थे । वहाँ लगभग पाँच लाख लोग एकत्र हुए थे। समाचार पत्रों को लिखना पड़ा कि आर्यसमाज के इतिहास में न तो इतना अपार जन समूह कभी एकत्र हुआ है और न भविष्य में होगा। इसका सारा श्रेय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी को प्राप्त है।

जब मैं आर्य केन्द्रीय सभा १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली के कार्यालय में था तब स्वामी जी वहीं रहते थे । जब से मैं आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का मंत्री बना तब से स्वामी जी मेरे आग्रह पर आर्य समाज ''अनारकली'' मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली में आ गये। हम लगभग १८ वर्ष आर्यसमाज में रहते रहे । हम दोनों आपस में प्रतिदिन मिलते थे और शाम को बैठकर काफी पिया करते थे। आपस में विचार-विमर्श करते थे। स्वामी जी मुझे हर कार्य में सहयोग देते थे।

स्वामी जी दो वर्ष पूर्व दिल्ली में बीमार हुए। मैं उन्हें सर गंगाराम अस्पताल में ले गया और चेकअप आदि करवाया । स्वामी जी की इच्छा थी कि इलाहाबाद भिजवा दिया जाये और वे अपनी इच्छानुसार इलाहाबाद चले गये । कुछ दिन रायबरेली में रहे और उसके बाद अमेठी चले गये, वहाँ उनके शिष्य श्री दीनानाथ ने उनकी बड़ी सेवा की। मैं और सभा प्रधान श्री दरबारी लाल जी उनसे मिलने के लिए अमेठी गये, पर वे हमें पहचान नहीं पाये। हमसे जो भी उनकी सहायता हुई करते रहे । उन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों पुस्तकें लिखीं जो देश में तो वेदप्रचार हेतु मंगवाई ही जाती हैं, विदेशों में भी बड़ी मात्रा में मंगवाई जाती है । वे वास्तव में ऐसी महान् विभूति थे जिनका जन्म कभी संयोगवश ही होता है।

वैभवे निःस्पृहेनापि, सम्प्राप्तं वै भवे पदम्।

[स्वामि-सत्यप्रकाश सरस्वती-महात्मनां पुण्यस्मृत्यर्थं काव्य-श्रद्धाञ्जलिः]

प्रो० प्रभाकर नारायण कवठेकर

पूर्वं प्राध्यापकः पश्चात् संन्यासी सोऽभवत् स्वयम् ।
संन्यासी किन्त्वसन्न्यासी न्यस्तस्तेनासतो भ्रमः ।।

रसायने तु विज्ञाने विद्वानासीत् स शिक्षकः ।
ब्रह्मानन्दरसे तेन नित्यं प्राप्तं रसायनम् ।।

यतिनापि लोकहितप्रयत्ने न यतिः कृता ।
लौकिकं शिक्षणं दत्तम् अलौकिकमहात्मना ।।

आर्यधर्मप्रचारार्थमनार्यमतखण्डनम् ।
तेनाचरितं चार्यचरितं चरतो भुवि ।।

अनेकग्रन्थकर्तापि न ग्रन्थिर्धारिता हृदि ।
स्वयं सिद्धोऽपि सिद्धान्ते मतिस्तस्य दृढा मता ।।

स्वामिनोऽपि न स्वामित्वं वैभवे धनसम्पदः ।
निःस्पृहस्यापितस्यासीत् स्पृहा धर्मस्य शिक्षणे ।।

न भ्रमो भ्रमतस्तस्य वैराग्येऽप्यात्मरागता ।
वैभवे निःस्पृहेनापि सम्प्राप्तं वै भवे पदम् ।।

कुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, म०प्र० (भू०पू०)

स्वामी सत्यप्रकाश : संस्मरण और साहित्य

डॉ० भवानी लाल भारतीय

महान् वैज्ञानिक तथा सन्त स्वामी सत्यप्रकाश के निकट सम्पर्क में आने का मुझे अवसर मिला, इसे मैं अपने जीवन का महान् सौभाग्य मानता हूँ। मैं उनके लेखन कार्य से पहले परिचित हुआ जब कि व्यक्तिशः उन्हें जानने का अवसर बाद में आया । मैंने उनकी पुस्तक 'वेदों पर अश्लीलता का व्यर्थ आक्षेप' जोधपुर के राजकीय पुस्तकालय से लेकर पढ़ी थी। तभी ज्ञात हुआ कि वे यों तो रसायन शास्त्र के अध्यापक हैं किन्तु वैदिक अध्ययन में उनकी गहरी रुचि है । यह पुस्तक उनकी प्रथम कृति है जो १९३५ में प्रकाशित हुई थी। स्वामीजी की एक प्रसिद्ध कृति 'A Critical Study on the philosopy of Dayanand' के प्रकाशन की भी एक कहानी है । १९३८ में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान ने अपनी स्वर्ण जयन्ती मनाई। समारोह के आयोजकों ने निश्चय किया कि इस अवसर पर किसी अच्छी पुस्तक का प्रकाशन किया जाना चाहिए । उन्होंने स्वामी जी (उस समय डाक्टर) से प्रार्थना की और स्वामी दयानन्द के द्वैतवादी दर्शन की सुन्दर व्याख्या में लिखी यह अंग्रेजी पुस्तक प्रकाश में आई।

मैं १९५० में जब उक्त सभा के वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने अजमेर गया तो वैदिक पुस्तकालय से इसकी एक प्रति मात्र आठ आने में खरीद लाया । बी० ए० में मेरा एक विषय दर्शनशास्त्र भी था और मैं यदा कदा दर्शन के अपने प्राध्यापक स्व० डा० रामानन्द तिवारी से अद्वैत और त्रैत आदि दार्शनिक प्रश्नों को लेकर बहस भी करने लगता था । स्वामी जी की इस पुस्तक से मुझे दयानन्द दर्शन को समझने में पर्याप्त सहायता मिली। १९५५ में जब पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय का ग्रन्थ Philosophy of Dayanand प्रकाशित हुआ और उसे भी मैंने पढ़ा तो पाया कि पुत्र की लिखी पुस्तक पिता के ग्रन्थ से इक्कीस ही है, उन्नीस नहीं।

डा० सत्यप्रकाश के प्रथम दर्शन का अवसर १९५९ में मथुरा में मिला। इस वर्ष के दिसम्बर मास में उनके पूज्य पिता तथा आर्यसमाज के वरेण्य लेखक पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का अभिनन्दन किया जा रहा था। यही वर्ष ऋषि दयानन्द के दीक्षा ग्रहण करने की शताब्दी का भी वर्ष था और आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने मथुरा में ही दीक्षा शताब्दी मनाने का निश्चय किया था । सभा के प्रधान पं० हरिशंकर शर्मा स्वयं हिन्दी के कवि तथा यशस्वी साहित्यकार थे । उन्होंने निश्चय किया कि दीक्षा शताब्दी के मंच से ही आर्य समाज के दो पण्डितों का सम्मान किया जाना चाहिए। यह भी एक संयोग ही था इन दोनों विद्वानों के नाम एक ही थे (१) गंगाप्रसाद जज और (२) गंगा प्रसाद उपाध्याय। मैं भी इस कार्यक्रम में सम्मिलित होने मथुरा गया था। जब अभिनन्दन का कार्यक्रम समाप्त हुआ तो मैं मंच पर पहुँच गया और डॉ० सत्यप्रकाश से अपनी आटोग्राफ बही में हस्ताक्षर करने का निवेदन किया । डाक्टर साहब तो प्रयाग विश्वविद्यालय के अपने अध्यापन काल में भी सदा खादी की धोती, कुर्ता और गाँधी टोपी जैसी स्वदेशी पोशाक धारण किये रहते थे। जब मैंने उनसे आटोग्राफ देने का अनुरोध किया तो उन्होंने मुझसे पूछा - क्या आप मुझे जानते हैं ? मैंने उनके उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों का नाम लिया और कहा कि मैंने इन्हें पढ़ रखा है। वे आश्वस्त हुए और अपने आटोग्राफ दिये।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (अवकाश प्राप्त)

१० मई १९७१ को डॉ० सत्यप्रकाश ने चतुर्थाश्रम की दीक्षा ली और वे संन्यासी बने। अब वे सम्पूर्ण रूप से आर्यसमाज और वैदिक धर्म के लिये समर्पित थे । उनकी सहधर्मिणी डॉ० रत्नकुमारी का निधन हो चुका था । परिव्राजक के रूप में उनसे मेरी पहली भेंट अबोहर (पंजाब) में हुई । वहाँ महिला डी० ए० वी० कालेज के भवन का उद्घाटन होना था और मुझे मेरे मित्र प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु ने इस समारोह में आमंत्रित किया था । जिज्ञासुजी स्वामीजी के भी परम भक्त और प्रशंसक हैं । अबोहर के दो तीन दिन के प्रवास में स्वामीजी को निकट से देखने तथा उनके व्यक्तित्व की महनीयता एवं चारित्रिक उदात्तता को अनुभव करने का अवसर मिला। इस अवसर पर हम पंजाब की सीमावर्ती फौजी चौकी गये वहाँ स्वामीजी तथा मेरा, सैनिकों के समक्ष प्रवचन हुआ।

उसके पश्चात् तो स्वामीजी से मिलने के अनेक अवसर आते ही गये । वे मात्र आश्रम परिवर्तन करने के लिये ही संन्यासी नहीं बने थे, सच्चे अर्थों में पुत्र, वित्त तथा लोक की एषणा त्रय का उन्होंने त्याग किया था। स्व० पं० प्रकाशवीर जी के सुझाव पर हमने उन्हें परोपकारिणी सभा का सभासद मनोनीत किया। तब से वे सभा के अधिवेशनों में भाग लेने के लिये प्रति वर्ष अजमेर आते और ऋषि मेले में उनका सान्निध्य प्राप्त होता। जब पंजाब विश्वविद्यालय में दयानन्द शोधपीठ के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद का स्थान रिक्त हुआ तो इसके लिये उन्होंने मेरा नाम उक्त विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति प्रो० रामचन्द्र पाल को सुझाया जो अन्ततः स्वीकार हुआ और दिसम्बर १९८० में मैं इस प्रतिष्ठित शोधपीठ का कार्य भार संभाल सका । प्रसंग इस प्रकार बना कि उस वर्ष स्वामीजी का प्रवचन क्रम आर्य समाज सेक्टर सात चंडीगढ़ में चल रहा था। सेक्टर आठ में प्रो० पाल का निवास था। कुलपति पाल ने अपने जन्म दिन के अवसर पर जो अल्पाहार का आयोजन किया उसमें स्वामीजी को भी आमंत्रित किया गया था । वहाँ पर जब दयानन्द शोधपीठ के अध्यक्ष पद की नियुक्ति की चर्चा चली तो उसी विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र के रीडर डा० रामप्रकाश तथा स्वामीजी ने कुलपति जी से मेरे नाम की चर्चा कर दी तथा यह भी कह दिया कि यों तो डा० भारतीय गवर्नमेंट कालेज अजमेर में अध्यापक हैं और वर्षों से राजकीय सेवा में हैं किन्तु यदि उनसे विशेष अनुरोध किया जाये तो वे अपनी शासकीय सेवा से मुक्त होकर इस पद को ग्रहण कर लेंगे। हुआ भी यही। मेरी इस पद पर नियुक्ति बिना किसी साक्षात्कार के, मात्र मेरे Biodata के आधार पर ही हो गई।

स्वामीजी का चण्डीगढ़ में अनेक बार आगमन होता था। तीन चार बार तो वे मेरे अनुरोध पर ही वहाँ आये । उनके आतिथ्य का दायित्व प्राचार्य कृष्णसिंह आर्य वहन करते थे । अपने विभाग के तत्त्वावधान में मैंने स्वामी दयानन्द के दर्शन, वेद-भाष्य पद्धति आदि विषयों पर जब-जब शोध गोष्ठियों का आयोजन किया, स्वामीजी उनमें आये और अपने विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों से हमें लाभान्वित किया । मारिशस के श्री मोहनलाल मोहित की आर्थिक सहायता से स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान की ओर से भी एक गोष्ठी हमने चण्डीगढ़ में आयोजित की और स्वामीजी के परामर्श से ही उसमें विचार के लिये 'वेदों' की असाम्प्रदायिक शिक्षाएं' विषय रक्खा था । स्वामीजी कई बार अपना लिखित भाषण पढ़ते थे और कभी-कभी बिना किसी पूर्व तैयारी किये अपने विषय पर धारा प्रवाह प्रभावपूर्ण शैली में बोलते थे । आर्यसमाज सरदारपुरा जोधपुर के आग्रह पर मैंने उनका एक कार्यक्रम अपने नगर में भी रक्खा। उस अवसर पर जब स्वामीजी आये तो उन्हें विश्वविद्यालय के अतिथि गृह में ही ठहराया। मैं तो अपने अनुज प्रो० नवल किशोर माथुर के निवास पर ही ठहरता था। यहीं पर स्वामीजी के भोजन की व्यवस्था हमने की और हमारे परिजनों को स्वामीजी के सौम्य किन्तु सदा प्रसन्न रहने वाले मोहक व्यक्तित्व का परिचय मिला। गृहस्थ होने के नाते हम तो स्वामीजी का आतिथ्य करते ही थे किन्तु जब कभी दिल्ली जाना होता और उनसे भेंट करने आर्यसमाज मंदिर मार्ग जाते तो स्वामीजी हमारे आतिथेय बन जाते। अपने हाथ से काफी (यह उनका प्रिय पेय था) बना कर पिलाते, सेब काटकर खिलाते, ब्रेड पर मक्खन

लगाकर खुद ही टोस्ट तैयार करते। उन्हें खाने और खिलाने का शौक था और वे अनावश्यक पथ्यापथ्य या परहेज की थोड़ी भी चिन्ता नहीं करते थे। तथापि उनका यह सारा क्रिया-कलाप पद्मपत्र पर पानी की बूंद की भाँति सर्वथा निर्लेप होता था । प्रायः देखने में आता है कि संन्यासी बन जाने वाले तुरीयाश्रमी भी वित्त के मोह से मुक्त नहीं हो पाते, किन्तु स्वामी सत्यप्रकाश ने इस एषणा से सर्वथा छुटकारा पा लिया था । उन्होंने संन्यास काल में ही अपना अधिकांश साहित्य लिखा, उसके प्रकाशन की भी व्यवस्था की । लाखों रुपया एतदर्थ एकत्र भी किया और व्यय भी किया, किन्तु कभी अर्थसंचय की चेष्ठा नहीं की । कई बार जब वे वैदिक यंत्रालय अजमेर के प्रबंधक श्री सतीशचन्द्र शुक्ल से अपने ग्रन्थों के मुद्रण के हिसाब किताब की बात करते तो मजाक में कहते ''शुक्ल जी यदि जिन्दा रहा तो आपका हिसाब चुकता कर दूँगा और मर गया तो मेरी पुस्तकें बेच कर आप अपना हिसाब पूरा कर लेना।'' अपने सहयोगी विद्वानों और हम जैसे कनिष्ठ पुत्र तथा शिष्यतुल्य आर्यसमाजी लेखकों को वे मुक्तहस्त से अपने ग्रन्थ भेंट करते । उस समय यह भी कहते कि आप जैसे सुयोग्य पात्र को पुस्तक देने में ही तो उसकी सार्थकता है।

यों तो आर्यसमाज के सभी विद्वान्, नेता, साधु, संन्यासी, उपदेशक, प्रचारक उनके स्नेह और सौहार्द के भागी बने, किन्तु कुछ युवा लेखकों और विद्वानों के प्रति उनका अतिरिक्त स्नेह भाव था । एक बार मुझे कहने लगे - अमेठी के डा० ज्वलन्त कुमार शास्त्री और दीनानाथ शास्त्री, रायबरेली के डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री तथा लखनऊ की डा० शान्तिदेव बाला को मैं अपना अत्यन्त प्रिय भक्त या शिष्य मानता हूँ । मैंने कहा, स्वामीजी आप मुझे भी, अपनी इस भक्त मण्डली में सम्मिलित कर लें । कहने लगे, तुम तो हो ही, इसमें कहने की क्या बात है ? जब पंजाब विश्वविद्यालय में मेरी नियुक्ति हो गई तो मुझे परामर्श रूप में कहा कि उच्चतर लेखन और शोध का यह अलभ्य अवसर तुम्हें मिला है, इसका सदुपयोग करना । मुझे सन्तोष रहा कि मैंने अपने ग्यारह वर्ष के कार्यकाल में दयानन्द शोध पीठ को वैदिक अध्ययन और शोध का आदर्श केन्द्र बनाया।

स्वामीजी के संस्मरणों को समग्र रूप से निबद्ध करना यों तो कठिन है, किन्तु एक प्रसंग का उल्लेख अवश्य करूँगा । १९८३ में स्वामी दयानन्द की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर मेरा लिखा महर्षि का विशद् और शोधपूर्ण जीवन चरित 'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती' का प्रकाशन परोपकारिणी सभा ने किया था । मैंने इस ग्रन्थ की रायल्टी या पारिश्रमिक की कोई पूर्व शर्त प्रकाशक के समक्ष नहीं रखी थी, किन्तु जब ग्रन्थ छप गया तो मैंने उचित समझा कि इसके विषय में स्वामीजी से परामर्श करूँ। वे उन दिनों चण्डीगढ़ आये हुए थे और प्राचार्य कृष्णसिंह आर्य के निवास पर ही थे । मेरे इस विषय में पूछने पर उन्होंने स्पष्ट कहा, ''देखो भारतीय, ये सभा संस्थायें लेखकों की कृतियों को छाप कर उन पर अहसान का बोझ तो लाद देती हैं किन्तु देने दिलाने के नाम पर उनके पास कुछ नहीं है ।'' उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा कि लेखक को तो सबसे बड़ा सन्तोष अपनी रचना के प्रकाशित होने का ही होता है। अतः उन्होंने मेरी पुस्तक के पारिश्रमिक के रूप में प्रकाशक से कुछ प्रतियाँ ले लेने का ही सुझाव दिया जो व्यवहार्य भी था और सहज भी।

आर्यसमाज से स्वामीजी का सम्बन्ध जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त रहा । वे उपाध्याय परिवार के वरिष्ठ सदस्य होने के कारण आर्यसमाजी विचारों तथा संस्कारों से आजीवन प्रतिबद्ध रहे तथापि संस्थागत बुराइयों तथा दलबन्दी का विरोध करने में वे कभी पीछे नहीं रहे। वेद, ईश्वर और स्वामी दयानन्द के प्रति कट्टर आस्था रखते हुए भी वे वैचारिक स्वतंत्रता के पक्षपाती थे और अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को व्यक्त करने में कभी संकोच नहीं करते थे। आर्यसमाज में बढ़ते हुए पुरोहितवाद तथा यज्ञों के नाम पर अनावश्यक पाखण्डों के प्रचार-प्रसार के प्रति वे सदा नाराजगी और तिरस्कार प्रकट करते थे । वे जानते थे कि अधिकांश आर्य पुरोहितों का अध्ययन और शास्त्र अनुशीलन नगण्य या शून्यप्राय ही होता है, किन्तु व्यासपीठ से वे जो लच्छेदार बातें कहते

हैं उससे अल्पपठित जन भले ही प्रभावित हों, प्रबुद्ध एवं पठित समाज में उससे आर्यसमाज की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती । वे कर्म और कर्मकाण्ड में अन्तर करते थे और यज्ञों के नाम पर भोले भावुक पुरुषों की भावनाओं को उभार कर कपोलकल्पित विधि विधानों का आचरण करना और यजमानों से करवाना अनुचित समझते थे। उनका क्रान्तिकारी चिन्तन आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के विचारों के तो अनुकूल ही था । अनेक बार यूरोप, अमेरिका तथा अफ्रीका के अनेक देशों का उन्होंने व्यापक भ्रमण किया था। भारतेतर देशों में स्थित आर्यसमाजों को निकट से देखने का अवसर उन्हें मिला था । वे प्रायः यह कहते थे कि यों तो आर्यसमाज अपने आपको सार्वभौम वैदिक धर्म का प्रचारक मानता है किन्तु भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में रहने वाली गोरी, पीली अथवा काली जातियों में वह अपना अनुयायी वर्ग अब तक नहीं बना पाया।

स्वामी सत्यप्रकाश का लेखन कार्य

स्वामीजी का लेखन बहु आयामी था । वे रसायन के अध्यापक थे । अतः अपने विषय पर उन्होंने अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे, किन्तु उनका वैदिक और आर्य सामाजिक लेखन भी अत्यन्त व्यापक एवं सघन था । संन्यास पूर्व की उनकी दो कृतियों की चर्चा हम कर आये हैं । बहुत कम लोग जानते हैं कि डा० सत्यप्रकाश वैज्ञानिक तो थे ही, उन्होंने कवि हृदय भी पाया था। वे जिस इलाहाबाद नगर के निवासी थे उसे तो महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, निराला तथा सुमित्रानन्दन पन्त जैसे छायावाद के प्रतिष्ठित कवियों के निवास का सौभाग्य मिला था । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन अध्यापक मण्डल में जो विभूतियाँ उनकी समकालीन रहीं, उनसे डा० सत्यप्रकाश के मैत्रीपूर्ण अन्तरंग सम्बन्ध रहे। हिन्दी विभाग के डा० धीरेन्द्र वर्मा और रामकुमार वर्मा, संस्कृत के डा० बाबूराम सक्सेना, अंग्रेजी के प्रो० रघुपति सहाय फिराक तथा हरिवंशराय बच्चन, गणित के डा० गोरखप्रसाद, भौतिकी के डा० गोविन्दराम तोषनीवाल (जो कालान्तर में अध्यापन छोड़कर उद्योग के क्षेत्र में आये और अजमेर में वैज्ञानिक उपकरणों का व्यवसाय लगाया) -- ये सभी डा० सत्यप्रकाश के मित्र तथा सहयोगी रहे।

छायावाद के उत्कर्षकाल में उन्होंने जो काव्य रचना की वह 'प्रतिबिम्ब' नामक काव्य संग्रह में प्रकाशित हुई । इसकी भूमिका स्वयं डाक्टर साहब ने अंग्रेजी में लिखी थी । उन्होंने ईशोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् का काव्यानुवाद किया जो १९८० में प्रकाशित हुआ । आर्यसमाज चौक प्रयाग ने रिलिजियस रेनांसा सिरीज़ नामक एक अंग्रेजी ग्रन्थमाला का प्रकाशन आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व किया था । इसमें पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय की कुछ श्रेष्ठ दार्शनिक कृतियाँ प्रकाशित हुई थीं । डा० सत्यप्रकाश के दो ग्रन्थ अग्निहोत्र तथा ह्यूमेनिटेरियन डाइट इसी ग्रन्थमाला में छपे थे । मानवीय भोजन विषयक यह ग्रन्थ १९४१ में छपा। यह ग्रन्थमाला, अत्यन्त सस्ती थी। प्रत्येक खण्ड का मूल्य मात्र आठ आने रखा गया था । संन्यास ग्रहण के पश्चात् स्वामीजी को वैदिक साहित्य लिखने के लिये पर्याप्त समय मिला । उन्होंने स्वदेश तथा विदेश में जो प्रवचन दिये वे पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। उन्होंने हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में समान रूप से लिखा है । यह लेखन हजारों पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

स्वामी सत्यप्रकाश रचित अंग्रेजी ग्रन्थ

Vincit Veritas (1971) दक्षिण अफ्रीका में दिये गये प्रवचनों का संग्रह, Light with in (1974). Enchanted Island तथा The Nectoreal Songs of the Vedas -वेदमंत्रों की अंग्रेजी व्याख्या के ग्रन्थ हैं । अन्य ग्रन्थ Man and his Religion. God and his divine Love. The Self, Life and consciousness. Three Hazards of Life. The Arya Samaj : A renaissance (1981). Architects of Arya Samaj (स्वामी विरजानन्द तथा स्वामी दयानन्द की संक्षिप्त जीवनियाँ १९८७) Vedic Sandhya, Agnihotra स्वामी दयानन्द के दर्शन पर लिखी गई उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रथम बार तो १९३८ में छपी

थी, किन्तु बाद में उसके दो संस्करण (प्रथम दयानन्द संस्थान, दिल्ली द्वारा तथा दूसरा स्वयं स्वामीजी द्वारा) और प्रकाशित हुए। Flights around the world (१६८७) तथा East and West (१६८७) उनके निबंध संग्रह हैं।

१६८३ में जब महर्षि दयानन्द की निर्वाण शताब्दी अजमेर में मनाई गई तो परोपकारिणी सभा के निर्देश से उन्होंने Dayanand Commemoration Volume का सम्पादन किया। हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी के महत्त्वपूर्ण शोधपरक लेखों का यह सम्पादित ग्रन्थ स्वामीजी ने अत्यन्त मनोयोग से तैयार किया था। १६३३ में जब ऋषि के निर्वाण की अर्ध शताब्दी मनाई गई थी उस समय भी एक ऐसा ही ग्रन्थ प्रसिद्ध विद्वान् हरविलास शारदा ने सम्पादित किया था। १६८३ में ही स्वामीजी द्वारा उनका एक लघु ग्रन्थ Dayanand and his mission प्रकाशित हुआ था। स्वामीजी अन्य लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं को प्रकाशित देखने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। उन्होंने अपने पिता पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के सभी प्रमुख ग्रन्थों को रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान से दूसरी बार प्रकाशित कराया। एक जर्मन महिला क्रिस्टीना एल्बर्स ने स्वामी दयानन्द के उदात्त व्यक्तित्व से प्रभावित होकर Swami Dayanand : The Spirit Hero नामक एक लघु काव्यकृति अंग्रेजी में लिखी थी। इसका प्रथम संस्करण १६३६ में छपा था। स्वामीजी को यह लम्बी कविता अच्छी लगी और उन्होंने इसे १६८३ में पुनः प्रकाशित किया। स्वामीजी के मामा पं० विद्याभूषण विभु हिन्दी के अच्छे कवि थे। उन्होंने विरजानन्द विजय नामक एक सुन्दर काव्य दण्डी विरजानन्द के जीवन पर लिखा था। स्वामीजी की बड़ी इच्छा थी कि इस दुर्लभ काव्य का पुनः प्रकाशन हो, किन्तु उनके अस्वस्थ हो जाने तथा दिवंगत हो जाने से यह कार्य नहीं हो सका। इस ग्रन्थ को सम्पादित करने का भार मैंने लिया था।

स्वामीजी के हिन्दी प्रवचनों तथा लेखों के संग्रह

प्रभु के मार्ग पर (१६८१) प्रार्थना और चिन्तन (बर्मा, म्यॉमार में प्रदत्त प्रवचन १६८१) जगत् की उत्पत्ति (सत्यार्थप्रकाश के ८वें समुल्लास की व्याख्या १६८२), मनुष्य और मानव धर्म (१६७५) ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान, अध्यात्म और आस्तिकता (१६८४) महर्षि दयानन्द समग्र क्रान्ति के दूत (निर्वाण शताब्दी के अवसर पर नारी लेखिकाओं द्वारा लिखे गये निबन्धों का सम्पादन) (१६८५), आर्यसमाज शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। स्वामीजी ने कल्प साहित्य के अन्तर्गत आने वाले शुल्ब सूत्रों का भी सम्पादन किया था। ये ग्रन्थ वैदिक रेखागणित के अनेक पहलुओं का विवेचन करते हैं। ऐसे ग्रन्थ हैं - आपस्तम्ब शुल्ब सूत्र, (कपर्दि भाष्य, संस्कृत टीका तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित), बौधायन शुल्ब सूत्र (संस्कृत व्याख्या और अंग्रेजी अनुवाद) यजुर्वेद-एक अध्ययन (१६६०) में प्रकाशित।

स्वामी सत्यप्रकाश का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य भारत के प्राचीन वैज्ञानिकों तथा पुरातन भारत में विज्ञान की स्थिति पर उच्चकोटि के शोधपूर्ण ग्रन्थों का लेखन था। एतद्विषयक उनके ग्रन्थ हैं - प्राचीन भारत में रसायन का विकास, प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार, Founders of Sciences in Ancient India (2 Volumes), Coinage in Ancient India (2 Volumes) प्राचीन भारत के सिक्कों पर लिखी गई यह अपने विषय की विशिष्ट पुस्तक है। Critical Study or Brahmagupta and his Works, Geometry in Ancient India स्वामीजी के स्फुट लेख तथा उनके विदेशों में दिये गये अंग्रेजी व्याख्यान ४ खण्डों में Speeches, Writings and Addresses शीर्षक से छपे हैं।

स्वामीजी ने ६० वर्ष की आयु पाई। उनके कनिष्ठ भ्राता श्री विश्वप्रकाश तथा श्री प्रकाशजी उनके सामने ही दिवंगत हो गये थे। स्वामीजी के एक युवापुत्र की भी मृत्यु हुई किन्तु वीतराग संन्यासी ने अपने इन परिज़नों से कभी स्वयं को नहीं बांधा। वे जीवनमुक्त तो थे ही मृत्यु के पश्चात् उनकी आत्मा ने भी मुक्ति प्राप्त कर ली।

सत्य के लिए समर्पित व्यक्तित्व - स्वामी (डॉ०) सत्यप्रकाश सरस्वती

स्व० दरबारी लाल

महर्षि दयानन्द ने वेद को ''सब सत्य विद्याओं का पुस्तक'' कहा है और सब आर्यों के लिए वेद का पढ़ना-पढ़ाना परम धर्म बताया है।

स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती अपने आपको जन्मना आर्य समाजी कहा करते थे। उनका जन्म आर्य समाज मन्दिर बिजनौर, उत्तर प्रदेश में हुआ था। जहाँ उनके पूज्य पिता, आर्य समाज के धुरन्धर विद्वान् श्रद्धेय गंगाप्रसाद जी उपाध्याय पुरोहित के रूप में आर्य समाज की सेवा कर रहे थे। स्वर्गीय उपाध्याय जी ने अपने प्रवचनों द्वारा तथा प्रचुर साहित्य द्वारा आर्य समाज की जो सेवा की है, वह किसी से छिपी नहीं है। उनके ग्रन्थ आज भी अपने प्रकाशन काल के समान ही लोकप्रिय हैं।

इस प्रकार श्री सत्यप्रकाश जी को वेदों के प्रति स्वाध्याय की रुचि घुट्टी में ही पीने को मिली। उक्ति प्रसिद्ध है :

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते ।
ज्योतिषामयनञ्चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्सांगमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते ।

अर्थात् यदि वेद को शरीर का रूप देना हो तो छन्द उसके पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं , निरुक्त कान हैं , शिक्षा नासिका है और व्याकरण मुख हैं। इस प्रकार वेद काय रूप में स्थित हैं । इस काय रूप वेद के स्वाध्याय एवं प्रवचन में स्थित रहने से तथा अंग्रेजी भाष्य के सहारे उस काम को विदेशियों के हृदय में स्थित कराने के महाप्रयत्न द्वारा स्वामी जी ने अपने कायस्थ रूप को भी अमरता प्रदान की है।

महाकवि हरिवंश राय बच्चन ने अपनी आत्मकथा के पहले भाग ''क्या भूलूँ क्या याद करूँ'' में कायस्थ शब्द को कुछ इस प्रकार महिमामंडित किया है - समाज की सेवा में जो अपने चिन्तन, मनन, ज्ञान को अर्पित करने में सन्तुष्टि पाते हैं वे ब्राह्मण हैं। अपने बाहुबल तथा शौर्य द्वारा इसकी रक्षा में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने वाले क्षत्रिय हैं। कृषि, वाणिज्य, कलाकौशल द्वारा समाज को समृद्ध एवं पुष्ट बनाने वाले वैश्य हैं तथा सेवावृत्ति के द्वारा समाज को गतिशीलता एवं स्थायित्व प्रदान करने वाले शूद्र हैं । इन्हें क्रमशः समाज के मुख, हाथ, उरु और चरणों का स्थान दिया जाता है । पर समाज में एक ऐसा वर्ग भी है जो मस्तिष्क, बाहुबल, उद्योग एवं सेवावृत्ति के समन्वित रूप से कर्तव्य पालन में अग्रगण्य है, केवल मुख, हाथ, उरु या चरण बनकर नहीं अपितु समूचे समाज की काया में स्थित होकर, वह वर्णहीन वर्ग कायस्थ है।

अध्यक्ष, डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल, दिल्ली (भू० पू०)

हम बच्चन जी के उपर्युक्त कथन से भले ही सहमत न हों किन्तु स्वामी सत्यप्रकाश जी का समूचा व्यक्तित्व आर्यसमाज और वेद के प्रति जिस प्रकार समर्पित था, उसे देखते हुए बच्चन जी की उक्ति को सहसा मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

विज्ञान का आधार सत्य है । वैज्ञानिक सत्यान्वेषी होता है । स्वामी जी भी जीवन के अन्तिम क्षण तक सत्य की आराधना में लीन रहे । ''सब सत्य विद्याओं का पुस्तक वेद'' फिर उनके अध्ययन से कैसे उपेक्षित रहता । वेद प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित चारों वेदों के अंग्रेजी भाष्य द्वारा उन्होंने अपनी इसी सत्यनिष्ठा को वाणी प्रदान कर न केवल अपने '' सत्य प्रकाश'' नाम को सार्थक किया, अपितु अपने अन्यतम सहयोगी सत्यकाम जी के नाम को भी अर्थवत्ता प्रदान की।

वेद, दर्शन, व्याकरण, कर्मकाण्ड आदि किसी भी विषय में आर्यसमाजी विद्वानों की कमी नहीं है । कमी रही है ऐसे विद्वानों के लिए अपेक्षित साधन सामग्री जुटाने की। इस कमी को दूर करने का संकल्प अब डी० ए० वी० प्रबन्धकर्त्री समिति और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने दृढ़तापूर्वक लिया है ।, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के वेद प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित स्वामी सत्य प्रकाश जी कृत चतुर्वेद भाष्य इसी संकल्प की कड़ी है।

परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वह हमें इस संकल्प की पूर्ति हेतु और अधिक सामर्थ्य प्रदान करे तथा आर्यसमाज को स्वामी जी जैसी कोई अन्य विभूति प्रदान करे, जिससे उनकी अपूरणीय क्षति भरी जा सके।

अनूठा व्यक्तित्व

गजानन्द आर्य

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के निधन से आर्यसमाज ने जहाँ एक वीतराग संन्यासी को खो दिया वहाँ वैज्ञानिक जगत् ने प्रतिभावान् विद्वान् को खोया है। कितना विचित्र था वह स्वामी। जीवन की विविध अवस्थाओं का सुन्दर समन्वय उनमें परिलक्षित होता रहा। बच्चों की सी मुसकान और सरलता लिए हुए वह संन्यासी अपने आश्रम की मर्यादा की सजगता में बहुत ही गम्भीर और अनुशासित भी था । बात सन् १९८३ में तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन की है - समापन के दिन प्रसिद्ध हिन्दी कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा विश्व के विद्वज्जनों को सम्मानित कर रही थीं। सम्मान की श्रृंखला में जब प्रयाग विश्वविद्यालय के रसायनशास्त्र के भूतपूर्व अध्यक्ष का नाम पढ़ा गया तब कोई विद्वान् सामने न आया देख विदुषी कवयित्री ने दूर बैठे संन्यासी स्वामी सत्यप्रकाश को पहचान लिया । वहीं जाना पड़ा श्रीमती वर्मा को । संन्यासी के धर्म में सम्मानित होने के लिए उठकर जाना स्वामी जी को अभीष्ट नहीं था। स्वामी का पद सम्राट् से भी ऊँचा है। यह हमने उस दिन देखा जब स्वामी दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी अजमेर पधारीं थीं। मञ्च पर उपस्थित होने के क्षणों में लाखों लोग प्रधानमन्त्री के सम्मान में खड़े हो गये किन्तु आर्यजगत् के दो संन्यासी मंच पर यथावत् बैठे रहे। इसमें अहंकार की बू नहीं थी अपितु भारतीय संस्कृति की रक्षा का तकाजा था।

विज्ञान और अध्यात्मवाद को एक दूसरे के पूरक सिद्ध करने में उन्होंने अपनी विद्वत्ता, समय और शक्ति का भरपूर उपयोग किया । वे कहते रहे कि मैं आर्यसमाजी हूँ इसीलिए मुझे विज्ञान प्रिय है और चूँकि मैं विज्ञान का छात्र रहा हूँ इसीलिए मुझे आर्य समाज से विशेष लगाव है। सामान्यतया यह दोनों क्षेत्र विपरीत दिशा देने वाले लगते रहे हैं । वे अपने उपयोग और प्रयोग द्वारा आर्यसमाज में घुसपैठ करती हुई गलत मान्यताओं का पुरजोर खण्डन करते रहे । साथ ही साथ अनीश्वरवादी वैज्ञानिकों को वेदों के आदिमूल ज्ञान को स्वीकार भी कराते रहे । पूरे विश्व का भ्रमण उन्होंने अनेक बार इसी सन्देश के साथ किया । वैदिक संस्कृति और ज्ञान को विदेशी भाषाओं में प्रचारित और प्रसारित करने में अनेक ग्रन्थ जहाँ इन्होंने लिखे वहाँ वेदों के भाष्य का अँग्रेजी अनुवाद भी इनका अद्भुत कार्य रहा।

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध लेखक और विद्वान् पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने अपने इस पुत्र को विज्ञान का विद्यार्थी बनाकर आर्यसमाज और वैदिक धर्म का दीवाना बना दिया । वस्तुतः यह बहुत बड़ा कमाल है। देश की आजादी के संघर्ष में इन्होंने अपनी जवानी के दिन प्यारी मातृभूमि को अर्पित किये हैं । बहुत लम्बी कहानी है इनके ८० वर्षों की। इनको श्रद्धांजलि किस रूप में दें, यह भी हमें गम्भीरता से सोचना होगा । अपने यहाँ प्रचलित यादगार तरीकों पर उन्हें असन्तोष होता था। वे बहुधा कहा करते थे कि मरने की यादगारें बनाकर अपने आर्यसमाज मन्दिर भी मकबरे बन गये हैं । किसी के अच्छे काम की यादगार में तो कुछ नहीं बना। आदमी मकबरों से प्रेरणा लेना चाहता है । गाँधी के उपदेश तो बेकार, नेहरू जी के मस्तिष्क की सृजनता

मन्त्री, परोपकारिणी सभा, अजमेर

तो बेकार, अब गाँधीघाट और शांतिवन ही मानो सब कुछ हैं। ऐसे मकबरों की प्रेरणा हमारे देश में महात्मा बुद्ध के समय से आरम्भ हुई है अन्यथा हमारी प्रेरणा के स्रोत गौतम, कणाद और व्यास की रचनाएं होते रहे हैं । ऋषियों के उपनिषदों से हमें प्रेरणा मिलती रही है। मरे हुए के नाम पर बने मकबरे शिलालेख और बहुत बड़े खर्चे तथा चित्रों पर मालाएँ केवल आत्मसंतुष्टि हैं। इनसे जीवन नहीं बनता।

स्वामी जी के दिल में एक कसक बराबर बनी रहती थी कि मैं सारे संसार में घूमता रहा हूँ, सभी जगह जो आर्य संन्यासी मिले वे सभी भारतीयं वंशज थे । मैं चाहता हूँ कि मेरा आर्यसमाज कालों में, गोरों में और पीलों में पहुँचे तभी यह विश्वधर्म बन सकेगा । कालों से इनका तात्पर्य अफ्रीका आदि देश, गोरों से यूरोप आदि देश तथा पीलों से जापान, चीन आदि देशों के मूल निवासियों से था । उनके इस स्वप्न को हम कहाँ तक, कब तक साकार कर सकेंगे इसकी चिन्ता में नहीं पड़कर अपना एक उद्देश्य स्वीकार कर सकें तो भी श्रद्धांजलि होगी उनके प्रति।

अन्त में अपने कवि हृदय से स्वामी जी की एक कविता से अपने श्रद्धापुष्प अर्पित करता हूँ—

निकली साँस निकल तुम भागे,
अबकी तो तुम ऐसा सोए जिससे कभी न जागे।
चार दिनों का ठाट बाट था चार दिवस की खेती
चार दिनों का ताना बाना अब तो मिट्टी रेती।
चला गया वह रहने वाला रोने वाले रो लो
जाना तुमको भी ऐसे ही बोना हो सो बो लो।
देना हो सो दे लो तुम भी चलाचली की माया
छोड़ चले ज्ञानी अभिमानी वही चला जो आया।
शूरवीर तो वही मर्द है हंसता हंसता जावे
हलका फुलका रहे जगत में जाने पर मुसकाये।

सचमुच में स्वामीजी ने अपनी मुस्कान संसार से जाते समय फोटो कैमरे में बन्द कराकर बिदा ली। अन्तिम क्षणों में उन्होंने अपना फोटो लेने की इच्छा प्रकट की । फिर परिचित मुस्कान से फोटो खिंचवाकर कुछ ही देर में अगले लोक में चले गये । आर्यसमाज मन्दिर बिजनौर में जिनका सन् १९०५ में जन्म हुआ, उनकी अन्त्येष्टि (सन् १९९५) भी आर्यसमाज मन्दिर अमेठी के प्रांगण में की गई । सही अर्थों में अद्भुत संयोग के धनी थे वे, ९० वर्ष की आयु में संन्यासी के गौरवपूर्ण आश्रम में अपनी यात्रा समाप्त कर चिर विदाई ली।

शताब्दी के महानतम वैज्ञानिक एवं विद्वान् : स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

डॉ० आनन्द प्रकाश

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती को यदि इस शताब्दी का महानतम वैज्ञानिक एवं विद्वान् कहा जाये, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के रसायनशास्त्र के वैज्ञानिक होने के साथ ही वेद-ब्राह्मण-उपनिषद्-दर्शन-ग्रन्थों में पारङ्गत विद्वान् उच्च कोटि के भाषाविद् एवं वक्ता, महान् दार्शनिक-चिन्तक-विचारक, बहुसर्जक लेखक, स्वाधीनता सेनानी, विलक्षण प्रतिभा के धनी, महामानव, आदर्श संन्यासी, अनेक उच्चस्तरीय संस्थाओं के निर्माता तथा महर्षि दयानन्द के प्रति दृढ़-आस्थावान् जिन्होंने न तो कभी सिद्धान्तों से समझौता किया और न किसी पद की आकांक्षा की — ऐसे थे स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती। महर्षि दयानन्द ने एक अद्भुत वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, जो मानवमात्र के सर्वतोमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त करती है और जिसके मूल में जीवन के सभी रहस्यों का उत्तर खोजने के लिये तर्क की कसौटी तथा वैज्ञानिक दृष्टि विद्यमान है । महर्षि दयानन्द की इस वैज्ञानिक दृष्टि को विस्तारित करने और सैद्धान्तिक आधार को परिपुष्ट करने का अतुलनीय कार्य स्वामी सत्यप्रकाश जी ने ही किया है। उन्होंने उच्च शिक्षित वर्ग में और अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर आर्य समाज के प्रतिनिधि-प्रवक्ता के रूप में जो सन्देश दिये, उनसे महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों व उनकी वेद-विषयक मान्यताओं का अभूतपूर्व प्रचार हुआ । स्वामीजी ने उच्चस्तरीय साहित्य प्रचुर मात्रा में रचा है, उसे पूरी तरह आत्मसात् करने की क्षमता बहुत कम लोगों में होगी, ठीक उसी प्रकार जैसे कि महर्षि दयानन्द द्वारा दिये गये विश्व मानवता के पूर्ण जीवन-दर्शन को समझने में अभी शताब्दियाँ लगेगीं।

मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भैषजिक रसायनशास्त्र का प्राध्यापक हूँ । स्वामी सत्य प्रकाश जी इस विश्वविद्यालय में प्रायः आया करते थे । पहले परीक्षक बनकर आते थे । संन्यास ग्रहण करने के उपरान्त विशेष व्याख्यान देने और विचार गोष्ठियों में भाग लेने हेतु वे कई बार पधारे । इस विश्वविद्यालय में पधारने पर मैं प्रायः उनके साथ ही रहता था। विज्ञान, प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति, मुद्राविज्ञान, भारतीय वाङ्मय एवं दर्शन, आभियान्त्रिकी एवं तकनीकी, साहित्य एवं कला पुरातत्त्व, भारतीय शास्त्र, चिकित्साशास्त्र तथा भाषाविज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न विभागों में जाकर वे अपने शिष्यों और उन विषयों के विद्वानों से मिलते थे। इन विषयों का उनका विशद अध्ययन, चमत्कृत कर देता था। अंधविश्वासों और अवैज्ञानिक मान्यताओं का खण्डन करने में वे कभी भी नहीं चूकते थे। मैंने स्वामी जी (उस समय प्रोफेसर सत्य प्रकाश जी) के प्रथम दर्शन सन् १९६३ में किये, जब वह मेरे भौतिक रसायनशास्त्र के बाह्य व्यावहारिक परीक्षक बनकर आये थे। मेरे गुरु तथा अन्तरंग परीक्षक, प्रोफेसर गोरख प्रसाद श्रीवास्तव, जो स्वयं स्वाधीनता सेनानी और स्वामी सत्यप्रकाश जी के घनिष्ठ मित्र थे, जानते थे कि मैं आर्यसमाजी हूँ। अतः उन्होंने स्वामी जी को स्टेशन से लाने और स्टेशन पर छोड़ने का भार मेरे ऊपर छोड़ा। स्टेशन से विभाग तक आने में एक घंटा लगा होगा । इस अवधि में स्वामी जी ने मेरा पूरा परिचय जान लिया, परन्तु आर्यसमाज के बारे में कोई चर्चा नहीं की । मैं उस समय विद्यार्थी जीवन में भी विश्वविद्यालय परिसर स्थित छात्रावासों में आर्यसमाज का सत्संग लगाया करता था । अतः स्वामीजी से

रीडर, फार्मास्युटिक्स विभाग, बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं संयुक्त मन्त्री, अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ,

कोई सन्देश जरूर प्राप्त करना चाहता था । इसी उद्देश्य से स्वामी जी को स्टेशन छोड़ने जाते समय, उनसे आर्यसमाज के सम्बन्ध में प्रेरणादायक सन्देश देने की पुनः याचना की । फिर तो स्वामी जी ने खुलकर आर्यसमाज के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की, जिसका सार मुझे आज भी स्मरण है, जो इस प्रकार था, ''आर्यसमाज किसी चहारदीवारी में बन्द संस्था नहीं, अपितु एक श्रेष्ठ वैचारिक आन्दोलन और मानव निर्माण योजना है - स्वयं आर्यसमाजी बने बगैर दूसरे को आर्यसमाजी नहीं बनाया जा सकता - छोटी अवस्था (विद्यार्थी जीवन) में यदि आर्यसमाज की निकटता मिल जाये, तो प्रतिभा का कई गुना विकास हो जाता है - सर्वत्र अंधविश्वास फैला है, इससे बचते रहना जरूरी है - नित्य, निरन्तर स्वाधाय के बगैर कोई व्यक्ति आर्यसमाजी बन ही नहीं सकता - जीवन में चाहे जितनी बाधायें आयें, आर्यसमाज के कार्य को कभी मत छोड़ना।'' फिर स्टेशन पर विदा होते समय उन्होंने एक रुपये का सिक्का दिया और स्नेहपूर्वक एक चपत भी लगायी।

विज्ञान और अध्यात्म का अद्भुत समन्वय हम उनके जीवन में पाते हैं । वे कहा करते थे कि ''मैं आर्यसमाजी हूँ, इसीलिये मुझे विज्ञान प्रिय है और चूँकि मैं विज्ञान का छात्र हूँ, इसलिये मुझे आर्यसमाज से प्यार है ।'' आर्यसमाज को पुरोहितवाद और रूढ़िवाद से बचाने तथा इसके गतिशील आन्दोलनात्मक स्वरूप को बनाये रखने के वे पक्षधर थे । स्वामी जी के साहित्य में एक अद्भुत प्रेरक जीवनी-शक्ति समाहित है । उनका साहित्य वास्तव में भावी पीढ़ी के लिये प्रेरणा स्रोत रहेगा । महापुरुषों की कीर्ति को स्थायी बनाने के लिये आज बड़े-बड़े स्मारक और समाधियाँ तो बनायी जाती हैं, परन्तु उनके विचारों और आदर्शों को लोग भूल जाते हैं । स्वामी जी की अमूल्य धरोहर उनके द्वारा रचित साहित्य है, जिसका विश्व-व्यापी प्रसार होते रहना चाहिये। स्वामी जी के मन में यह पीड़ा थी कि भारत के बाहर भारतीय मूल के लोगों में ही आर्यसमाज का प्रचार सीमित है। इसे काले-गोरे-पीले लोगों में भी फैलना चाहिये । इस दिशा में भी कार्य होना चाहिये। महर्षि दयानन्द की मान्यताओं के अनुरूप, उच्च शिक्षित वर्ग में वेदों का सन्देश प्रसारित करने के लिये उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ की स्थापना की । इस वेदपीठ के अन्तर्गत चलाये जा रहे कार्यों को करते रहना भी, स्वामी जी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने का एक सार्थक प्रयास है।

डॉ० सत्यप्रकाश से स्वामी सत्यप्रकाशानन्द तक की जीवन यात्रा

डॉ० जगदीश गुप्त

मेरा कानपुर से प्रयाग आना एक ऐसा संदर्भ है जिसके अनेक सांस्कृतिक आयाम हैं। शाहाबाद, हरदोई से मेरा जीवनक्रम आरम्भ हुआ और विभिन्न परिस्थितियों में वह देहरादून, सीतापुर, नैमिषारण्य, मुरादाबाद, कानपुर और अंततः इलाहाबाद मेरे जीवन क्रम का वह रूप हुआ जिसके बाद मेरी गतिशीलता स्थायी निवास में बदल गयी । यहाँ के विश्वविद्यालय में आने के बाद मेरे प्रेरक गुरुवर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा शिक्षा गुरु ही नहीं सांस्कृतिक दिशाबोध के भी प्रेरक सिद्ध हुए। एम०ए० में धर्मवीर भारती और फादर कामिल बुल्के मेरे सहपाठी थे और शोध कार्य भी डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में ही हम लोगों ने किया । डॉ० धर्मवीर भारती को 'सिद्ध-साहित्य' और मुझे 'गुजराती तथा ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य' का विषय निर्धारित हुआ । फादर कामिल बुल्के 'रामकथा' पर शोध करने के लिए संकल्पशील हुए अतएव उन्हें डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में कार्य करने का अवसर मिला जो तुलसी के विशेषज्ञ थे। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से मेरी प्रवृत्ति का आकलन करते हुए मुझे विशेष प्रश्नपत्र के रूप में तुलसीदास पढ़ाने का दायित्व सौंपा जिससे मैं आजीवन जुड़ा रहा।

मैंने गुजराती और ब्रजभाषा के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जो वस्तुतः हिन्दीशोध के इतिहास में सर्वप्रथम संकल्प था। दूसरा कार्य डॉ० सत्यप्रकाशजी की पत्नी श्रीमती रत्नकुमारी जी ने हिन्दी और बंगला भक्तिकाव्य के संदर्भ में सम्पन्न किया। हिन्दी विभाग में यह द्वितीय तुलनात्मक शोध कार्य था जिसके बाद तुलनात्मक अध्ययनों की एक विचारश्रृंखला बन गयी जिसमें आज तक अनेक कड़ियाँ जुड़ती जा रही हैं।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और डॉ० बाबूराम सक्सेना दोनों संस्कृत विषय लेकर नये शिक्षासंकल्पों के साथ उत्तीर्ण हुए। कालान्तर में एक हिन्दी विभाग का संस्थापक अध्यक्ष बना और दूसरा संस्कृत विभाग के संचालन के गौरवपूर्ण दायित्व का वहन करने लगा। आर्यसमाजी और पारिवारिक संस्कार और नवजागरण की मानसिकता पूरित डॉ० सत्यप्रकाश जी को भी इस कार्य में विशेष उत्साह मिला । उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय मेधा लेकर नितांत सादे वेश में रसायनशास्त्र को अपना प्रेरणा स्रोत बना लिया। अनेक पुस्तकें और अनेक शोधपत्र उनके कीर्तिमान हैं। उनके शोध-छात्र पूरे देश में ही नहीं विदेशों में भी सम्मान पा चुके हैं।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने पेरिस जाकर फ्रेंच भाषा में अपना शोध प्रबन्ध ब्रजभाषा पर प्रस्तुत किया जो आज हिन्दी में प्रकाशित हो चुका है। डॉ० बाबूराम सक्सेना और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा दोनों ने हिन्दी में भाषा विज्ञान को एक नये क्षेत्र के रूप में समृद्ध किया, जैसे डॉ० धीरेन्द्र जी ने ब्रजभाषा को शोध का विषय बनाया उसी तरह डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अवधी को भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया । वैज्ञानिक दृष्टिकोण इन तीनों महानुभावों में दृष्टिगत होता है। सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श गाँधीयुग की अनुकरणीय विशेषता थी । श्रीमती महादेवी वर्मा जी भी डॉ० बाबूराम सक्सेना के परिवार से जुड़ी हुई थीं और उनका भी संस्कार प्रधानतया आर्यसमाजी था।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद(अवकाश प्राप्त)

सनातन धर्म और आर्यसमाज का वैचारिक द्वंद्व मुझे होश संभालते ही झेलना पड़ा । अपनी जन्मभूमि शाहाबाद में ये विचार संघर्ष मेरे किशोर मन पर छाया रहा, पारिवारिक संस्कार सनातन धर्मी थे किन्तु आधुनिक प्रवृत्ति आर्यसमाज की ओर ले जाती थी, उस समय के वातावरण में ये वाक्य गूँजता था, —'तुम करो खण्डन हम करें मण्डन, देखें कौन पिटे जम दण्डन' । बड़े-बड़े व्याख्यानदाता बुलाये जाते थे नगरकीर्तन निकलता था और दोनों के अधिवेशन अद्वितीय उत्साह के साथ सम्पन्न होते थे। जब तक मैं शाहाबाद रहा वहाँ के जीवन का ये पक्ष मेरी शिक्षा का अंग बन गया। देहरादून में पिताजी की मृत्यु के बाद मेरी माताजी ने स्वामी नारदानन्द से दीक्षा ले ली और वर्णाश्रम धर्म के पुनरुत्थान में अपने को समर्पित कर दिया । उनका मार्ग भक्ति मार्ग था, जबकि आर्यसमाज महापुरुषवाद की प्रतिष्ठा में विश्वास करता था, अवतारवाद में नहीं । पुराण साहित्य आर्यसमाजियों के लिए त्याज्य था क्योंकि वह मूर्तिपूजा का प्रेरक था जिसके साथ अनेक अंधविश्वास लोकव्यापी मान्यता पाते रहे । सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ स्वामी दयानन्द जी के द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज की विचारधारा का धार्मिक ग्रन्थ सिद्ध हुआ जो मूलतः हिन्दी में लिखा गया। जबकि स्वामी दयानन्द गुजराती भाषी थे । एक प्रकार से हिन्दी को अखिल भारतीय मान्यता देने का संकल्प आर्यसमाज ने किया और उसकी शिक्षा नीति में वैदिक साहित्य, संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में हिन्दी की प्रधानता को सम्मान दिया गया।

नवजागरण की चेतना राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज से क्रान्तिकारी रूप में लोक व्याप्त हुई। सतीप्रथा का उच्छेद उन्हीं के द्वारा सम्भव हुआ । नारी को वेदपाठ का अधिकार देने में आर्यसमाज भी पीछे नहीं रहा।

धर्म परिवर्तन के मामले में जो कार्य मध्यकाल में हिन्दू अस्मिता की जागृति में हुआ वह आर्यसमाज के लिए कीर्तिमान बना। विधर्मी धर्मभ्रष्ट करके बलात् हिन्दुओं को मुसलमान बनाते थे। उस समय रामानन्द, रैदास, कबीर आदि के द्वारा ऐतिहासिक क्रांति के साथ-साथ धार्मिक क्रांति भी घटित हुई । आर्यसमाज ने विधवा विवाह और शुद्धीकरण का साहसपूर्ण संकल्प करके देशव्यापी धार्मिक क्रांति कर दी, जिसका हमारे जीवन पर स्थाई प्रभाव पड़ा।

गुरुकुल प्रणाली का शिक्षा में स्वीकार नयी जीवन दृष्टि का परिचायक था। कट्टरता, उदारता और मध्यमार्ग लोक जीवन में तीनों का अनुसरण किया जाता है किन्तु स्त्री, पुरुष की समानता के सम्बन्ध में भारतीय समाज कभी उतना उदार नहीं हो सका कि भारतेन्दु की मान्यता के अनुसार 'नारी नर सम होंहि' की स्थापना कर पाता । आज भी हमारा सांस्कृतिक जीवन नर-नारी के विभेद को अधिक रेखांकित करता है, एकता को कम। डॉ० सत्यप्रकाश के जीवन में ऐसे कितने प्रसंग आये हैं जिनमें उनकी उदार जीवन दृष्टि कट्टरता से आक्रांत हुई । संन्यास ग्रहण करने से पहले यह समस्या इतनी कठोर नहीं थी, पर उसके बाद सचमुच उनके अस्तित्व का प्रश्न बन गया । डॉ० बाबूराम सक्सेना अंतिम जीवन में उनके कटु आलोचक बन गये क्योंकि वे जीवन की सहज वृत्तियों को अनुशासन की दृष्टि से ही देखते थे। आहार, निद्रा, आदि को सहज जीवन के रूप में वे ग्रहण नहीं कर सके थे। जबकि आचार्य रजनीश का जीवन दर्शन ''सम्भोग से समाधि तक'' को भिन्न दृष्टि से देखता है । यदि कोई आर्यसमाजी प्रयोगशीलता का मार्ग अपनाता है तो उसे न दण्डनीय कहा जा सकता है और न तिरस्करणीय । भिन्न विचार अवश्य हो सकते हैं, जैसा निरन्तर होता रहा है। आधुनिक युग मानवता को नैतिकता से ऊपर स्थान देता है, किन्तु गाँधीयुग तथा आर्यसमाजी आन्दोलन नैतिकता को सर्वोपरि मानता रहा है।

मैं कविदृष्टि से जीवन को देखना अधिक उचित समझता हूँ। ''इन्हें विकार नहीं मनुष्य के साथ उपजे बढ़े, उसके ही सहोदर बन्धु के रूप में देखा जाय तो देवासुर संग्राम अपने भीतर के जीवन का ही रूप दिखाई देता है । ईसाई जीवन दृष्टि मानव जन्म को ही पाप मानती हैं, जबकि भारतीय जीवन दृष्टि उसे उत्सव के रूप में देखती है जहाँ पाप की छाया भी नहीं है।

हनुमान की जन्म कथा के संदर्भ में फादर कामिल बुल्के भारतीय हिन्दी परिषद् की एक विचार गोष्ठी में पौराणिक प्रसंगों का उल्लेख श्रुति में कर रहे थे जो डॉ० सत्यप्रकाश को असह्य हो गया। एक तो यह आर्यसमाज को ग्राह्य नहीं है, फिर अपने देवताओं की जन्म कथा जिस तरह पुराणों में वर्णित है, वह उन्हें कदापि स्वीकार्य नहीं था । मैं इस घटना का साक्षी हूँ। डॉ० बाबूराम सक्सेना और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा सभी उपस्थित थे। बड़ी कठिनाई से फादर बुल्के अपना निबन्ध पढ़ सके।

नागबासुकी मन्दिर और अलोपीबाग में स्वामी दयानन्द जिन दिनों रहे इसकी स्मृति को स्वामी सत्यप्रकाश ने शिलांकित करा दिया। नागबासुकी मन्दिर में वह शिलापट्ट उनकी प्रेरणा और मेरे सहयोग से सम्पन्न हुआ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में विज्ञान परिषद् में जब वे संन्यासी होकर भी लेखन-मनन में संलग्न रहते थे तभी स्वामी दयानन्द की शताब्दी का स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित करने का दायित्व उन्हें मिला। उन्होंने मुझसे भी सहयोग चाहा और मैंने भारतीय मूर्तिकला विषयक खोजपूर्ण लेख लिख दिया, संकोच था कि वे उसे स्वीकार करेंगे या नहीं, पर उनकी उदारता और तत्त्वदर्शी जीवन दृष्टि विज्ञान के रूप में जीवों को देखने की उनकी प्रवृत्ति ऐसी सिद्ध हुई कि मेरा लेख गौरव के साथ प्रकाशित हुआ । इस समय रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान द्वारा १९८३ में प्रकाशित 'महर्षि दयानन्द और मूर्तिपूजा' नामक लघुशोध पत्र सामने है, जो मेरे कथन को चरितार्थ करता है। इसी तरह 'महर्षि दयानन्द और भागवत धर्म' भी पठनीय है क्योंकि श्रीमद्भागवत हिन्दू धर्म का कीर्तिमान ग्रन्थ रहा है । अन्तिम पुराण होने के कारण उसकी देशव्यापी मान्यता भी अभी तक लोकप्रिय है फिर भी वैचारिक मतभेद आर्यसमाज से अभी तक बना ही है । महर्षि दयानन्द और भारतीय नारी, महर्षि दयानन्द और प्राचीन परम्पराएँ डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान के अन्य प्रकाशन भी द्रष्टव्य हैं जो ये सिद्ध करते हैं कि स्वामी सत्यप्रकाशानन्द और उनकी प्रेरणा के रूप में डॉ० रत्नकुमारी हम लोगों के बीच आज भी सम्माननीय हैं और अविस्मरणीय भी।

विजयते सत्यप्रकाशो यतिः

पद्मश्री डॉ० कपिलदेवः द्विवेदी

शास्त्राम्भोधि-विगाहने कृतमतिः, सद्धर्मचेताः सुधीः,
वेदार्थे निपुणः, श्रुतौ श्रुतगतिः, शास्त्रार्थचिन्तापरः ।
विज्ञाने च रसायने दधदयं, नैपुण्यमाह्लाददम्,
स्वर्यातो यशसा विराजत इह, सत्यप्रकाशो यतिः ।।१।।

[शास्त्ररूपी समुद्र के अवगाहन में दत्तचित्त, धर्मनिष्ठ, विद्वान्, वेदों के अनुवाद में निपुण, श्रुतियों के अर्थज्ञ, शास्त्रज्ञान में तल्लीन, विज्ञान में तथा विशेष रूप से रसायन शास्त्र में विशिष्ट दक्षता प्राप्त, श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती दिवंगत होने पर भी अपने यश से इस लोक में विराज़मान हैं।]

आर्याणां धुरमावहन् मतिमतां, देशे विदेशे कृती,
वेदज्ञान-प्रभा-प्रसारणपरः, सत्कर्मनिष्ठो व्रती ।
संन्यस्याऽऽत्त-प्रभूत-वैभव-चयं, लोकोद्धृती तत्परः,
सत्यस्यैव प्रकाशको विजयते, सत्यप्रकाशो यतिः ।।२।।

[आर्य विद्वानों में अग्रगण्य, देश और विदेश में वेदज्ञान की ज्योति के प्रसारक, सत्कर्मनिष्ठ, व्रती, अपनी समस्त संपत्ति का परित्याग करके लोक कल्याण में तत्पर, सत्य के प्रकाशक श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती धन्य हैं।]

प्राच्यं चैव प्रतीच्यमेव सकलम्, अध्यैष्ट शास्त्रादिकम्,
व्याख्यायैव श्रुतेर्महत्त्वमखिलं, योऽगाद् बुधामग्रताम् ।
मातुर्गौरवमाश्रयन् स्वकलया, गंगाप्रसादाऽऽप्तधीः,
लोके स्थास्नु यशः किरन् विजयते, सत्यप्रकाशो यतिः ।।३।।

[उन्होंने भारतीय और पाश्चात्त्य शास्त्रों का अध्ययन किया था । वेदों के महत्त्व का विशद वर्णन करके वे विद्वन्मूर्धन्य हुए। उन्होंने अपनी माता कलावती से कलाविषयक गौरव प्राप्त किया और अपने पिता पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय से विद्या-वैभव पाया। इस प्रकार संसार में अपना स्थायी यश फैलाकर श्री स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती विख्यात हुए।]

निदेशक, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही) एवं कुलपति, गुरुकुल एम० वी० ज्वालापुर, हरिद्वार (भू० पू०)

विज्ञानं निखिलं तु यत् शतपथे, शुल्बादिके वर्तते,
सर्वं तद् विशदीकृतं शुभधिया, स्वीये तु भाष्यादिके ।
संपाद्याऽऽर्यगिरा व्यलेखि सुधिया, विज्ञानज्ञानावली,
विद्वद्वृन्द-शिरोमणिर्विजयते, सत्यप्रकाशो यतिः ।।४।।

[शतपथ-ब्राह्मण और शुल्बसूत्रों आदि में जो वैज्ञानिक तथ्य प्राप्य हैं, उनका उन्होंने अपने भाष्यों में पूर्ण स्पष्टीकरण किया है । उन्होंने हिन्दी में 'विज्ञान' नामक पत्रिका का संपादन करके उसमें वैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखे । इस प्रकार विद्वन्मूर्धन्य श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती यशस्वी हुए।]

येनाकारि तपो महत् श्रुतिसुधा-संप्राप्तये जीवने
येनाधारि धृतिर्विषाद - बहुले कारादिके सन्ततम् ।
योगीवाऽऽत्मगुणोच्चयेन सततम्, आह्लादमावर्षयन्,
शुद्धाऽऽचार-विचार-भाग् विजयते, सत्यप्रकाशो यतिः ।।५।।

[जिन्होंने वेदामृत की प्राप्ति के लिए जीवन में महान् तप किया और स्वाधीनता संग्राम में कष्टप्रद जेल आदि में अपने धैर्य का परिचय दिया एवं एक योगी के तुल्य जिन्होंने अपने सद्गुणों के द्वारा सर्वत्र आनन्द की वर्षा की, ऐसे शुद्ध आचार-विचार वाले स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती धन्य हैं।]

वेदानां तु चतुष्टयस्य व्यदधाद्, आंग्लानुवादं सुधीः,
वेदाङ्गेष्वपि दक्षतां दधदयं, वेदात्मताम् आप्तवान् ।
ज्ञानोद्रेक-विधूत - कल्मष - चयः, सद्भाव-भूषाऽन्वितः,
त्यागेनाऽऽप्त-गुणोदयो विजयते, सत्यप्रकाशो यतिः ।।६।।

[उन्होंने चारों वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया और वेदांगों में भी दक्षता प्राप्त की। इस प्रकार वे वेदमूर्ति हुए । उन्होंने अपने ज्ञानोत्कर्ष से सभी पापों को धो दिया था। वे सज्जनता से अलंकृत थे। उन्होंने अपनी त्याग-भावना से गुणोत्कर्ष प्राप्त किया था। ऐसे स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती को यह श्रद्धांजलि अर्पित है।]

सत्य की खोज में प्रदीप्त प्रकाश पुञ्ज

प्रेम शंकर गुप्त

अर्ध शताब्दी होने को आई, १६४६ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बी० ए० छात्र के रूप में सर सुन्दर लाल छात्रावास के एच ब्लाक स्थित अपने कमरे की खिड़की से पीछे वाली काली सड़क पर प्रायः सुबह शाम मझोले कद वाले एक सौम्य चश्माधारी व्यक्ति को सर पर गाँधी टोपी, बदन में ढीला ढाला लम्बा खद्दर का कुरता, खद्दर की ही धोती धारण किये, पाँव में चप्पल पहिने, अधिकतर पैदल, कभी-कभी सायकिल पर आते जाते देखा करता था। सुबह के समय कटरा पानी टंकी चौराहे की ओर से आता हुआ वह व्यक्ति विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार के सामने म्योर-कालिज की ओर जाने वाली ''यूनिवर्सिटी रोड'' पर मुड़ जाता और शाम को विपरीत दिशा में लौटता दिखाई पड़ता था। सड़क पर गुजरते राहगीरों के सादर अभिवादन का मन्द मुस्कान के साथ जोर से ''नमस्ते'' कह कर उत्तर देता हुआ वह निर्विकार भाव से अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता चला जाता था । बाह्य रूप से इसमें कोई विशेष आकर्षण न होते हुए भी पता नहीं क्यों मेरे मन में उसके प्रति आदर भाव सहज ही जागृत होने लगता था।

एक शाम मैं अपने एक विज्ञान के विद्यार्थी मित्र, सह छात्रावासी के साथ हास्टल से घूमने निकला, देखा वही महानुभाव छात्रावास अधीक्षक के आवास के फाटक से यूनिवर्सिटी रोड पर निकले । पास पहुँचने पर अपने मित्र के साथ-साथ ही मेरे भी दोनों हाथ उनके अभिवादन में जुड़ गए और मैंने भी उनका सादर नमन किया। मन्द मुस्कान के साथ ही नमस्ते का सम्बोधन उनके मुख से प्रस्फुटित हुआ और वह अपने गन्तव्य की ओर बढ़ गए । थोड़ा चलकर जब मैंने अपने मित्र से उनके बारे में पूछा तो उसने विस्मय से मेरी ओर देखकर कहा—अरे ! तुम नहीं जानते, यह रसायनशास्त्र के सुप्रसिद्ध प्रवक्ता डॉ० सत्य प्रकाश थे। यूनिवर्सिटी में नया-नया होने व कला संकाय का छात्र होने के कारण इस ना जानकारी पर मैं स्वयं सकुचा गया। यह था मेरा डॉ० सत्य प्रकाश से प्रथम एकांगी परिचय। फिर तो विद्यार्थी जीवन और उसके पश्चात् भी उनसे इतनी बार विभिन्न रूप से मिलना हुआ कि हम दोनों एक दूसरे के लिए अपरिचित नहीं रह गये। मुझे आज भी इस बात का गर्व है कि मैंने उनको अच्छी तरह देखा, जाना व पहचाना व उनकी कृपा का भी रसास्वादन किया । अन्तिम बार मैंने उनके दर्शन कुछ ही वर्ष पूर्व संन्यासी रूप में किए जब वह मेरे एक बन्धु न्यायाधीश की मातृ श्री के 'शान्ति यज्ञ' में प्रवचन हेतु पधारे थे। गुरु गम्भीर वाणी में प्रदत्त उनका वह उद्‌बोधन आज भी मैं विस्मृत नहीं कर सका हूँ । प्रयाग विश्वविद्यालयीय गगन को प्रारम्भ से ही न जाने कितने देदीप्यमान नक्षत्रों ने आलोकित कर महिमामण्डित किया है । उन दिनों पं० अमर नाथ झा उपकुलपति थे । प्रत्येक संकाय में देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् जिज्ञासुओं का मार्ग दर्शन करते थे। विज्ञान संकाय में जहाँ एक ओर भौतिकी में राष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक सर के०एस० कृष्णन् विभागाध्यक्ष के रूप में आसीन थे, वहीं रसायन में स्वनामधन्य डॉ० नील रतन धर विभाग की बागडोर सँभाले हुए थे । प्राचार्य धर के कृपापात्र छात्र के रूप में मार्गदर्शन प्राप्त मेधावी वैज्ञानिक सत्यप्रकाश जी उस समय

न्यायमूर्ति, उच्च न्यायालय, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

लगभग १५-१६ वर्ष से रसायनशास्त्र विभाग में अध्यापनरत थे। एटा जनपद के मूल निवासी बिजनौर में जन्मे डॉ० सत्य प्रकाश का सौभाग्य था कि उनकी सम्पूर्ण शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुई जहाँ २२ वर्ष की आयु में १६२७ में एम० एस-सी० पासकर वह शोध कार्य में जुट गये और तीन वर्ष में सन् १६३० में अध्यापक मण्डल में प्रविष्ट होकर १६३२ में डी०एस-सी० की उपाधि से अपनी मेधा एवं कठिन परिश्रम के आधार पर विभूषित किए गए । ३७ वर्षों की लम्बी साधना के उपरान्त १६६७ में यद्यपि वह विश्वविद्यालय के रसायन विभाग से प्रोफेसर पद से सेवा निवृत्त हुए परन्तु उसके अनन्तर भी विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग में ५ वर्ष तक शोधकार्य में प्रवृत्त रहे । उन्होंने गुरु कृपा का भार न केवल सहस्त्रों विद्यार्थियों को ज्ञान दान देकर उतारने के प्रयास से किया वरन् बीस से अधिक शोधार्थियों का सक्रिय पथ प्रदर्शन कर उन्हें स्वावलम्बी बना पी-एच०डी० अथवा डी०एस-सी० की उपाधियाँ उपार्जित करा गुरु ऋण से उऋण होने का श्लाघनीय कार्य किया। आज उनके यशस्वी छात्र उनकी कीर्ति की ध्वजा दूर-दूर तक फहरा रहे हैं।

उनका व्यक्तित्व निःसन्देह बहुआयामी था, उन्होंने जिस क्षेत्र में पदार्पण किया, वहीं कीर्तिमान स्थापित किए । जितने उच्च कोटि के वे वैज्ञानिक थे उतने ही श्रेष्ठ विज्ञान अध्यापक । उनकी प्रतिभा सर्वोन्मुखी थी । रसायनशास्त्र में जहाँ वह कार्बनिक रसायन के विशेषज्ञ थे, वहीं उन्होंने अकार्बनिक रसायन विषय पर प्रमुख पुस्तकें लिखीं । अध्यापन वह भौतिकी रसायन का करते थे जबकि उनका शोध कृषि रसायन पर आधारित था । एक लेखक के रूप में उन्होंने वाङ्मय को अनेक रूपों में समृद्धशाली बनाया । उन्होंने अपने जीवन में एक सौ से अधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया । साहित्य के क्षेत्र में वे सदैव स्मरण किए जावेंगे। हिन्दी साहित्य, वैदिक साहित्य एवं वैज्ञानिक साहित्य के सृजन में उन्होंने समान रूप से योगदान किया । हिन्दी में मौलिक रूप से वैज्ञानिक साहित्य का सृजन कर हिन्दी भाषी विद्यार्थियों को उन्होंने उस समय अपने लेखन से पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध कराई जबकि हिन्दी में विज्ञान की पुस्तकों का अस्तित्व लगभग न के बराबर था । उन्होंने न केवल विज्ञान परिषद् की संस्थापना की वरन् हिन्दी में वहाँ से 'विज्ञान' अनुसन्धान पत्रिका निकाल कर एक लम्बे काल तक प्रमुख सम्पादकत्व का भार वहन किया । उन्होंने हिन्दी में विभिन्न विधाओं में रचना की । रसमयी कविता से लेकर शुष्क शब्द कोष का सृजन कर उन्होंने हिन्दी साहित्य के भण्डार की श्री वृद्धि की।

वैदिक संस्कार तो उन्हें पूर्वजों से ही परम्परा में मिले थे । उनके पिताश्री स्वनामधन्य श्री गंगा प्रसाद उपाध्याय वैदिक संस्कृति एवं साहित्य के महान् साहित्यकार थे। उनकी स्नेहमयी जननी कलावती देवी ने उन्हें भारतीय संस्कृति घुट्टी में पिलाई थी। उन्होंने वैदिक साहित्य के संवर्धन हेतु अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया। कृतज्ञ हिन्दी संसार ने उनके योगदान का आभार प्रदर्शन कई बार उन्हें विभिन्न रूप से साहित्यिक सम्मान व अलंकरण प्रदान कर किया।

मानव सेवा में सतत् संलग्न सत्यप्रकाश जी एक प्रखर राष्ट्रवादी थे । उन्होंने खादी का वरण नेतागीरी के लिए नहीं वरन् स्वदेशी भावनाओं से ओत-प्रोत होकर सदाचार के चरमोत्कर्ष पर पहुँच मानवता की सेवा के अंग के रूप में किया जिसे जीवन पर्यन्त निभाया । गाँधी जी से प्रभावित हो न केवल उन्होंने चरखा काता वरन् स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर १६४२ में कारागार की यातनाओं को भी सहा । दयानन्द एवं गाँधी के सच्चे अनुयायी के रूप में वैदिक परम्पराओं का पालन कर उन्होंने अपने जीवन में ऐसे आदर्श प्रस्तुत किये जिन्हें घटित हुए यद्यपि अभी केवल दशकों की संख्या ही व्यतीत हुई है पर वे आज युगों बीती घटनाएँ प्रतीत होने लगी हैं।

एक सफल और आदर्श गृहस्थ होते हुए भी वे प्रारम्भ से ही वीतरागी साधु थे। जब उन्होंने संन्यास ग्रहण किया तब उनके एक पूर्व छात्र व अन्ततः उनके विभागीय सहयोगी ने उनसे कहा कि श्रीमन्! संन्यास ग्रहण करने का यह कर्मकाण्ड आपके लिए तो केवल एक औपचारिकता मात्र ही है आप तो न जाने कब से संन्यासी हो चुके हैं । एक ओर जहाँ उन्होंने अपने कुटुम्बियों और सम्बन्धियों को अपार स्नेह दिया वहीं उनके स्नेहभाजनों एवं कृपापात्रों की संख्या इतनी बढ़ गई कि उनका परिवार असीमित हो गया। उन्होंने वैदिक संस्कृति और परम्पराओं का पालन करते हुए सद्गृहस्थ, सत्पुरुष, सद्गुरु एवं सत्साधु के रूप में मानदण्ड स्थापित किये।

उन्होंने कर्मठता से लगभग चौबीस वर्षों का तेजस्वी संन्यासी जीवन व्यतीत कर गत जनवरी 1995 में इस नश्वर संसार से महाप्रयाण कर मानव जीवन को सार्थकता प्रदान की।

जिज्ञासु सत्यप्रकाश से स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती की सत्य की खोज में समर्पित जीवन यात्रा इतनी तेजोमय रही कि उसके प्रकाशपुञ्ज से अनेकानेक जिज्ञासुओं के मार्ग सहज ही आलोकित हो गये।

ऐसे वर्चस्वी, मनस्वी, तेजस्वी महामानव को शत-शत नमन।

स्वामी सत्यप्रकाश : कुछ मीठी यादें

फादर धीरानन्द भट्ट

लगभग ३० वर्ष पहले महान् आत्मा स्वामीजी के सम्पर्क में आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके सम्पर्क में आने से और क्रमशः उनसे निकट सम्बन्ध जोड़ने से अपने जीवन के कई पहलुओं में मैं समृद्ध हुआ। उनका मेरे प्रति इतना स्नेह था कि उन्होंने मेरे साथ आत्मीयता का जो व्यवहार किया है उसके सुखद अनुभव का संस्मरण ताजा है और मैं उसे कभी नहीं भूल सकता।

स्वामी सत्यप्रकाश के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के विषय में मैं प्रकाश डालने का प्रयास करूँ तो सूरज को दीपक दिखाने की तरह होगा। अतः केवल व्यक्तिगत संस्मरण जो मुझे प्रेरणा दे रहे हैं उन्हीं को लिखना उचित समझता हूँ।

मेरे पहले की उनसे भेंट में मैंने उन्हें एक बड़े विद्वान् के रूप में देखा था। वे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक थे और साथ ही अन्य विषयों का ज्ञान भंडार भी । सत्य की खोज उनका लक्ष्य था। ईश्वरीय ज्ञान और दुनिया का ज्ञान विशेषकर ईश्वर की सृष्टि की वैज्ञानिक शोध में वे निरन्तर लगे रहे । उन्होंने विज्ञान और धर्म के बीच सामंजस्य स्थापित किया । न तो धर्म विज्ञान का विरोधी है और न ही विज्ञान धर्म के विरोध में हो सकता है। धर्म विज्ञान का स्रोत है। एक स्तर के सत्य और एक स्तर के सत्य के बीच विरोधाभास नहीं है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि स्वामीजी का व्यक्तित्व ही विज्ञान और धर्म के बीच सामंजस्य का उदाहरण स्वरूप है। आध्यात्मिक और धर्मात्मा होते हुए भी विज्ञान के प्रति उनकी इतनी निष्ठा थी कि संन्यास लेने के बाद भी वैज्ञानिक अनुसंधान सदा चलता रहा । वैज्ञानिक अनुसन्धान उनकी आध्यात्मिकता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष रहा । वे संन्यास लेने के बाद भी विज्ञान के छात्र-छात्राओं के शोध कार्य का निर्देशन करते रहे। जब कभी मैं कटरा के आर्य समाज मन्दिर में उनसे भेंट करने जाता था तब वहाँ उनके छात्र-छात्राओं से मिलता था। वे छात्र-छात्राओं को केवल शोध कार्य में निर्देशित नहीं करते थे, बल्कि उनके निर्माण, धार्मिक ज्ञान और ईश्वर अनुभूति के लिये भी सहायता करते थे और यथासम्भव उनका हित भी करते थे। भारतीय शिक्षा पद्धति की गुरु-शिष्य परम्परा को उन्होंने जारी रखा।

भारतीय विज्ञान के इतिहास के ग्रन्थ तथा वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थों द्वारा भारत की निधि को उन्होंने हमें प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाएँ भारत के लिये ही नहीं, बल्कि दुनिया के लिये बड़ी विरासत हैं।

मानवीय पक्ष :

संन्यास लेने के बाद भी दुनिया की बातों से विरक्त होने तथा अनासक्ति रखने पर भी उनका व्यवहार ऐसा था कि उसमें मानवीय पक्ष की उपेक्षा व अवहेलना नहीं थी । सभी लोगों के सुख-दुःख, चिंताएं और आशाएं उनकी बनीं और वे सबके प्रति संवेदनशील रहे । वे मजाक करना भी पसन्द करते थे। बिशप बैप्टिस्ट मुदार्था और मैं उनसे मुलाकात करने जाते थे। इसलिये जाते थे कि हमें उनका संग अच्छा लगता था और स्नेहपूर्ण स्वागत भी होता था तथा विचारोत्तेजक बातचीत होती थी । इसके

डायरेक्टर, जिज्ञासु केन्द्र, इलाहाबाद

अतिरिक्त मिठाई, फल खिलाते थे व अच्छी काफी पिलाते थे । विज्ञान-परिषद् के निकट कुटीर में वृद्धावस्था में पलंग पर लेटे रहते समय भी हमें काफी पिलाये बिना जाने नहीं देते थे । अपने जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में हमें आमंत्रित करते थे । जब कभी हमारे यहाँ कोई पर्व व जन्म-दिवस के अवसर पर उन्हें आमंत्रित किया जाता था तब वे अवश्य आते और हमारी खुशियों में शामिल होते थे। पहले ही वे बताते थे कि उन्हें किस तरह की मिठाई व किस तरह का भोजन पसन्द है । उनका बड़प्पन यह था कि बच्चों जैसा सरल स्वभाव और सादा जीवन। वे चाहते तो उनके लिये दुनिया की दृष्टि से सुख देने वाली तथा आडम्बर की सुविधाएं प्राप्त हो सकती थीं। इन सब चीजों से वे विरक्त थे। उनमें अनासक्ति की भावना थी। वे जनसाधारण की तरह जीते थे। उनके व्यक्तित्व में असाधारणता थी। दूसरों पर रोब जमाने वाली दुनिया की चीजों जैसे आधुनिक मोटर कार व राजमहल जैसे मकान आदि को उन्होंने त्याग दिया था। वे सच्चे संन्यासी थे।

अन्तर्धर्मीय सम्बन्ध और संवाद के प्रेरक :

स्वामीजी अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति उदारता, सद्भावना, धार्मिक सहिष्णुता तथा खुलेपन के प्रतीक थे । स्वामीजी आर्य-धर्म की आस्था में पूर्ण दृढ़ रहे । श्रुति ग्रन्थों पर आधारित वैदिक-धर्म के बारे में उन्होंने कभी भी समझौता नहीं किया। साथ ही अन्य धर्मावलम्बियों की आस्था, अपनी आस्था से भिन्न होने पर भी, उनके प्रति सद्भावना और आदर की भावना से व्यवहार किया । इसलिये वे अकसर मजाक के रूप में कहा करते थे कि ''फादर भट्ट मुझे ईसाई नहीं बना सकता है और न तो फादर भट्ट आर्यसमाजी बनेंगे । पर हम दोनों मित्र और सहयोगी हैं।'' सद्भावना बढ़ाने के लिये सर्वधर्म सम्मेलनों का आयोजन करते थे । मेरा यह सौभाग्य रहा कि मुझे ईसाई धर्म के बारे में प्रकाश डालने का अवसर दिया गया । जब कभी इलाहाबाद के जिज्ञासु केन्द्र के तत्त्वावधान में सर्वधर्म सभा होती थी तब उनमें भाग लेकर योगदान देते थे। उनकी उदारता को देखकर जब कभी किसी भी अवसर पर सर्वधर्म प्रार्थना का हमारे यहाँ आयोजन होता था तब उन्हें आमंत्रित किया जाता था, वे सहर्ष आते थे। उन्हीं का कहना है कि एक जमाना था जब हम एक दूसरे को घृणा की भावना से देखते थे और अपने से भिन्न धर्म व मजहब वालों को बैरी मानकर उनके मजहब का विनाश करना चाहते थे। पर अब समय आ गया है और उसकी मांग है कि हम विभिन्न धर्मावलम्बी मैत्री भावना का व्यवहार मानव हित तथा मानव समाज के कल्याण हेतु विभिन्न धर्मावलम्बियों के परिप्रेक्ष्य में करें । मानव कल्याण तथा स्वस्थ समाज का निर्माण आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के आधार पर ही हो सकता है । वे 'एक' ईश्वर के भक्त थे । बाइबिल के पुराने व्यवस्थान की भजनसंहिता में जो ईश्वर महिमा गीत है तथा अन्य मसीही भजनावली में एक ईश्वर पर केन्द्रित गीत हैं उन्हें वे पसन्द करते थे । उनकी अभिलाषा थी कि वैदिक धर्म के अनुसार जो ईश्वर स्तुति गीत है और ईसाई धर्म में ईश्वर स्तुति गीत है उनका संकलन कर एक भजनावली प्रकाशित करें जो सभी ईश्वर भक्तों के लिये मान्य हो। हम दोनों की यह इच्छा अधूरी ही रह गयी । आधुनिक युग में इस तरह की भजनावली बहुत ही वांछनीय और प्रासंगिक है।

वे बार-बार कहा करते थे कि हम सब को समान मानव मूल्यों पर जो मानव हित के साधक हैं विशेष ध्यान देना चाहिये और आपस में भिन्नता की बातों पर बल नहीं देना चाहिये।

जिज्ञासु केन्द्र सदा उनका ऋणी रहेगा । जिज्ञासु केन्द्र के तत्त्वावधान में जब कभी बुद्धिजीवियों और विभिन्न धर्मावलम्बियों की बैठक होती थी, वे उसमें अवश्य भाग लेकर अपना बहुमूल्य योगदान देते थे । इन बैठकों में मानवीय मुद्दों और समस्याओं पर परिचर्चा होती थी । इनके आयोजन के लिये भी वे सलाहकार रहे । सर्वधर्म के त्रिदिवसीय सत्संगों में उनका योगदान स्मरणीय है । सह-ध्यान, सह-भजन, सह-चिंतन-मनन, सह-भोजन तथा सह-निवास इन सत्संगों के कार्यक्रम थे । विभिन्न धर्मावलम्बी और विचारधारा के लोग सत्संग परिवार बनाने की आवश्यकता अनुभव करते थे । यह सत्संग भारतीय संस्कृति का एक आदर्श 'वसुधैव

कुटुम्बकम्' का एक लघु रूप था । इसी प्रकार का त्रिदिवसीय सत्संग १९७० में वाराणसी में आयोजित किया गया था । स्वामीजी की और मेरी एक ही कमरे में रहने के लिये व्यवस्था की गई थी । मुझे संकोच हुआ कि यह व्यवस्था स्वामीजी को कैसी लगेगी। उन्होंने इसे सहर्ष मान ही नहीं लिया बल्कि यह उन्हें पसन्द आया । ऐसे सत्संगों में प्रार्थना विधि, ध्यान आदि का वे निर्देशन भी करते थे । लगभग १५ वर्ष पहले, बिशप बैप्टिस्ट मुदार्था तथा इलाहाबाद के विभिन्न धर्मावलम्बी प्रतिनिधियों के साथ केरल के कोचीन में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सर्वधर्म सम्मेलन में भी उन्होंने भाग लिया । वहाँ उन्होंने अपना निबन्ध प्रस्तुत किया तथा एक महत्वपूर्ण सभा की अध्यक्षता की । भारत के तथा दुनिया भर के कोने-कोने से आये हुए विभिन्न विद्वान् धर्मावलम्बियों ने उनके विचारों की सराहना की । इससे प्रभावित होकर भारत के कैथलिक बिशप परिषद् के अन्तर्धर्मीय संवाद के आयोग के सचिव फादर आल्बर्ट नबियापरंबिल ने उनसे यह आग्रह किया कि वे ऐसे अधिवेशनों में भाग लें । जिज्ञासु केन्द्र के तत्त्वावधान में त्रिदिवसीय सत्संगों में उनका योगदान स्मरणीय है । एक सत्संग के अवसर पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के आधार पर मानव हित तथा परस्पर सद्भावना स्थापित करने हेतु एक समिति का गठन हुआ। स्वामीजी इस समिति के सदस्य रहे । इस तरह के कई उदाहरण हैं जहाँ उन्होंने सौहार्द तथा परस्पर सहयोग से मानव उत्थान के लिये निष्ठापूर्वक सेवा की है । उनकी यह प्रेरणा आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिक है । स्वामीजी धार्मिक सहिष्णुता के प्रतीक हैं।

जब स्वामीजी के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित किया गया था तब हम कुछ ऐसी बातों के बारे में, जिनके कारण परस्पर भ्रम तथा भय था, निसंकोच विचार विनिमय कर सकते थे। उदाहरणार्थ धर्म परिवर्तन के बारे में उन्होंने अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा था कि, ''यह मैं पसन्द नहीं करता कि आप ईसाई हमारी भेड़ों को चुरा लें (Sheep Stealing न करे)। यदि सोचने समझने के बाद कोई भी धर्म, मजहब व विचारधारा स्वेच्छा से अपनाना चाहे तो उसे स्वतन्त्रता है। धार्मिक स्वतंत्रता जो मानव मात्र का अधिकार है वे उसे मानते थे।

स्वामीजी का आध्यात्मिक पक्ष

आध्यात्मिकता और ईश्वर की अनुभूति स्वामीजी के जीवन का सब से सुन्दर और मुख्य पक्ष था। जब कभी उनका दर्शन होता था तब ऐसा अनुभव होता था कि आप संतपुरुष का दर्शन कर रहे हैं। उनकी आध्यात्मिकता उनके चेहरे पर आनन्द और शान्ति के रूप में झलकती थी। ईश्वर ही उनके सम्पूर्ण जीवन और आचरण का केन्द्र था उनकी आध्यात्मिक अनुभूति का स्रोत और आधार श्रुति ग्रन्थ और विशेषकर उपनिषद् ग्रन्थ थे। उनके लिये ये ग्रन्थ केवल अध्ययन व मस्तिष्क ज्ञान के ग्रन्थ नहीं थे। परन्तु उनमें जो आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि है उसको उन्होंने अपना बना लिया था। जब कभी स्वामीजी के साथ बैठकर उपनिषदों के बारे में उनसे सुनने का अवसर आया तब ऐसा लगता था कि उपनिषदों के ऋषि-मुनियों की वाणी वे सुना रहे हैं । वे मानों अपने आध्यात्मिक अनुभव का सहभागी श्रोताओं को बनाते थे । स्वामीजी संन्यास लेने के बाद भी बहुत व्यस्त रहते थे फिर भी आध्यात्मिक साधना तथा प्रार्थना को अपनी दिनचर्या में प्राथमिकता तथा महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे । उन्होंने अपने जीवन में कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग का समन्वय किया। उनके लिये प्रार्थना का अभिप्राय यह नहीं था कि ईश्वर से मागें बल्कि जैसे वे यही कहा करते थे कि प्रार्थना ईश्वर की स्तुति करना है।

स्वामीजी ने अपने को ईश्वर को समर्पित किया था । इसी समर्पण के कारण वृद्धावस्था और बीमारी के समय दुःख कष्ट सहने के लिये ईश्वर उनका सहारा था और ईश्वर से ही उन्हें धैर्य मिला । अतः शान्तिपूर्वक वे सब सहते थे। मैंने उनके मुख से कष्ट की स्थिति में भी किसी तरह की असहिष्णुता व कड़कड़ाहट की बातें नहीं सुनी। इलाहाबाद में जब वृद्धावस्था और बीमारी के कारण कुछ नहीं कर पाते थे तब भी वे असन्तुष्ट नहीं थे। उनके कष्ट को देखकर मैंने उनसे एक बार पूछा ''स्वामीजी आपकी

सेवा में मैं क्या करूँ ?'' उन्होंने सरल और सहज स्वभाव से तुरन्त उत्तर दिया—''मुझे ईश्वर ने सब कुछ दिया है और देने में क्या बाकी है ?'' वे ईश्वर के वरदानों के लिये कृतज्ञ थे तथा इन वरदानों के लिये ईश्वर की स्तुति करते थे।

जैसे स्वामीजी उम्र में बढ़ते गये और वृद्ध होते गये ईश्वर की अनुभूति में भी बढ़ते गये। इस अवस्था में उनका दर्शन करते समय ऐसा प्रतीत होता था कि हृदय गुहा में उपस्थित ईश्वर का वे अनुभव कर रहे हैं । ऐसा लगता था कि ईश्वर सान्निध्य का सौभाग्य उन्हें प्राप्त था । उन्हें अच्छी तरह मालुम था कि इस दुनिया को तथा पार्थिव शरीर को छोड़ना है। परन्तु उन्हें इसकी चिन्ता नहीं थी और न तो मृत्यु का भय था। वे मृत्यु के बाद परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये लालायित थे। इलाहाबाद से सुल्तानपुर जनपद के जगदीशपुर में अपने शिष्य के साथ रहने के लिये जाने से पहले, मैं अपने साथी एक फादर के साथ उनके दर्शन के लिये गया था। मेरे साथी फादर उनसे इतने प्रभावित हुए कि वे मुझ से कहने लगे कि स्वामीजी संतपुरुष हैं। यह मेरी अन्तिम मुलाकात थी।

जब मैंने समाचार पत्रिकाओं में उनके निधन के बारे में पढ़ा, अत्यधिक दुःख हुआ कि मैं इच्छा होते हुए भी जगदीशपुर में उन्हें देखने नहीं जा पाया । दुःख इसलिये भी हुआ कि जो मुझे सदा प्रेरणा देते रहे और जिनके संग से मुझे सुखद अनुभव होता था वे अब नहीं रह गये। साथ ही इस विचार से सान्त्वना मिली कि वे इस लोक में सार्थक जीवन बिताकर ईश्वर के सान्निध्य में, उसके दर्शन को अनन्त और चिर शान्ति में लीन हो गए हैं।

स्वामीजी भारत और सारी दुनिया के लिये ईश्वर का वरदान स्वरूप हैं। विरासत के रूप में धन सम्पत्ति वे नहीं छोड़ गये हैं बल्कि उनकी एक अमूल्य विरासत है उनके जीवन का उदाहरण - ईश्वर केन्द्रित जीवन में ही मानव जीवन की सार्थकता है । यदि हम इस विरासत को सुरक्षित बनाये रखें तो मानवहित तथा समाज का कल्याण होगा। यही उनके प्रति सर्वोत्तम श्रद्धांजलि होगी।

विद्या-अविद्या

डॉ० देवेन्द्र शर्मा

मुझे याद आता है सन् १६३७ का वर्ष जब अट्ठावन वर्ष पूर्व मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्ययन हेतु गया था । खादी का सफेद कुर्ता, धोती और टोपी तथा पाँवों में चप्पलधारी कुछ स्थूल परन्तु सौम्य व्यक्तित्व ने प्रभावित किया । यह उनकी गर्मी, बरसात और जाड़े, सब ऋतुओं की स्थायी वेशभूषा थी जो कई दशक तक अपरिवर्तित रही।

डॉ० सत्यप्रकाश जो उन दिनों विश्वविद्यालय में रासायनिकी के प्रवक्ता थे और जिन्हें हम 'डाक्टर साहब' से सम्बोधित करते थे, से मिलने के पूर्व अपने पिताजी से उनके सरल, सात्त्विक जीवन तथा पाण्डित्त्य के बारे में सुन चुका था । यह भी सुना था कि शीत ऋतु में भी खुले आकाश के नीचे सोते थे । इस संदर्भ में याद आता है कड़ाके के जाड़े का वह प्रातः जब प्रयाग आए आचार्य चन्द्रशेखर वेंकट रामन ने डाक्टर साहब के सूक्ष्म वस्त्रों पर परिहास किया था । न केवल मौसम अपितु सब परिस्थितियों में सहज और शान्त रहना उनके स्थितप्रज्ञ होने का प्रमाण है।

सद्गुरु की विशेषता है कि वह केवल उपदेश द्वारा ही शिष्य का मार्ग दर्शन नहीं करता वरन् अपने चाल-ढाल, व्यवहार और चरित्र से जिज्ञासु को सत्पथ पर ले जाता है। यह विशेषता थी डाक्टर साहब की । उनका सहज और आडम्बरहीन स्वभाव तथा सरल विनोदप्रियता निरन्तर याद आते हैं । विश्वविद्यालय के अतिरिक्त आर्यसमाज तथा विज्ञान परिषद् के कार्य कलापों में भी उनका स्नेहयुक्त पथ प्रदर्शन प्राप्त होता रहा। सन् १६६२ के ग्रीष्म काल में वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग की शिमला में सम्पन्न हुई बैठक में साथ बिताए दिन याद आ रहे हैं । वे सपत्नीक आए थे और मैं भी सपरिवार था। मेरी छोटी पुत्री को डाक्टर साहब अपराजिता कहते थे । उन्हीं दिनों समाचार आया कि उनके विदेश प्रवास में रह रहे पुत्र ने वहीं विवाह कर लिया है। उन्होंने अपनी जीवनसंगिनी सहित न केवल इस परिणय को सहर्ष स्वीकारा अपितु जलपान का एक समारोह आयोजित कर अपनी स्वीकृति को अभिव्यक्ति दी।

फिर याद आता है वह काल जब 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दिनों में उन्हें कारावास हुआ। अब से कुछ ही वर्ष पूर्व उनके लखनऊ प्रवास के दौरान मैंने कुतूहलवश पूछा कि उस अवसर पर उनको किस प्रकार का अवकाश दिया गया था । उन्होंने जो बताया उससे उनकी लोकप्रियता तथा अजातशत्रु व्यक्तित्व का पता चलता है। विश्वविद्यालय ने न केवल जो भी अवकाश सम्भव था सवेतन दिया, अपितु कुलपति ने कुलाधिपति से यह शिकायत की कि शासन ने बिना कुलपति को बताए विश्वविद्यालय के शिक्षकों को कैसे अचानक गिरफ्तार कर लिया। ज्ञात हुआ कि कुलाधिपति ने इसके लिये खेद व्यक्त करते हुए शासन को भविष्य में ऐसी गलती या भूल न करने का निर्देश दिया।

डाक्टर साहब का हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी तीनों भाषाओं पर समान अधिकार था तथा साथ ही विज्ञान को जनसाधारण के लिये सुगम बनाने में उनका योगदान अविस्मरणीय है। इस कार्य में सक्रिय प्रारम्भिक तीन चार पुरोधाओं में वे थे और इतने

कुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर एवं इन्दौर विश्वविद्यालय (भू० पू०)

दीर्घ काल तक सेवा करने वाले अकेले। निरंतर वेदों और उपनिषदों की व्याख्या करने में भी वे व्यस्त रहे। कभी-कभी उनसे इस विषय पर चर्चा हुई तथा उनके ज्ञान और समझ पर आश्चर्य भी । एक वैज्ञानिक के नाते उन्होंने अपनी संस्कृति और साहित्य की सहायता से पर्यावरण शुद्ध करने में हवन के महत्त्व की व्याख्या भी की है । हिन्दी तथा अंग्रेजी में वैज्ञानिक और वैदिक साहित्य पर उनके प्रकाशित व अप्रकाशित योगदान की चर्चा के लिए एक ग्रन्थ की आवश्यकता होगी । जो बात महत्त्व की है वह यह कि उन्होंने कभी अपनी विद्वता का प्रदर्शन नहीं किया और न ही सफलता की दौड़ में साथियों को धकिया कर आगे बढ़ने की चेष्टा की। उनके लिए ऐसा सोचना भी सम्भव न था। मुझे याद आता है वह वाकया जो उन्होंने एक दिन बड़े सहज रूप से कहा था, ''मेरा वेतन चाहे कम कर दिया जाय मैं प्रयाग विश्वविद्यालय नहीं छोड़ूँगा ।'' ऐसी थी उनकी अपनी संस्था के प्रति निष्ठा और समर्पण की भावना।

मेरे प्रयाग से गोरखपुर चले जाने के बाद डाक्टर साहब से मिलने के अवसर यद्यपि कम हो गए थे, तथापि वर्ष में तीन चार बार उनके दर्शन होते रहे । भारतीय विज्ञान काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों के अवसर पर विज्ञान परिषद् के एक दिवसीय सम्मेलन होते रहे हैं जिनमें उनका उपस्थित होकर मार्गदर्शन करना उत्साहवर्धक रहा है । जनवरी १९८५ के लखनऊ अधिवेशन के अनन्तर उन्होंने उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के सभागार में एक संध्याकालीन व्याख्यान माला भी दी।

डाक्टर साहब की विदुषी पत्नी स्वयं शिक्षाविद् होने के साथ हिन्दी में लेखन करती थीं तथा सही अर्थों में उनकी जीवनसंगिनी थीं । उनके अप्रत्याशित स्वर्गवास को भी उन्होंने एक योगी की निष्काम भावना से स्वीकार किया । यही नहीं इस घटना के कुछ वर्ष बाद उन्होंने अपने पुत्र के निधन को भी 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, के धैर्य से लिया । यद्यपि पहले से ही उनका सम्पूर्ण जीवन एक अनौपचारिक संन्यासी का था, विश्वविद्यालय में आचार्य और रासायनिकी के अध्यक्ष के पद से अवकाश लेने के बाद उन्होंने संन्यास लेने का निर्णय ले लिया। घर-परिवार छोड़ने के बाद विश्व उनका घर तथा सम्पूर्ण मानवता उनका परिवार हो गया तथा डॉ० सत्यप्रकाश स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती । उन्होंने देश-विदेश में वैदिक ज्ञान और उसकी सार्थकता को समझाया। अन्य देशों के अतिरिक्त उन्होंने दक्षिण-अफ्रीका की भी यात्रा की। तब हमारे तथा अधिकांश अन्य देशों के उससे सम्बन्ध अमधुर थे । स्वामीजी ने बताया कि उनको कोई कटु अनुभव नहीं हुआ वरन् उन्होंने पूरी यात्रा और वहाँ के निवासियों के व्यवहार की सराहना ही की । उनकी दृष्टि निष्पक्ष संन्यासी की थी, राजनैतिक दाँव पेचों से अछूती।

वर्ष १९९३ और ९४ के प्रारम्भ की अवधि में मेरा एकाधिक बार प्रयाग जाना हुआ । मेरे भाई ने उनके अस्वस्थ रहने के बारे में बताया था। विज्ञान परिषद् के अतिथिगृह में जब गया ज्ञात हुआ कि वे अमेठी गए हुए हैं। यह नहीं सोचा था कि इतनी छोटी यात्रा महाप्रयाण में समा जाएगी।

स्वामीजी ने सब आश्रमों में 'विद्यां च अविद्यां च', ज्ञान और कर्म को एक साथ आत्मसात् करते हुए जीवन बिताया । उन्होंने ज्ञान में कर्म तथा कर्म में ज्ञान को देखा और अपनाया। स्वाभाविक है कि वे पार्थिव शरीर के बाद अपने गुणों, कर्म तथा जीवन दर्शन के साथ हमारे बीच रहेंगे । अमरत्व को प्राप्त उनकी आत्मा की ज्योति मानव कल्याण हेतु मानवता के पथ को आलोकित करेगी।

श्रद्धेय स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती : एक अप्रतिम व्यक्तित्व

डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ

१० नवम्बर, १६६४ का मंगल दिवस । प्रयाग विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में डी० फिल्० उपाधि के लिए शोधच्छात्रा के रूप में मैंने प्रवेश लिया। मेरे शोध निर्देशक बने डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय । उस समय संस्कृत विभागाध्यक्ष पद को अलंकृत कर रहे थे प्रो० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी । विश्वविद्यालय में प्रवेश के अनन्तर मुझे छात्रावास में भी प्रवेश चाहिये था क्योंकि उन दिनों मेरे पितृश्री डॉ० जगदीश सहाय कुलश्रेष्ठ ग्वालियर के सुप्रसिद्ध सिन्धिया स्कूल में संगीत विभागाध्यक्ष पद पर कार्यरत थे और हमारा परिवार ग्वालियर में ही था । प्रो० चतुर्वेदी के निर्देश पर मेरी पूजनीया मातृश्री श्रीमती कमलेश कुमारी कुलश्रेष्ठ मुझे मिस मथुरा हर्लेकर के छात्रावास में ले गई और आदरणीया बाबा (मिस हर्लेकर को छात्राएँ इसी सम्बोधन से अलंकृत करती थीं) ने मुझे अपने छात्रावास में तत्काल प्रवेश दे दिया।

एलनगंज स्थित हमारे छात्रावास जो बाबा के भव्य भवन में ही था, में कुल २०-२२ शोधच्छात्राएँ रहा करती थीं । कभी कभार १-२ एम० ए० की छात्राओं को भी प्रवेश मिल जाया करता था । उन्हीं दिनों एक शोधच्छात्रा कु० शोभालक्ष्मी कपूर ने हमारे छात्रावास में प्रवेश लिया। वह जबलपुर विश्वविद्यालय से रसायनशास्त्र में एम० एस- सी० में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर आई थीं और उन्होंने रसायनशास्त्र विभाग में डी० फिल्० हेतु प्रवेश लिया था । उनके शोध निर्देशक बने प्रो० सत्य प्रकाश। शोभालक्ष्मी और मैं बहुत जल्दी अच्छे मित्र बन गये - अपने-अपने शोधकार्य में सतत रत । नाश्ते तथा रात के भोजन के समय एवं भोजन के अनन्तर हम लोगों को वार्तालाप तथा मैत्री के लिए कुछ समय मिल पाता। शोभालक्ष्मी और मैं छात्रावास के अन्य कार्यों में भी पर्याप्त रुचि लेते। कभी शोभा तो कभी मैं छात्रावास के मेस सेक्रेटरी हुआ करते । छात्रावास में हमारी एक छोटी परिषद् भी थी जिसकी एक वर्ष मैं कल्चरल सेक्रेटरी थी तथा शोभा भी किसी पद पर थी । हमारे छात्रावास की कोई एक समिति भी थी जिसमें विश्वविद्यालय के अनेक वरिष्ठ प्राध्यापक सदस्य थे। उन्हीं मान्य सदस्यों में से एक थे स्वनामधन्य प्रो० सत्यप्रकाश।

डॉ० सत्यप्रकाश जब पहली बार १६६४ में ही हमारे छात्रावास में आये तो शोभालक्ष्मी ने अपने गाईड के रूप में उनसे मेरा परिचय कराया । प्रथम परिचय में ही उन्होंने मुझे प्रभावित किया तथा मेरे साथ बहुत अच्छी बात की । हमारी बाबा (मिस हर्लेकर) से भी उनका अच्छा परिचय था । इसलिए बाबा के आवास पर तथा हमारे छात्रावास के अनेकविध-कार्यक्रमों में प्रो० सत्य प्रकाश जी का आगमन अनेकशः होता । मैं देखती थी कि प्रत्येक बार जब भी डॉ० सत्य प्रकाशजी आते, मुझसे अवश्य मिलते, मेरा हालचाल पूछते, मेरी शोध प्रगति पूछते, संस्कृत के विषय में सामान्य बातें करते तथा अन्य विषयों पर भी सामान्य चर्चा करते, प्रसंगवश कुछ अंग्रेजी के भी अच्छे शब्द तथा प्रयोग बतलाते, आदि। उनका व्यवहार मेरे प्रति सदा अतिशय

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दौलत राम कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली एवं विज़िटिंग प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची (बिहार)

सौजन्यपूर्ण होता । शोभालक्ष्मी तो स्वयम् उनकी शिष्या थी । वह तो विभाग में नित्य ही उनसे मिलती । वह कभी-कभी डॉ० साहब के आवास पर भी जाती। अनेक बार विशिष्ट अवसरों पर प्रो० सत्य प्रकाशजी ने मुझे भी अपने घर भोजन पर आमन्त्रित किया । शोभालक्ष्मी और मैं कई बार उनके घर दोपहर के भोजन पर गए। डॉ० साहब को खाने का अतिशय शौक था। वे अनेकविध विशिष्ट व्यंजन बनवाते बड़ी तादाद में और हम सब खूब छककर खाते। हर बार के भोजन में कुछ नवीन पदार्थ होते। मैं डॉ० साहब से उन नवीन भोज्य पदार्थों की पाकविधि पूंछती और वे मुझे बताते। उनकी बताई विधियों वाले व्यंजन मैं आज भी अपने घर में बनाती हूँ और डॉ० साहब का स्मरण कर नेत्र सजल हो जाते हैं। भोजन के समय अनेक बार ऐसा होता कि शोभालक्ष्मी का भोजन पूर्ण हो जाता। तब डॉ० साहब कहते कि सुषमा खाने में मेरा साथ देगी और मैं तथा डॉ० साहब खूब देर तक आनन्दपूर्वक उन विविध व्यंजनों का रसास्वादन करते। एक बार की बात है । गर्मियों के दिन थे । मैं और शोभालक्ष्मी डॉ० साहब के यहाँ मध्याह्न भोजन पर आमन्त्रित थे । भोजन में अगणित पदार्थ । एक विशिष्ट पदार्थ था बेसन लिपटी हुई भुनी हुई अरवी । एक अन्य उल्लेखनीय पदार्थ था रसीले आमों की मीठी लौंजी । सभी पदार्थ अतिशय सुस्वादु । भोजन के अन्त में बहुत शानदार दशहरी आम लगभग ५ किलो। हम तीन खाने वाले थे मुख्य (शेष घर के सेवकादि थे)। सबने आकण्ठ भोजन किया था । भोजनान्त में आम खाना शुरू हुआ। शोभाक्ष्मी ने २-३ आम खाये होंगे। शेष सारे आम डॉ० साहब तथा मैंने एक सिटिंग में खा लिए । यह था डॉ० साहब का भोजन-प्रेम, आम्र-प्रेम, भोजन बनवाने तथा अतिथियों को खिलाने का प्रेम।

प्रयाग में स्थित डॉ० साहब का आवास देखने योग्य था। शायद १९६४-६५ तक मैंने किसी व्यक्ति का इतना बड़ा घर नहीं देखा था (वाराणसी में धूपचण्डी में स्थित कविराज पं० बृजमोहन दीक्षित के भव्य भवन को छोड़कर)। डॉ० साहब के ड्राइंग रूप में १८ किवाड़ थे जिससे उस कक्ष के परिणाह का सहज अनुमान किया जा सकता है। पूरा भवन तो विस्तृत था ही। पूरे घर के चारों ओर खुला स्थान था जिसमें ५० से अधिक फलों के तथा अन्य वृक्ष थे । एक अच्छा लॉन तथा बगीचा भी था। बागवानी तथा पेड़ों की रक्षा का डॉ० साहब सतत ध्यान रखते।

जहाँ तक मुझे स्मरण है १९६४ में ही डॉ० साहब की सुयोग्या धर्मपत्नी डॉ० (श्रीमती) रत्न कुमारी का देहावसान हुआ था। मैंने उनकी प्रशस्ति सुनी थी कि विदुषी महिला थीं तथा प्रयागस्थ आर्यकन्या पाठशाला, इलाहाबाद की प्रिंसिपल थीं । उनके नाम पर बाद में एक संस्थान बना तथा एक प्रकाशनमाला भी बनी। उस प्रकाशनमाला के एक पुष्प के रूप में मेरी प्रथम कृति 'संस्कृत-गीतांजलि' १९७३ में प्रकाशित हुई।

१० जुलाई, १९६६ को प्रयाग विश्वविद्यालय में शोधच्छात्रा के रूप में २० माह की मेरी अपेक्षित उपस्थिति पूरी हुई । यद्यपि १० अक्टूबर, १९६५ को मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में प्राध्यापिका पद के लिए नियुक्ति प्राप्त हुई थी किन्तु २० माह की उपस्थिति पूरी न होने से उस समय मैं दिल्ली नहीं आई । २३ जुलाई, १९६६ को मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के दौलतराम कॉलेज में प्राध्यापिका पद के लिए चुना गया और मैंने १ अगस्त, १९६६ से यहाँ कार्य प्रारम्भ किया । इस प्रकार प्रयाग छूट गया। शोभालक्ष्मी के साथ पत्राचार चलता रहा। डॉ० साहब के समाचार शोभा के पत्रों से मिलते। कभी-कभी मैं डॉ० साहब को भी पत्र लिखती। उनका नियमित उत्तर प्राप्त होता। डॉ० साहब अक्सर दिल्ली आते थे । वे जब भी दिल्ली आते, मुझे पत्र द्वारा पूर्व सूचना देते । दिल्ली का अपना पता तथा पूर्ण कार्यक्रम लिखते। प्रायः प्रत्येक बार मेरी उनसे भेंट हो जाती या फोन पर बात हो जाती। अनेक बार वे मेरे प्रताप बाग स्थित आवास पर भी आए। मेरी मां, मेरे पिताजी तथा मेरी बहनों से मिले । अनेक बार उन्होंने हमारे घर भोजन भी किया और सुस्वादु भोजन कर आनन्द तथा तृप्ति का अनुभव कर मुझे तथा मेरी माँ को शुभाशीष प्रदान किया।

कालान्तर में डॉ० सत्यप्रकाशजी ने विधिवत् संन्यास ग्रहण किया और वे स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती बन गए । मुझे भी सूचना मिली । इस बीच मेरी बहन डॉ० अरुणा का विवाह १९७३ में डॉ० हरिमोहन के साथ हुआ। डॉ० हरिमोहन भी रसायनशास्त्र में पी- एच० डी० थे तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के मोतीलाल नेहरू कॉलेज में रसायनशास्त्र विभाग में प्राध्यापक पद पर कार्यरत थे । डॉ० हरिमोहन ने स्वामीजी के विज्ञान विषयक अनेक ग्रन्थ पढ़े हुए थे तथा वे स्वामीजी से साइंस कॉंग्रेस आदि अनेक सम्मेलनों में अनेक बार मिले भी थे तथा उनसे प्रभावित थे । संन्यासी बनने के बाद स्वामीजी जब दिल्ली आए तो वे आर्य. समाज, हनुमान मन्दिर रोड में ठहरे। मैं डॉ० हरिमोहन के साथ स्वामीजी से मिलने गई । अच्छी मुलाकात हुई । आर्यसमाज, हनुमान मन्दिर रोड में भी स्वामीजी ने हम लोगों को प्रसाद तथा अन्य सुस्वादु पदार्थ खिलवाये। मुझसे अन्य विषयों के अतिरिक्त उन्होंने भोजन विषयक भी अनेक बातें कीं तथा कहा 'हम लोग कहीं बाहर चलकर कुछ खायेंगे।'

एक अन्य प्रसंग । शालीमार-बाग, दिल्ली में स्वामीजी के एक शिष्य डॉ० रघुवीर मुमुक्षु रहते हैं । एक बार स्वामीजी उनके घर आए । मुमुक्षुजी ने मुझे मध्याह्न भोजन पर निमन्त्रित किया और बताया कि स्वामीजी उनके आवास पर पधार रहे हैं। स्वामीजी के साथ उस दिन हम सबने मध्याह्न-भोजन किया तथा कई घण्टे तक हम सब अनेक विषयों पर वार्ता करते रहे । विदाई के समय मैंने स्वामीजी से अपने घर अशोक बिहार आने का आग्रह किया तब स्वामीजी का उत्तर था 'तुम बेटी हो, तुम्हारे घर संन्यस्त मैं अब नहीं आ सकता।'

दौलतराम कॉलेज में बी० ए० (संस्कृत विशेष) प्रथम वर्ष की हमारी एक प्रिय छात्रा थी कु० सारंगा (जो आज संसार में नहीं है) । उसने एक दिन मुझे सूचना दी कि स्वामीजी आर्यसमाज अनारकली, मन्दिर मार्ग में ठहरे हुए हैं तथा मुझे स्मरण कर रहे हैं। सारंगा की माँ स्वामीजी की शिष्या थीं । मैं अनारकली गई । स्वामीजी से भेंट हुई । सारंगा की माँ स्वामीजी तथा मेरे लिए सुस्वादु भोजन घर से बनाकर लाई थीं । मैंने स्वामीजी के साथ वह भोजन किया । स्वामीजी से साक्षात् भेंट तथा उनके साथ भोजन करने का मेरा यह अन्तिम सौभाग्य था। जाते समय स्वामीजी ने मुझे अपने तीन ग्रन्थ भी भेंट किये थे।

स्वामीजी आर्यसमाज के कार्य से अनेक बार विदेश जाते । पत्र-पत्रिकाओं से उनके क्रियाकलापों के समाचार सदा मिलते रहते। एक बार दिल्ली के प्रसिद्ध फिक्की सभागार में केन्द्रीय हिन्दी संस्थान का कोई बड़ा वार्षिक समारोह था जिसमें मैं भी आमन्त्रित थी। मैं वहाँ गई । उस दिन हिन्दी-लेखन के लिए अनेक विद्वानों को सम्मानित किया गया । सहसा सम्मान्य विद्वानों में स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती का भी नाम लिया गया (विज्ञान को सरल एवं बोधगम्य हिन्दी भाषा में प्रचारित करने वाले स्वामीजी सर्वप्रथम विद्वान् वैज्ञानिक थे, ऐसी अपनी मान्यता है) । सभी विद्वान् सम्मान-प्राप्ति के लिए मंच पर गए किन्तु स्वामीजी को सम्मान देने के लिए मंचस्थ जन स्वयं नीचे हॉल में स्वामीजी के पास आए तथा उनका सम्मान किया। कार्यक्रम के अन्त में मैं स्वामीजी से मिलना चाहती थी । उस दिन स्वामीजी बहुत क्षीण दिखाई दे रहे थे। उनके चारों तरफ बहुत भीड़ थी। दुर्भाग्यवश मैं उनसे मिल न पाई। उनके दर्शन का यह अन्तिम अवसर था।

एक बार १९७२-७३ में स्वामीजी मेरे प्रताप बाग स्थित आवास पर एक वयोवृद्ध सज्जन पं० राम स्वरूप शर्मा के साथ पधारे । उन्होंने उनसे मेरा परिचय कराया । वे दिल्ली में स्थित साइंटिफिक रिसर्च इंस्टीट्यूट के निदेशक थे । उन्होंने डॉ० रत्नकुमारी प्रकाशनमाला के अन्तर्गत डॉ० सत्यप्रकाशजी के अनेक ग्रन्थ यथा - शतपथब्राह्मण - खण्ड I, II, III, आपस्तम्ब शुल्बसूत्रम्, बौधायनशुल्ब सूत्रम्, Coinage in Ancient India, भारतीय विज्ञान के कर्णधार (Founders of Sciences In Ancient India का हिन्दी अनुवाद) प्रभृति प्रकाशित किये । वे अनेक ग्रन्थ स्वामीजी ने मुझे भी भेंट किए।

स्वामीजी की कृतियों को पढ़ने के अनन्तर मुझे ज्ञात हुआ कि स्वामीजी के पितृश्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे तथा यह भी कि स्वामीजी स्वयं भी संस्कृत विधिवत् जानते हैं । स्वामीजी शोभालक्ष्मी के साथ मुझे क्यों इतना अधिक मानते थे, छात्रावास के दिनों में यह बात मुझे समझ नहीं आती थी किन्तु उनके ग्रन्थ पढ़ने पर यह तथ्य मुझे हृदयंगम हुआ कि स्वामीजी सम्भवतः संस्कृत के कारण मुझे मानते थे। उनका प्रभूत स्नेह मुझे मिला। बाद में मेरा परिचय दिल्ली के अनेक कुलश्रेष्ठ परिवारों से हुआ । तब किन्हीं कुलश्रेष्ठ सज्जन (डॉ० श्रुतिकुमार शील) से मुझे ज्ञात हुआ कि स्वामीजी भी कुलश्रेष्ठ हैं । १६६४ से लेकर उनके जीवनपर्यन्त मेरा परिचय स्वामीजी के साथ रहा किन्तु उन्होंने मुझे कभी नहीं बताया कि वे स्वयं कुलश्रेष्ठ हैं । सम्भवतः मुझमें उनकी रुचि का एक कारण कुलश्रेष्ठत्व रहा हो किन्तु जातिवाद में विश्वास न रखने के कारण उन्होंने यह कभी प्रकट नहीं किया।

जीवन के अन्तिम वर्षों में मेरी स्वामीजी से भेंट नहीं हुई किन्तु प्रिय उर्मिल (डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव) से मुझे ज्ञात हुआ कि जब कभी उनकी भेंट स्वामीजी से होती थी, वे मेरी भी बात पूछते तथा मेरी तारीफ भी करते।

आज स्वामीजी हमारे मध्य नहीं हैं । स्वामीजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । वे अपार गुणराशि थे । ऐसे महनीय व्यक्ति के समग्र गुणों को एक संस्मरण लेख में अभिव्यक्त कर पाना मुझ जैसे व्यक्ति के लिए दुष्कर है। प्रिय उर्मिल ने 'स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती स्मृत्यभिनन्दन ग्रन्थ' का जो उपक्रम किया है, वह स्तुत्य है । स्वामीजी जैसे ख्यातनामा यशस्वी विद्वान् के सारस्वत श्राद्ध का अप्रतिम साधन है यह ग्रन्थ, जो देश-विदेश में स्थित स्वामीजी के सहस्राधिक शिष्यों के मानस-पटल पर उनकी स्मृति को चिरस्थायिनी बनायेगा । स्वामीजी का उज्ज्वल सार्थक जीवन मुझ जैसे सभी पुत्र-पुत्रियों एवं शिष्य-शिष्यायों को आलोकित करे, यही प्रभु से प्रार्थना है । पुण्यश्लोक पूज्य स्वामीजी के प्रति मेरी शतशः प्रणामाञ्जलि।

●

वेदश्रीः

सत्यप्रकाश-स्मृतिः

डॉ० हरिदत्तः शर्मा

एकोनविंशे शतपञ्चवर्षे
लेभे जनिं भारतभूमिमध्ये ।
वेदार्थ - विज्ञान-विकास हेतुः
सत्यप्रकाशो भुवि सत्प्रकाशः ।।

रसायनं शास्त्रमधीतवान् यो
पूर्वं परास्नातकपाठमध्ये ।
पुनर्गृहीत्वा बहुशोधकीर्तिं
लेभे ह्युपाधिं नवडाक्टरीयाम् ।।

देशे विदेशे च सुलब्धकीर्तौ
विद्यालये सुप्रथिते प्रयागे ।
अभून्नियुक्तो नु प्रवक्तृपीठे
शिष्यानेकान् समबोधयच्च ।।

प्राप्ते नवे यौवनकाल आसीद्
रत्नाकुमार्या विधिवद् विवाहः ।
तथापि राष्ट्रस्य स्वतन्त्रतायै
सङ्घर्ष - सङ्ग्रामपरो बभूव ।।

असेवतासौ सममेव वीरो
विज्ञानविद्याञ्च सरस्वतीमिव ।
पराश्रितां भारतमातरञ्च
कारादिदुःखानि विमर्षमाणः ।।

रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

आजीवनं शोधरतो मनीषी
विज्ञान - सेवाव्रतमादधार ।
सम्पादकोऽध्यक्षवरश्च लेखको
विज्ञान-संस्था-परिषत्सु सक्रियः ।।

द्वीपेषु देशेषु तु विश्वमध्ये
विदेशयात्रासु हि सोऽभ्रमद् बहु ।
दत्तानि भूयांसि च भाषणानि
सुगौरवाढ्या निजभूः कृता च ।।

भूयश्च विज्ञानकृ तित्वहेतोः
विद्वानसौ वै बहुशः पुरस्कृतः ।
चतुर्षु वेदेषु कृतश्रमोऽयं
भाषान्तरं तत् कृतवान् व्यवस्थितम् ।।

प्रचारयन्नार्यसमाजनिष्ठावा-
न्नसौ विचारान् विचचार भूयः ।
स्वामी बभूवाथ गृहं विहाय
जगद् विहायाथ गतो द्युलोकम् ।।

कला साहित्य और विज्ञान की त्रिवेणी

प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

मेरा जन्म एक छोटे से ग्राम में एक आर्यसमाजी परिवार में हुआ । बाल्यकाल से ही आर्यसमाज के सभी नये व पुराने विद्वानों व महात्माओं के नाम से परिचित हो गया । कौन किस विषय का विशेषज्ञ या मर्मज्ञ है, यह भी जानता था । आज के वातावरण में मेरे इस कथन पर कोई विश्वास नहीं करेगा परन्तु, मेरे जन्म स्थान के लोग स्वाध्याय प्रेमी थे । वे शास्त्रार्थों की चर्चा करते रहते थे इस लिये मैं सुन-सुनकर सब बड़े-बड़े विद्वानों के नाम से खूब परिचित था । मैं छठी-सातवीं कक्षा में पढ़ता था तभी मुझे ग्रामवासियों से पता चला कि आर्यसमाज में गंगाप्रसाद नामक बहुत बड़े विद्वान हैं। छोटी सी आयु में मैं पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय जी की लेखनी का ऐसा दीवाना बन गया कि रिफार्मर (उर्दू साप्ताहिक जिसमें उपाध्याय जी नियमित लिखा करते थे) के सम्पादक विद्यार्थी जी मुझे 'छोटे उपाध्याय जी' कहा करते थे।

पूज्य उपाध्याय जी से मेरा नियमित पत्रव्यवहार था। उपाध्याय परिवार का लगभग सम्पूर्ण साहित्य मैंने पढ़ा, बार-बार पढ़ा और बहुत कुछ पाया। स्वामी सत्यप्रकाशजी के दर्शन तो प्रथम बार १९५८ के अन्त में मथुरा की महर्षि-दीक्षा शताब्दी पर हुये और मैं सपरिवार उनकी संन्यासदीक्षा में भी सम्मिलित हुआ । तब स्वामीजी ने अपने प्रथम भाषण में कहा था, "मैं दुर्बलताओं को ढोते हुये जीवन में आगे बढ़ रहा हूँ ।" इस वाक्य में उनकी विनम्रता, बड़प्पन व आत्मविश्वास छिपा है । तब भाषण तो अनेक लोगों के हुये परन्तु बड़े संकोच के साथ यह कहूँगा कि सर्वाधिक प्रभावशाली दो ही व्याख्यान थे - एक श्री स्वामीजी का और दूसरा मेरा।

मैंने तब अपने जोशीले भाषण में कहा था, "कुछ लोगों ने घरवालों के नाम पर यह बात प्रचारित कर दी है कि मैंने अपने माता-पिता की सेवा नहीं की, अतः मुझे सुयोग्य शिष्य नहीं मिलेंगे ।" मैं इस बात को मनगढ़न्त व सिद्धान्त विरुद्ध मानता हूँ। मुनिवर गुरुदत्त, पं० लेखराम, स्वामी दर्शनानन्द, पं० गणपति, पं० चमूपति व पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय की योग्यता पर हम जितना भी अभिमान करें, थोड़ा है। महात्मा बुद्ध, ईसा व हजरत मुहम्मद को बड़े-बड़े त्यागी व लग्नशील शिष्य मिले, यह ठीक है परन्तु, पं० लेखराम की लग्न किससे कम थी ? इन महापुरुषों की शिष्य परम्परा में कोई वैज्ञानिक विरक्त होकर मिशन के लिये समर्पित हुआ क्या ? यह निराली शान तो ऋषि दयानन्द की है कि आज एक नामी लेखक, कवि व वैज्ञानिक घर बार पर लात मारकर धर्म-भिक्षु, बन रहा है।"

स्वामीजी संन्यासी बनकर कितने सफल हुये और कितने विफल हुये इस विषय का विवेचन मुझे नहीं करना है परन्तु, मेहता जैमिनि जी के पश्चात् इतना व्यापक भ्रमण करने वाला दूसरा मिशनरी ऋषि की शिष्य परम्परा में कोई नहीं मिलेगा। आर्यसमाज के इतिहास का सूक्ष्म व व्यापक अध्ययन करते हुये मैं डंके की चोट से इस सत्य का, इस तथ्य का प्रकाश करता हूँ।

अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कालेज, अबोहर, पञ्जाब

विज्ञान परिषद् ने उनको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया, जिसमें किसी पृष्ठ पर अलग से बाक्स बनाकर एक घटना छपी है । यह घटना मैंने ही भेजी थी। पूज्य उपाध्यायजी कुछ न कुछ लिखते ही रहते थे । लिफाफों के लिये गोंद की एक शीशी रखी थी। सत्यप्रकाश जी को बाल्यकाल में पतंग उड़ाने की बहुत ललक थी। एक दिन अपनी दादी माँ से जाकर पिता जी की शिकायत करते हुये कहा, ''दादी माँ पिताजी अपने लिफाफों में सारी गोंद बर्बाद कर देते हैं। मैं पतंग किससे बनाऊँ ?''

तब कौन जानता था कि यह बालक जो आज पिता के लेखन कार्य और लिफाफों पर गोंद चिपकाने को व्यर्थ बताता है आगे चलकर विश्व का एक नामी लेखक बनकर अपने पिता को भी मात देकर कुल की कीर्ति का कारण बनेगा। यह घटना उपाध्यायजी ने अपनी उर्दू पुस्तक 'बारी' में दी है।

यह भी क्या संयोग की बात है कि जब सत्यप्रकाश जी का जन्म होना था उसी वर्ष उपाध्याय जी ने अपना एक विस्तृत महत्त्वपूर्ण लेख 'धर्म और विज्ञान' विषय पर उर्दू आर्य मुसाफिर में दिया । १६०५ में प्रकाशित यह लेख मेरे पास है। उसी वर्ष, परमेश्वर नें उन्हें पुत्र रत्न सत्य प्रकाश प्रदान किया जिसने विज्ञान के क्षेत्र में भी कीर्ति अर्जित की और सारे संसार को वेद की अमर वाणी का सन्देश सुनाया।

स्वामीजी जैसा हंसोड़ दूसरा व्यक्ति मैंने नहीं देखा। डा० रामगोपाल शालवाले के आनन्द बोध बनने के कुछ समय पश्चात् एक सभा में मैं स्वामीजी के साथ ही वेदी पर बैठा था। आनन्द बोध भी वहीं थे। किसी को शाल भेंट करना था। ''शाल लाओ, शाल कहाँ है ?'' मन्त्री जी ने लाउड स्पीकर से आवाज दी । स्वामी सत्यप्रकाश बोले, ''अब तो शालवाले ही नहीं रहे तो शाल कौन देगा ?'' आनन्द बोध जी यह वाक्य सुनकर कुछ झेंप से गये। उन्हें तब समझ में ही नहीं आया कि यह क्या कह गये । वेदी पर बैठे हुये और लोग खिलखिला कर हँसे।

एक बार मन्दिर मार्ग में प्रादेशिक सभा के कार्यालय में एक कोने में रद्दी में से एक अलभ्य पुस्तक उठाकर मैंने स्वामीजी से कहा, देखिये यह क्या है ? इन्होंने रद्दी में फेंक दी है। यह आर्यसमाज के लिये बहुत काम की है।

स्वामीजी तपाक से बोले, ''अरे प्रादेशिक सभा व डी० ए० वी० तो एक ऐसी गाड़ी है जिसका एक-एक पुर्जा बोलता है परन्तु हार्न नहीं बोलता।''

हास्यरस में ऐसा चित्रण करने वाला दूसरा व्यक्ति मिलना अति कठिन है।

अपने संन्यास के कुछ मास पश्चात् वे पंजाब की यात्रा पर थे । सब स्थानों पर मैं साथ-साथ रहा । हम अमृतसर पहुँचे। बहुत रात हो चुकी थी । अमृतसर के एक पुराने आर्यसमाजी श्री वेदव्रत केसर, कस्तूरी वाले हमें घर ले गये। यह कभी प्रयाग उपाध्याय जी के दर्शनार्थ डा० सत्य प्रकाश के घर गये थे। आर्यसमाज की चर्चा चली तो उन्होंने कहा, '' मैं देहली गया । लाला रामगोपाल बहुत व्यस्त रहते हैं । इतनी समाजें हैं । कभी इस समाज के जलूस में जाना पड़ता है कभी उस समाज के जलूस में।'' कई बार जलूसों की बात सुनकर स्वामीजी ने कहा, ''आर्यसमाज का जलूस ही निकालते हैं तो या कुछ और काम भी करते हैं ।'' मैं तो बहुत हँसा, अब वेदव्रत जी क्या कहते ?

संन्यास लेने के पश्चात् वे उपाध्याय जी की आर्य नेता व विद्वान् होने के नाते तो चर्चा करते थे परन्तु वे उनके पिता थे इसलिये यदि कोई उनकी चर्चा उनके सामने करे तो डाँट देते थे, रोक देते थे, टोक देते थे । मेरे सामने अमृतसर में वेदव्रत जी को डाँटा और अबोहर में प्राचार्य दुग्गल से कहा, ''अब उस कुल की चर्चा मत करें। मेरे कुल की चर्चा करें । स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द का कुल मेरा कुल है। मैं संन्यासी हूँ। इस कुल की चर्चा करें।''

डा० सत्यकेतु जी वाला इतिहास सात खण्डों में छपा । इसे देखा तो मुझे कहा, ''देखिये उपाध्याय जी सरकारी नौकरी, पेंशन का प्रलोभन छोड़कर समाज सेवा के लिये आगे आये । इसमें उनकी क्या चर्चा है ? शिक्षा शास्त्रियों में उनका नाम तक नहीं।''

मैंने कहा, ''जिन्होंने कभी प्राइमरी कक्षा को नहीं पढ़ाया उनकी शिक्षाशास्त्रियों में चर्चा है। स्वामी वेदानन्द जी, स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी, आचार्य ईश्वरचन्द्र, व स्वामी सर्वानन्दजी की भी नहीं है । कोई बात नहीं जिनके प्रति अन्याय हुआ है उनका इतिहास मैं लिखूँगा ।'' स्वामीजी ने व्यक्तिगत बातचीत में तो इस अनर्थ पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की परन्तु, सार्वजनिक रूप से मौन ही रहे ताकि मर्यादा भंग न हो । अब परिवार से सम्बन्ध ही टूट गया तो फिर क्यों बोलें ?

उपाध्याय जी का जीवन-चरित्र लिखने का मन बनाया तो एक दिन मैंने कहा, '' उपाध्यायजी का कोई स्मरण सुनावें ।'' उन्होंने कहा, ''महात्मा नारायण स्वामीजी की, स्वामी श्रद्धानन्दजी की, स्वामी सर्वदानन्द जी की चर्चा छेड़ेंगे तो कुछ सुना दूँगा । उपाध्यायजी के बारे में औरों से पूछे।''

पाठक सोचेंगे कि उपाध्याय जी के जीवन में स्वामीजी के संस्मरण मैंने दिये तो हैं। यह ठीक है परन्तु शोध के नाम पर उनको एक प्रश्नावलि भेजी गई तब उत्तर में जो मिला वही कुछ देने पर विवश था।

एक बार मैंने पत्र साहित्य की चर्चा छेड़कर पूछ लिया, ''क्या पूज्य उपाध्यायजी के पत्र भी किसी ने सुरक्षित रखे या कहीं सम्भाले हैं ?''

अपनी अनूठी शैली में बोले, ''ऐसा तो आर्यसमाज में एक ही खब्ती (सनकी) है, उसी से मिल सकते हैं।''

मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा, ''वह कौन है ? कहाँ है ?''

स्वामीजी ने कहा, ''राजेन्द्र 'जिज्ञासु अबोहर।''

मैंने स्वामीजी की व कैप्टन देवरत्न जी आर्य की हँसी विनोद की प्रतिस्पर्धा देखी । स्वामीजी अस्वस्थ थे। कैप्टन जी उनकी सेवा-शुश्रुषा कर रहे थे। हम भोजन पर बैठे। दूर से स्वामीजी ने पूछा, ''क्या-क्या बना है ?

कैप्टन जी ने भिण्डी आदि गिनाकर कहे कि आपके लिये नहीं है, डाक्टर ने आपके लिये वर्जित बताये हैं । स्वामीजी ने आलू भी बना है, यह सुन लिया था। आलू उनकी दुर्बलता थी। बोल पड़े, ''तो आलू खाने से डाक्टर ने थोड़ा रोका है।''

उनका कहने का ढंग ही कुछ ऐसा था कि यह सुनते ही हम हँसी से लोटपोट हो गये। मेरी पुत्री कविता आर्या ने कहा, ''स्वामीजी आलू व काफी नहीं छोड़ सकते।''

कैप्टन जी ने कहा, ''आपके बारे में कोई मेरे संस्मरण माँगेगा तो में कहूँगा कि आपने वेद का प्रचार कम किया है आलू व काफी का अधिक क्रिया है।''

इस पर मैंने कहा, ''हमारे घर में स्वामीजी के कारण काफी का प्रवेश हुआ।''

कैप्टन जी बोले, आपके नहीं, ''हमारे घर भी इन्हीं की कृपा से काफी आई है । इन्होंने बहुत घर बिगाड़े हैं ।'' स्वामीजी भी ये सुनकर बहुत हँसे फिर अपने काफी प्रेमी बनने की कहानी सुनाई।

आर्य समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति कम हो रही है । इस पर वे बहुत चिन्ता प्रकट किया करते थे । मुम्बई में मुझे कहा, ''राजेन्द्र अब तो पं० लेखराम की परम्परा के तुम अन्तिम विद्वान् हो ।'' इस वाक्य से उनके मन में पं० लेखराम जी के प्रति

अगाध श्रद्धा व भविष्य के बारे में उनकी चिन्ता का पता चलता है। इसे मेरी दुर्बलता समझिये। मैं इस सम्बन्ध में एक घटना को नहीं भूल सकता।

जब महर्षि की बलिदान शताब्दी पर विद्वानों का अभिनन्दन समारोह हुआ तो पहले मेरा नाम बोलने की बजाय स्वामीजी ने ये शब्द कहे, ''अब पं० लेखराम की परम्परा के एक विद्वान् का हम सम्मान।'' इसी से सब लोग समझ गये कि अब मेरी बारी है। तब मैंने भी निश्चय कर लिया कि स्वामी जी जो चाहते हैं मैं उस कार्य में और रुचि लूँ और परिश्रम करूँ । अवैदिक मतों के अध्ययन में अब लगा ही रहता हूँ । स्वामीजी ने अपने ढंग से इसकी विशेष प्रेरणा दी।

ईश्वर का वेदोक्त स्वरूप, ईश्वर व जीव का सम्बन्ध, उपासना का वैदिक प्रकार, मांसाहार, मूर्ति पूजा, कर्मफल सिद्धान्त, ईश्वर की दया व न्याय, मूर्ति पूजा, पैगम्बरवाद, अवतारवाद, फलित ज्योतिष आदि विषयों पर वे ऐसी अनूठी शैली से बोलते थे कि श्रोता भाव विभोर हो जाते थे । मैंने इन विषयों पर इतना मौलिक बोलने वाला दूसरा विद्वान् नहीं देखा । मैं यात्रा में एक मास उनके साथ रहा । दिन में तीन-तीन बार बोलना पड़ जाता था । कभी भी एक व्याख्यान को नहीं दोहराया । हर बार ही नई सामग्री देते रहे। 'ईश्वर की सत्ता व विज्ञान' इस विषय पर तो प्रत्येक स्थान पर लोग बोलने के लिये आग्रह करते थे। यह सब कुछ उनके गम्भीर चिन्तन का फल था।

मैं व्यक्तिगत रूप में उनका बहुत ऋणी हूँ । दयानन्द मठ दीनानगर में बैठे थे । महर्षि दयानन्द स्मृति ग्रन्थ के बारे में बात चली तो मुझे पूछा, ''आप किस विषय पर लेख देंगे ?'' मैंने कहा, ''आप जो भी विषय दें।'' कुछ समय विचार-विमर्श करने के पश्चात् कहा, ''आर्य समाज का प्रतिवादी साहित्य, इस विषय पर आप एक अत्युत्तम लेख दें। इस पर लिखने वाला कोई दूसरा व्यक्ति मेरे ध्यान में नहीं है।''

मैंने पूछ लिया, ''कितने पृष्ठ का लेख भेजूँ ?''

स्वामीजी ने कहा, ''आप जितना लम्बा लिखना चाहें ।'' शीर्षक भी आप ही ने सोचा । प्रायः ऐसे लेख का शीर्षक 'आर्यसमाज का खण्डन मण्डन साहित्य' दिया जाता है । मैंने उनकी आज्ञा पाकर भरपूर परिश्रम करके लेख लिखा। उक्त ग्रन्थ में सबसे लम्बा यही लेख है । गोविन्दराम हासानन्द के सञ्चालक स्वर्गीय श्री विजय कुमार ने इस पर मुझे बधाई का पत्र लिखा और इसे इस ग्रन्थ का सर्वोत्तम लेख बताया।

स्वामीजी मुझे जब कभी भी मिलते नये-नये विषयों पर लिखने की प्रेरणा दिया करते थे। मेरी पुस्तक 'मौलिक भेद' की पठनीय भूमिका लिखकर मुझे कृतार्थ किया। गन्ने के खेत में घुसने पर गन्ना तोड़ने वाले की जो मनःस्थिति होती है इस लेख को लिखते हुये मेरी भी वही स्थिति है। क्या लिखूँ, क्या न लिखूँ ? उनकी सूझ व चिन्तन की मौलिकता की कई घटनायें मेरे लिये अविस्मरणीय हैं। एक दिन विकासवाद की चर्चा करते हुये कहा, '' राजेन्द्र ! पश्चिम के विकासवादी लोग तो अमीना व बन्दर से उत्पत्ति व विकास मानते हैं । वे तो बन्दर से न्यूटन व जार्ज बर्नार्ड शॉ तक पहुँचे । वे गिर भी जायें तो कोई बात नहीं लेकिन हम लोग सृष्टि के आदि में वेद-ज्ञान प्राप्त करने वाले ऋषियों से चलकर पत्रा-पत्री देखने वाले, हस्तरेखा वाले ठगों व गुरुडम के दावेदारों तक पहुँचे । वे आगे निकले या हम ?

श्री सत्यकाम जी, स्वामीजी के साथ मैं बैठा हुआ था। प्रसंग तो लम्बा है परन्तु, संक्षेप में ही लिखूँगा । सत्यकाम जी की प्रसिद्ध कृति 'चरित्र-निर्माण' की चर्चा चल पड़ी । स्वामीजी ने सत्यकामजी से कहा, ''भाई ? यह पुस्तक तो आपने मुझे पढ़ाई ही नहीं ।'' सत्यकामजी बोले, ''स्वामीजी इसकी बहुत माँग है फिर छपवाउँगा तो आपको पढ़वाउँगा।''

स्वामीजी ने अपनी अनूठी शैली में मेघ गम्भीर स्वर में कहा, "अब मैं चरित्र-निर्माण तो क्या कर सकूँगा । हाँ ! चरित्र भ्रष्ट तो हो सकता ही हूँ । पहले पढ़वाते तो कुछ बात भी बनती।"

इस पर हम इतने हँसे कि शब्दों में बता पाना मेरे लिये अति कठिन है । जब-जब इस घटना का स्मरण करता हूँ, अनायास हँसी छूट जाती है।

आर्यसमाज व ऋषि दयानन्द के नाम पर चलाये जाने वाले स्कूलों,कालेजों के सम्बन्ध में एक डी० ए० वी० कालेज मैगजीन में आपने लिखा कि ये संस्थाएँ कोई ख्यातिप्राप्त दार्शनिक, साहित्यकार व वैज्ञानिक पैदा नहीं कर सकीं । अपने लिये ही दो सम्पादक भी आज तक तैयार नहीं कर सकीं। इधर-उधर से सम्पादक व लेखक खोजते पकड़ते रहते हैं । किसी को बुरा लगे या अच्छा परन्तु आत्म-निरीक्षण करने के लिये स्वामीजी ने झकझोर कर रख दिया । इस सत्य को कौन झुठला सकता है ? स्वामीजी की पुस्तकों से मैं कुछ सूक्तियाँ देकर अपने लेख को विराम देता हूँ।

1. The same intelligent designer who is present in one country is present as well in any other. The same is the artist and the art is same.

2. Whatever is Good must be encouraged and whatever is Evil must be resisted.

3. It is again the freedom that imposes responsibility.

4. The first cling to actions and then actions cling to us.

5. A prayer, if meant to be fulfilled, must have a follow-up programme, a prayer is not an end of one's duty; it is just a beginning.

6. The mercy of God lies in His being just. His justice is the greatest mercy. He is kind to us because he is just and merciful both.

7. Order would certainly appear to be nature's first law.

8. We must remember that universe is not run by laws. The running of the universe implies that there is particular law and order.

9. He is our Father and all of us are his sons. Nobody can claim to be His only son.

10. This creation of our Lord is an open book and there is no hiding.

स्वामी सत्यप्रकाश जी एवं आर्य समाज कटरा

एम० एल० जायसवाल

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी भारतीय चिन्तन परम्परा के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। वे विज्ञान, धर्म और साहित्य की त्रिवेणी की धारा को अपने चिन्तन से अन्तिम क्षण तक प्रवाहित करते रहे। रसायन विज्ञान की शीर्ष परम्परा को एक ओर उन्होंने स्पर्श किया तो दूसरी ओर धर्म और अध्यात्म के रहस्यमय पृष्ठों पर अपनी पैनी दृष्टि डाल उसे सर्वसुलभ बनाया। हिन्दी की अप्रतिम सेवा के साथ-साथ उन्होंने वैदिक वाङ्मय का अँग्रेजी में अनुवाद कर पूर्व की चिन्तन धारा को पाश्चात्त्य जगत् के लिए सुलभ बनाया। ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और वैदिक ऋचाओं की नयी व्याख्या उनकी प्रतिभा के नये चमत्कार भी दिखलाती है। जीवन के उत्तरकाल में परिव्राजक धर्म अंगीकृत कर देश एवं विदेश में घूम-घूम कर वे वैदिक सत्य का उद्घाटन करते रहे। लेखनी और वाणी दोनों के द्वारा वे आर्य जगत् में अलख जगाते रहे, सत्य मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते रहे और आने वाली समस्याओं से भी आगाह करते रहे।

स्वामी जी का जीवन भारतीय चिन्तन परम्परा का एक उज्ज्वल अध्याय है उनका जन्म गुरुवार २४ अगस्त, १६०५ को आर्यसमाज मन्दिर बिजनौर नगर में हुआ था और मृत्यु भी आर्य समाज कोरबा में उनके प्रिय शिष्य पं० दीनानाथ के निवास स्थान पर दिनांक १८ जनवरी, १६६५ को हुई। वहीं कोरबा में उनका अन्तिम संस्कार भी किया गया।

स्वामी जी का व्यक्तित्व आर्यसमाज के लिए समर्पित था। आर्यसमाज, कटरा तो उनके तेजोमय जीवन का साक्षी रहा है। १६७१ से १६८२ तक ११ वर्ष तक एक परिव्राजक के रूप में यहाँ रह कर स्वामी जी ने अपने व्यक्तित्व से उसे संवारा। परिणाम यह हुआ कि कटरा आर्य समाज देश विदेश में जाना जाने लगा। वैज्ञानिकों, साहित्यसेवियों एवं आर्य विद्वानों की जमघट से यह आर्यसमाज आलोकित होता रहा। आर्यसमाज, कटरा को स्वामी जी से क्या-क्या मिला यह गिनाया नहीं जा सकता। प्रत्युत् यह कहना समीचीन होगा कि आर्यसमाज, कटरा की आज जो भी ख्याति है उसका सारा श्रेय स्वामी जी को ही जाता है। १६६२ में उनके द्वारा प्रदत्त १२०० पुस्तकें तथा ४ लोहे की आलमारियाँ इस आर्यसमाज में विद्यमान हैं तथा उनकी इच्छानुसार उनके नाम से एक पुस्तकालय भी १-४-६२ से चल रहा है। स्वामी जी ने इस समाज के उत्थान एवं वाङ्मय साहित्य के लिए १०,०००/- रुपये की सहायता प्रदान की थी। वे एक समृद्ध पुस्तकालय यहाँ देखना चाहते थे।

स्वामी जी जब यहाँ से १६८२ में विज्ञान परिषद् गये तो अपने निमित्त निर्मित एक कुटिया में रहने लगे। उनके भोजन की व्यवस्था उनके शिष्य स्व० लोकमणि लाल जी करते थे। कुछ वर्षों के पश्चात् स्वामी जी ने अशक्त होने पर उनके निवास पर भोजन करने जाना बन्द कर दिया और आर्यसमाज, कटरा के माध्यम से उनके भोजन की व्यवस्था की जाने लगी। उनका सेवक पूर्व परिचित घरों से उनके लिए भोजन लाया करता था।

प्रधान, आर्य समाज कटरा, इलाहाबाद

स्वामी जी जब तक स्वस्थ थे और विज्ञान परिषद् की कुटिया में रहते थे, प्रत्येक रविवार को हमारे कटरा समाज में रविवार साप्ताहिक सत्संग में आया करते थे और वेद, उपनिषद् तथा अन्य धार्मिक विषयों पर अपने प्रवचन से हम सबको लाभान्वित करते थे । स्वामी जी धीरे-धीरे कमजोर होते जा रहे थे और फिर एक दिन ऐसा आया कि कुटिया से बाहर जाने का कार्यक्रम बन्द करना पड़ा।

एक बार स्वामी जी ने इच्छा व्यक्त की कि उनके निवास — विज्ञान परिषद् में जिस वेदी पर उन्होंने लगभग २० वर्ष पूर्व १० मई, १९७१ में संन्यास ग्रहण किया था। एक बृहद् यज्ञ का आयोजन किया जाया । उनकी इच्छानुसार दिनांक २७-१२-१९९२ को वेदी-स्थल पर यज्ञ आयोजित किया गया । इस शुभ अवसर पर बड़ी भीड़ जुटी, यज्ञ के पश्चात् प्रवचन भी हुआ। अन्त में स्वामी जी ने भी अपना आशीर्वाद दिया । स्वामी जी के प्रवचनों के कैसेट आर्यसमाज मन्दिर में सुरक्षित रखे हैं।

उस इतिहास पुरुष के जन्म से, कर्म से धन्य है विज्ञान, धन्य है धर्म, धन्य है धरती, धन्य है आकाश, धन्य है वायु और धन्य हैं हम सब।

विज्ञान एवं संस्कृति की महान् विभूति :
स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

राधे मोहन

संस्कृति रूपी गंगा और विज्ञान रूपी यमुना का संगम किसी एक व्यक्ति में समाहित था तो उस महान् विभूति का नाम स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती था। संन्यास के पूर्व भी सत्यप्रकाश के नाम से आपने प्रयाग विश्वविद्यालय में रसायनशास्त्र के प्रवक्ता एवं विभागाध्यक्ष के रूप में जो महती सेवा की है वह काल विश्वविद्यालय के स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। आपने रसायनशास्त्र की ज्ञानगंगा में सहस्त्राधिक छात्रों को स्नान करा कर उन्हें राष्ट्र के उच्चतम विद्वानों की पंक्ति में खड़ा कर दिया । जिसके कारण सदा-सदा के लिए उनकी आत्मा के पास बने रहे । जिस समय विश्वविद्यालय व महाविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी ही था उस समय आपने हिन्दी भाषा में रसायन का अध्यापन ही नहीं कराया बल्कि रसायनशास्त्र सम्बन्धी अपने ग्रन्थों को हिन्दी में लिखा जो भविष्य में प्राध्यापकों के लिए सहायक बना। विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी और अँग्रेजी में आपने प्राचीन भारत में रसायन का विकास, फाउन्डर्स आफ दि साइंस इन दि एनशिएन्ट इण्डिया, केमेस्ट्री इन दि एनशिएंट इंडिया, क्राइन्स इन दि एनशिएंट इंडिया ज्योमेट्री इन दि एनशिएंट इंडिया, भारत की सम्पदा आदि गौरवशाली ग्रन्थों का प्रणयन कर प्राचीन भारत के गरिमापूर्ण रूप का विश्व को दिग्दर्शन करा दिया । इन ग्रन्थों में किसी की भूमिका श्रीमती इन्दिरा गाँधी, किसी की डॉ० कर्ण सिंह और किसी की हुमायूँ कबीर ने लिखी है । प्राचीन भारत के सम्बन्ध में गवेषणा करने वाले विभागों के लिए यह ग्रन्थ परम सहायक होंगे।

आपके व्यक्तित्व में विज्ञान एवं संस्कृति का अद्‌भुत संगम देखने को मिलता है । जहाँ आपने विज्ञान सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया और देश-विदेश के विश्वविद्यालयों में विज्ञान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिए वहीं भारतीय संस्कृति, आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों पर खोजपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। आपकी लौह-लेखनी से उद्‌भूत वैदिक अग्निहोत्र, वेदों पर अश्लीलता का व्यर्थ आक्षेप, पातंजल राजयोग, ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ फिलासफी आफ दयानन्द, डायलाग आफ उपनिषद्, ह्यूमैनिटेरियन डाइट, मैन एंड हिज रिलीजन, आदि हिन्दी और अँग्रेजी में सुप्रसिद्ध पुस्तकें हैं जो चिरकाल तक ज्ञान पिपासुओं की पिपासा का शमन करती रहेगी । अपने मृत्यु के कुछ काल पूर्व आपने एक बहुत बड़ा कार्य करने का बीड़ा उठाया। वह था वेदों की कल्याणी वाणी का अँग्रेजी में अनुवाद करना । चारों वेदों के २० हजार मंत्रों को अँग्रेजी में अनूदित करना अत्यन्त कठिन कार्य था । इसके हेतु वेदों के भारतीय भाष्यकारों में सायण, महीधर आदि और पाश्चात्त्य विज्ञानों में प्रो० मैक्समूलर, विलसन, ग्रिफिथ, कीथ आदि के भाष्यों को भी पढ़ना आवश्यक था । स्वामी जी ने गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन द्वारा इस कष्टसाध्य कार्य को अपने जीवन काल में पूर्ण ही नहीं किया बल्कि १२, १३ खंड प्रकाशित कराये । देश देशान्तर में विक्रय का भी प्रबन्ध किया । स्वामी जी के इस महान् कार्य ने वेद को अध्येताओं और वेदानुयायियों के लिए सरल बना दिया।

प्रधान, आर्य समाज चौक, इलाहाबाद (भू० पू०)

स्वामी जी एक आदर्श व्यक्ति थे। वैदिक सिद्धान्तों के शतशः पालक थे। जब वह प्रोफेसर थे तब भी व्यस्त होते हुए भी सन्ध्या और अग्निहोत्र नियमित रूप से करते थे। आर्यसमाज के प्रति श्रद्धा उन्हें अपने पूज्य पिता श्री गंगा प्रसाद उपाध्याय से उत्तराधिकार रूप में मिली थी। आर्यसमाज के सत्संग में नियमित रूप से प्रति रविवार को जाते थे । जब वे १८ वर्ष के पूरे हुए उसी दिन आर्यसमाज के सदस्य बने और जब संन्यास लिया तभी सदस्यता भी छोड़ी। उनकी मान्यता थी कि संन्यासी को किसी सभा का अधिकारी व सदस्य नहीं होना चाहिए । संन्यास लेने के बाद देश-विदेश में परिव्राजक के रूप में आपने वैदिक धर्म और आर्यसमाज की महती सेवायें की। महर्षि दयानन्द की तर्कपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वे पूर्ण रूप से सहमत थे । 'सादा जीवन उच्च विचार' की वे जीवन्त प्रतिमा थे । जब भी उन्हें विदेश जाना हुआ सादगी उनके आड़े नहीं आई। जब वे पेरिस की भीड़ भरी सड़कों पर भ्रमण कर रहे थे, खादी की धोती कुरता, कपड़े का जूता और गाँधी टोपी से असंख्य लोगों के कौतूहल के पात्र बने। जिस बाजार से इस वेशभूषा में निकलते थे लोग टकटकी लगा कर देखते हुए कहते थे, यह नेहरू के देश का आदमी है। उन्होंने अपनी वेषभूषा को भी विदेशों में प्रतिष्ठा दिलाई।

संन्यास लेने पर काषाय वस्त्र धारण कर स्वामी शंकरानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द की भाँति बड़ी-बड़ी जन सभाओं को उन्होंने सम्बोधित किया और पाश्चात्त्य देशों के विश्वविद्यालयों में भी इसी रूप में विद्वानों ने इन्हें श्रद्धा से देखा और सुना। स्वामी जी का स्वभाव मधुर एवं मनोहारी था। कठोर से कठोर बात को बड़ी सरलता से विनोद भाव से कह देने की उनकी अद्‌भुत क्षमता थी। उदाहरणार्थ एक घटना ही पर्याप्त होगी।

एक बार हमने जिज्ञासु सरलतम संस्कृत प्रचार समिति के तत्त्वावधान में आर्यसमाज चौक में संस्कृत दिवस का समायोजन किया । सभा के अध्यक्ष श्री राम सहाय पूर्व उपकुलपति थे और स्वामी जी मुख्य अतिथि । डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव जो संप्रति सी०एम०पी० डिग्री कालेज में संस्कृत विभागाध्यक्ष हैं श्यामपट पर एक शब्द की सिद्धि का प्रदर्शन कर रहे थे । संयोग से आनन्द जी पैन्ट एवं बुशर्ट पहने थे और श्री राम सहाय जी इसी वेश में थे। सभाकक्ष खचाखच भरा हुआ था । उस समय एक सज्जन जो मथुरा से आए थे उन्होंने भी अपने विचार रखने की प्रार्थना की, मैंने समय दे दिया । उन्होंने आलोचना की कि आज संस्कृत दिवस पर जो व्यक्ति संस्कृत के शब्द की सिद्धि कर रहा है धोती कुर्ता नहीं बल्कि विदेशी लिबास पहन कर कर रहा है, यह बड़े लज्जा की बात है। उनकी वक्तृता पर राम सहाय जी बड़े संकोच में आ गए क्योंकि अध्यक्ष के आसन पर वैसी ही वेशभूषा उनकी भी थी। श्री स्वामी जी को मुख्य अतिथि रूप में बोलना था । उन्होंने बड़े विनोदी स्वर में कहा कि हमारे सभागत पण्डिज जी व्रज के हैं। ब्रज की भाषा तो बहुत मधुर होती है ऐसी कठोर वक्तृता से मुझे तो आश्चर्य हुआ। आगे कहा कि यदि धोती कुर्ताधारी संस्कृत बोलता है तो अच्छा लगता है और यदि पैन्ट कोट वाला संस्कृत बोलता है तो मुझे बहुत ही अच्छा लगता है। इस उक्ति से श्री राम सहायजी को बड़ा बल मिला और वे पण्डित जी लज्जा से पानी-पानी हो गए। हमारी समिति के वे आदि प्रधान थे उन्हीं के सान्निध्य में हमने प्रयाग के अतिरिक्त लखनऊ और कानपुर में संस्कृत शिविरों का सफल आयोजन किया था। ज्ञान के प्रचार-प्रसार में वे सदा सहायक होते थे।

समस्त वेद शास्त्रों एवं सिद्धान्तों को उन्होंने हृदयंगम कर लिया था। एक बार मैंने उनसे निवेदन किया कि हम लोग एकादश उपनिषद् पर एक परिचयात्मक ग्रन्थ लिखवाना चाहते हैं। स्वामी जी ने पूछा 'कितने पेज का' मैंने कहा कि लगभग २५० पेज का। स्वामी जी ने कहा कि आप रुपयों का प्रबन्ध कर लें । १० दिन में ग्रन्थ मिल जाएगा। आज वे हमारे मध्य में नहीं हैं किन्तु उनके ग्रन्थ सदैव हमारी प्रेरणा के स्रोत रहेंगे। मैं उस पुण्यात्मा का शत-शत अभिवन्दन करता हूँ।

स्वामी सत्यप्रकाश : कुछ संस्मरण

ब्रह्म दत्त दीक्षित

श्रद्धेय स्वामी सत्य प्रकाश जी का सान्निध्य एवम् आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होता रहा, मुझे इस बात का गर्व है । आज जब स्वामी जी हमारे बीच नहीं हैं तो उनकी पुण्य स्मृति में हम कुछ श्रद्धा-सुमन मात्र अर्पित कर सकते हैं।

स्वामी जी स्पष्टवादी थे। एक बार आर्य समाज, चौक, इलाहाबाद, के साप्ताहिक सत्संग में सामूहिक प्रार्थना में आर्य जनों ने जब कहा कि 'सुखी रहे संसार सब, दुखिया रहे न कोय', तो स्वामी जी ने तुरन्त ही कहा कि बस, कह देने ही से संसार में कोई दुखिया नहीं रह जाएगा, क्या ? संसार में सुखी बनाने हेतु हमारे लिए कुछ करणीय है।

स्वामी जी एक महान् संन्यासी विद्वान् थे। उन्होंने वेदों को अंग्रेजी-भाषी विद्वानों के पठन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय भाषा में प्रस्तुत किया।

भारतीय दर्शन एवम् विचारधारा को समझने तथा अनुसरण करने के लिये विदेशों में बहुत उत्सुकता देखी जाती है, पर इस उत्साह का दीर्घ-कालीन लाभ उठाने में प्रायः हम लोग सफल नहीं हो पाते हैं। वहाँ के मूल-निवासियों की अपेक्षा, धीरे-धीरे प्रवासी भारतीयों तक ही हमारी पहुँच एवम् कार्य-क्षेत्र सीमित हो जाते हैं। इस बात पर ध्यान रखते हुए विदेशों में वेद-प्रचार हेतु एवम् महर्षि दयानन्द जी की विचारधारा से वहाँ के निवासियों को अवगत कराने के लिये स्वामी जी ने भरसक प्रयत्न किया कि वहाँ के निवासियों को साथ लेकर चलें । आपने कीनिया (पूर्वी-अफ्रीका) के प्रवास काल में नीग्रो युवा वर्ग को इस दिशा में प्रभावित किया। एक ऐसे नीग्रो युवा विद्वान् को प्रयाग भी लाए ताकि वह यहाँ रहकर वैदिक विचारधारा से भली-भाँति अवगत हो सके। आर्य-समाज की कार्य शैली से परिचित होकर वह जब वापिस कीनिया जाए तो वहाँ नैरोबी में आर्यसमाज उचित ढंग से चला सकें।

यदि हम विश्वास के साथ घोषित करते हैं कि विश्व को आर्य बनाना है तो स्वामी सत्य प्रकाश जी द्वारा इस दिशा में निष्ठा-पूर्ण मार्गदर्शन का लाभ उठाने का हम लोगों को दृढ़ सङ्कल्प लेना होगा। हमारे संङ्कल्प की दृढ़ता और कार्य परिणति ही ऋषियों के वैदिक उद्घोष 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' को साकार करेगी।

प्रधान, आर्य समाज, चौक, इलाहाबाद (भू० पू०)

महान् वैज्ञानिक तपस्वी : स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

डॉ० दर्शनानन्द

विज्ञान परिषद्, प्रयाग की स्थापना १० मार्च, १६१३ को महामहोपाध्याय पण्डित गंगा नाथ झा, प्रोफेसर राम दास गौड़, प्रोफेसर सालिग राम भार्गव और मौलाना हमीद उद्दीन द्वारा हुई। इनमें प्रोफेसर सालिगराम भार्गव, डॉ० सत्यप्रकाश के गुरु रह चुके थे। विज्ञान परिषद् की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि विज्ञान की दिशा में अपनी राष्ट्र भाषा हिन्दी को उचित स्थान दिलाया जा सके । इसके फलस्वरूप वर्ष १६१५ के अप्रैल मास से विज्ञान परिषद्, प्रयाग द्वारा हिन्दी में एक मासिक पत्रिका ''विज्ञान'' के प्रकाशन का शुभारम्भ हुआ । डा० सत्यप्रकाश ''विज्ञान'' के वर्ष १६२७ से १६३३ तथा पुनः १६३७ से १६४१ तक सम्पादक रहे। वे वर्ष १६६० से १६६७ तक विज्ञान परिषद् के सभापति भी रहे । हिन्दी को विज्ञान की दिशा में पुनः बढ़ावा देने के लिए डॉ० सत्यप्रकाश ने वर्ष १६५८ में ''विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका'' का प्रकाशन आरम्भ कराया। इसका सम्पादन कार्य उन्होंने एक ऐसे कर्मठ व्यक्ति (डॉ० शिव गोपाल मिश्र) को सौंपा, जो अभी तक इस पत्रिका के सम्पादक बने हुए हैं।

डॉ० सत्यप्रकाश आर्य समाज परिवार के एक दृढ़ विश्वासी आर्यसमाजी तथा उद्भट विद्वान् थे। उनका जन्म पश्चिमी उत्तर प्रदेश में २४ अगस्त, १६०५ को हुआ था । वर्ष १६२३ में म्योर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद से इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से वर्ष १६२७ में रसायन शास्त्र में एम०एस-सी० किया । फिर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने तथा अध्यापन सम्बन्धी कार्यों में लगे रहे। डी०एस-सी० की उपाधि डॉ० सत्यप्रकाश ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से ही १६३२ में प्राप्त की।

वर्ष १६६३ में हिन्दी प्रेमी सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० आत्माराम वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी० एस० आई० आर०) के महानिदेशक बन कर नई दिल्ली आए। वहाँ पहुँचते ही डॉ० आत्माराम ने अँग्रेजी में प्रकाशित वैज्ञानिक विश्वकोष ''वेल्थ ऑफ इण्डिया'' को ''भारत की सम्पदा'' के नाम से हिन्दी में प्रकाशित करने का आयोजन किया । यह असाध्य कार्य डॉ० आत्माराम ने डॉ० सत्यप्रकाश को सौंपा । लगभग ३५ वर्ष तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य पूर्ण करने के पश्चात् वे रसायन शास्त्र के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के पद से सेवानिवृत्त हुए । इसके पश्चात् वे देश-विदेश में भ्रमण करके आर्य समाज तथा वेद-वेदान्तों का व्यापक प्रचार करते रहे।

महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हुए ही डॉ० सत्यप्रकाश ने वर्ष १६७१ की १० मई को संन्यास धारण कर लिया । उसी समय से वे स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती कहे जाने लगे । स्वामी सत्यप्रकाश ने विज्ञान परिषद्, प्रयाग में ही अपनी यज्ञस्थली और तपःस्थली बनायी। अतः स्वामी जी के प्रवास के लिए समस्त आर्य परिवार की ओर से विज्ञान परिषद्, प्रयाग के प्रांगण में ''ऋतम्भरा'' नाम की एक कुटिया बनवाई गई, जो ४ दिसम्बर, १६८८ को रविवार के दिन विज्ञान परिषद्, प्रयाग को भेंट की गई। प्रयाग में रहने पर स्वामी जी इसी कुटिया में निवास करते थे।

डिप्टी डायरेक्टर, हार्टीकल्चर, इलाहाबाद मण्डल, इलाहाबाद (अवकाश प्राप्त)

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती सत्य रूप से त्यागी और एक महान् तपस्वी व योगी थे। घरबार को त्याग कर उन्होंने संन्यास लिया । फिर सर्दी हो या गर्मी, स्वामी जी केवल गेरुआ रंग की लुंगी पहने प्रायः नंगे बदन दिखाई दिया करते थे। विशेष आवश्यकता पड़ने पर गेरुआ रंग की ही एक ओढ़नी या अंगोछा लपेट लिया करते थे।

वर्ष १९८८ में विज्ञान परिषद् की अमृत जयंती मनाई गई। विज्ञान परिषद् के ७५ वर्ष पूर्ण हो चले थे । स्वामी सत्यप्रकाश ने इस अवसर पर दिल्ली के एक प्रकाशक 'पुस्तकायन' तथा विज्ञान परिषद्, प्रयाग के संयुक्त प्रयास से ''बाल विज्ञान सिरीज़'' के अन्तर्गत ७५ पुस्तकें प्रकाशित कराने का लक्ष्य निर्धारित किया । इनमें कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इसी श्रृंखला में स्वामी जी के अध्यक्षीय सम्पादन में मेरे द्वारा भी लिखी गई एक पुस्तक ''रंग बिरंगे फल'' प्रकाशित हुई (१९९३)।

स्वामी सत्यप्रकाश के सान्निध्य में वर्ष १९९० के ४ से ८ दिसम्बर तक राष्ट्रीय पेयजल मिशन, भारत सरकार के राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत ''लोक कार्यक्रम एवं प्रौद्योगिक विकास परिषद्'' (कपार्ट), नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित तथा राष्ट्रीय पेयजल मिशन, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर और विज्ञान परिषद्, प्रयाग के संयुक्त तत्त्वावधान में विज्ञान परिषद्, प्रयाग में ''जल गुणवत्ता जाँच'' पर एक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का आयोजन हुआ। स्वामी जी ने संक्षिप्त नाम ''कपार्ट'' के पूर्ण नाम 'लोक कार्यक्रम एवं प्रौद्योगिकी विकास परिषद्' पर तीखी प्रतिक्रिया के साथ अपना मत व्यक्त किया कि इस प्रकार के संगठनों के नाम छोटे और सरल होने चाहिए।

स्वामी जी के आदेश से जोधपुर से आए पेयजल मिशन के सदस्यों को मध्याह्न भोजन हेतु मैं सेठ लोकमणि लाल के आवास ले गया था। भोजन के पश्चात् विज्ञान परिषद् लौटने पर अतिथियों के सेवा सत्कार तथा वापस आने की सूचना स्वामी जी को जब मैंने दी तो स्वामी जी प्रसन्न मुद्रा में बोले ''बहुत अच्छा किया आपने''। स्वामी जी ने विज्ञान परिषद्, प्रयाग का सभागार बनवाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । इसके लिए उन्होंने विभिन प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा दान स्वरूप बृहद् धनराशियाँ दिलवाई, जिनमें लोकमणि लाल जी का स्थान प्रमुख है। इसके लिए स्वयं स्वामी जी ने भी दान दिया।

स्वामी जी मुझे विज्ञान परिषद् का कुछ उत्तरदायित्व सौंपना चाहते थे। एक बार विज्ञान परिषद् के पुस्तकालय में एक विचार गोष्ठी की गई । गोष्ठी समाप्त होने पर सब लोगों के कक्ष के बाहर निकल जाने पर अन्त में स्वामी जी और विज्ञान परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ० हनुमान प्रसाद तिवारी रह गए जिनके बीच कुछ बातें हो रही थीं। दो-एक मिनट मैं भी बैठा रह गया। फिर स्वामी जी को प्रणाम करके मैं जाने लगा तो उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रख कर कुछ देर और बैठे रहने का संकेत दिया । मैं बैठा रहा । थोड़ी देर में स्वामी जी बोले कि आप के पास समय है । यदि घंटा-दो घंटा समय विज्ञान परिषद् के पुस्तकालय के लिए दे दिया करें तो कम से कम पुस्तकालय रोज खुला करेगा। डॉ० तिवारी ने भी कहा कि 'अच्छा तो रहेगा', क्योंकि विज्ञान परिषद् हम रसायनशास्त्रियों के बीच ही सिमट कर रह जाता है । मैंने स्वामी जी से अपनी परिस्थितियाँ बताई और कहा कि मैं स्कूटर आदि चलाता नहीं । मेरा कहीं भी आना जाना रिक्शे द्वारा ही हो पाता है । स्वामी जी ने छूटते ही कहा रिक्शे का व्यय दिलवा दिया जाएगा । फिर संकोच के मारे मैं कुछ कह न सका। स्वामी जी ने कहा - अच्छा, विचार कर लीजिएगा।

स्वामी डॉ० सत्यप्रकाश वैज्ञानिकों के योगदान को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। स्वामी जी ने डॉ० गोरख प्रसाद, डॉ० आत्मा राम, श्री सालिगराम भार्गव, श्री राम दास गौड़, डॉ० गंगा नाथ झा तथा डॉ० रत्न कुमारी की स्मृति में व्याख्यान मालाएँ प्रारम्भ कराई। ये व्याख्यान विज्ञान परिषद्, प्रयाग के सभागार में तथा अन्य स्थानों पर भी समय-समय पर विशिष्ट वैज्ञानिकों द्वारा दिए जाते हैं।

डॉ० गोरख प्रसाद की स्मृति में ही विज्ञान परिषद्, प्रयाग की ओर से हिन्दी में प्रकाशित वैज्ञानिक लेखों के लिए डॉ० गोरख प्रसाद विज्ञान पुरस्कार प्रदान करने का भी प्राविधान है। इसी कड़ी में वर्ष १९८९ का प्रथम पुरस्कार प्राप्त करने का सुअवसर मुझको ही मिला । स्वयं स्वामी डॉ० सत्यप्रकाश ने दिनांक २ जनवरी, १९९१ को विश्वविख्यात रसायनशास्त्री 'प्रोफेसर स्वर्गीय नील रत्न धर' तथा दिनांक २८ फरवरी, १९९१ को नोबेल पुरस्कार से विभूषित प्रसिद्ध भौतिकशास्त्र वैज्ञानिक 'डॉ० सी० वी० रामन' और पुनः 'रामन और उनके सहयोगी' विषय पर भी १८ जून १९९१ को विज्ञान परिषद्, प्रयाग में अपना व्याख्यान दिया।

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती विज्ञान जगत् तथा वेद वेदान्तों के विख्यात विद्वान् और तपोनिष्ठ संन्यासी थे । इन दिशाओं में स्वामी जी का गहन अध्ययन था । महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ ''सत्यार्थ प्रकाश'' के विषय में स्वामी सत्यप्रकाश ने कहा था कि सत्यार्थ प्रकाश की रचना महर्षि दयानन्द ने उस समय की थी जब वे वर्ष १८७४ में प्रयाग आगमन के बीच तीन मास तक टिके थे तथा इसका प्रथम संस्करण वर्ष १८७५ में प्रकाशित हुआ था।

५ फरवरी, १९९१ को विज्ञान परिषद्, प्रयाग में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती की अध्यक्षता में पर्यावरण पर एक विचार गोष्ठी हुई । इस गोष्ठी में स्वामी जी ने खाड़ी युद्ध का कारण ''लोभ'' बताते हुए विज्ञान को अध्यात्म के साथ जोड़ने पर बल दिया था । इसी क्रम में स्वामी जी ने एक वेद-गोष्ठी का भी आयोजन कराया, जिसका विषय ''वेद प्रतिपादित युद्ध और शान्ति'' था। यह गोष्ठी दिनांक १० व ११ मार्च १९९१ को विज्ञान परिषद् प्रयाग में अन्तर्राष्ट्रीय दयानन्द वेदपीठ, दिल्ली के सौजन्य से सम्पन्न हुई।

महर्षि दयानन्द की पुण्य शती के अवसर पर स्वामी सत्यप्रकाश ने विभिन्न लेखकों से डॉ० रत्न कुमारी स्वाध्याय संस्थान के तत्त्वावधान में पुस्तिकाओं की रचनाएँ करवा कर प्रकाशित करवायीं।

हिन्दी विज्ञान लेखन की विशिष्ट सेवाओं के लिए दिनांक १९ अप्रैल, १९९१ को आगरा की एक संस्था ने स्वामी सत्यप्रकाश को अपने देश के तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ० श्री शंकर दयाल शर्मा द्वारा दिल्ली में पुरस्कार दिलवा कर सम्मानित किया था।

अंततः स्वामी जी ने १८ जनवरी, १९९५ को अपना पार्थिव शरीर त्याग कर निर्वाण प्राप्त कर लिया। यद्यपि स्वामी जी इस संसार में अब नहीं रहे, फिर भी ऐसा लगता रहता है कि जैसे स्वामी जी बाहर गए हैं और लौट कर अवश्य ही प्रयाग वापस आएंगे । परन्तु स्वामी जी की स्मृतियाँ बनी रहेंगी । स्वामी जी का स्नेह, उनकी कृतियाँ तथा कुटिया 'ऋतम्भरा' सदा ही स्वामी जी की याद दिलाती रहेंगी। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे। उस महान् पुण्य आत्मा को शत-शत प्रणाम।

स्मृतिशेष स्वामी सत्य प्रकाश

स्व० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

सन् १९५० ईसवी की बात पुरानी होकर भी नई लगती है। डॉ० धर्मवीर भारती की प्रेरणा से जब मैं शान्ति निकेतन से इलाहाबाद आया तो अध्यापक राजेन्द्र सिंह गौड़ से मेरी भेंट हुई । उनसे पता चला कि यहाँ डी० ए० वी० स्कूल में वैदिक वाङ्मय के निष्णात पंडित गंगा प्रसाद उपाध्याय रहते हैं जो जाति से कायस्थ होने पर भी अपने को उपाध्याय लिखते हैं । उनकी यह विशेषता इसलिए है कि वे उपाध्याय का प्रयोग अध्यापक के पर्याय रूप में करते हैं। मुझे उनका यह प्रयोग असामान्य लगा था।

स्वामी सत्यप्रकाश जी उनके सुपुत्र थे । वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में विज्ञान के प्राध्यापक होने के साथ-साथ हिन्दी के जाने-माने अनुरागी भी थे । मेरे लिए यह एक आकर्षण का विषय था । डॉ० बाबू राम सक्सेना और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा जैसे विद्वानों के माध्यम से उनसे मेरा परिचय हुआ । उन दिनों वे संन्यासी नहीं गृहस्थ थे । उनकी पत्नी डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देश में शोधकार्य में रत थीं। ये दोनों आकर्षण मेरे लिए आदरास्पद थे। स्वामी जी से सम्पर्क बढ़ने का एक अन्य कारण भी निमित्त बना।

विज्ञान परिषद् भवन में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ का शाखा कार्यालय खुला। संस्थान से तो मैं संबद्ध था ही वहाँ भोजपुरी कोश कार्यालय की स्थापना भी हो गई जिसका मैं मुख्य सम्पादक था । इस प्रकार मेरा प्रतिदिन जाने-आने का सिलसिला जारी हुआ । इस नाते स्वामी जी से प्रायः भेंट होने लगी थी । स्वामी जी देश-विदेश की यात्रा पर रहने लगे थे। उनसे वेदादि के बारे में मेरी चर्चा हुआ करती थी, वे मेरी जिज्ञासाओं अथवा शंकाओं के समाधान प्रायः किया करते थे । वर्तमान विज्ञान युग में वेद की उपयोगिता पर वे मेरे प्रश्नों के उत्तर दिया करते थे। वे वेद को विज्ञान-सम्मत माना करते थे । उनकी अभिन्न आस्था विचारोत्तेजक थी। उनकी धुन एवं लगन के प्रति मैं नतमस्तक था और संपर्क के अवसर के लिए लालायित रहता था। यह लम्बा सिलसिला वर्षों तक चलता रहा।

अन्त में एक ऐसा भी दिन आया जब उनसे मैं मिलने गया तो वे मुझे पहचानने में कठिनाई अनुभव करने लगे और मेरा परिचय पूछने लगे । यह सुनकर मैं मर्माहत हो उठा और धैर्य तथा संयम बनाये रखने का यत्न करने लगा। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा तो मैंने अपना नाम जोर से लिया । इस पर उन्होंने प्रेमपूर्वक कहा कि बुरा न मानना अब मुझे वैदिक ऋचाओं की स्मृति से अधिक कुछ शेष नहीं रह गया है। उनकी इस निष्ठा और ज्ञान के प्रति श्रद्धालु होकर मैं गीली आँखों सहित बाहर निकल आया। ऐसे वैदिक मनीषी अब स्मृतिशेष रह गये हैं।

वेदपरायण स्वामी सत्य प्रकाश जी की पुण्य स्मृति में हमें संकल्प लेना है कि वर्तमान विज्ञान युग की संगति एवं सदुपयोग वैदिक सन्दर्भ में भी करते रहेंगे। इस प्रकार उनका वैदिक विद्या विषयक निष्ठा-भाव फलवती सिद्ध हो सकेगा और हम अपने जीवन को सफल एवं सार्थक बना सकेंगे । इससे भारतीय शिक्षा-पद्धति चरितार्थ हो सकेगी और परमुखापेक्षिता के आश्रित न रह सकेंगे।

साहित्यकार एवं प्रकाशनाध्यक्ष, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ एवं काशी विद्यापीठ, वाराणसी

स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती से एक अभूतपूर्व संवाद

स्वामी रवीन्द्र सत्यार्थी

कह रही है पेड़ की हर शाख,
अब तुम आ रहे अपने बसेरे
राह में वैभव बिछे हों लाख,
अब तुम आ रहे अपने बसेरे.
कह रही है पेड़ की हर शाख,
अब तुम आ रहे अपने बसेरे....

शून्य गगन के अनन्त विस्तार में निस्तब्ध, निःस्पन्द, प्रतीक्षारत पेड़ की एक-एक शाख कहने लगती है कि अब सन्ध्याकाल हुआ, अब पक्षी अपने बसेरे लौट रहा है। ठीक ऐसे ही जब किसी मानव-जीवन में घटना घटने को होती है, तब उसके हर आयाम के रंग-ढंग में, अंग-प्रत्यंग में, यही मूक गीत गूँज उठता है --

' ...कह रही है पेड़ की हर शाख,
अब तुम आ रहे अपने बसेरे ... '

यह कथा भी एक ऐसे मानव की है, जो मायावी-संसार को सँजोकर, अब अपने परम, बसेरे की ओर उन्मुख हुआ है । कथा नहीं, बल्कि एक अपूर्व घटना है यह, जो किसी मानव-जीवन में तब घटा करती है, जब हर सांसारिक-फल उसके लिये रुचिहीन एवं निरर्थक हो चुके हों । ऐसे थोड़े से ही मानव होते हैं जो भरथरी व जनक की तरह सत्य-पथिक होने का साहस करते हैं। इन्हें वीर नहीं, महावीर ही कहना उचित होगा। यह महावीर-मानव कोई और नहीं, बल्कि हैं एक ऐसे सरस्वती-पुत्र जो अन्ततः आनन्द के स्वामित्व की पात्रता को जनमाने में जुट गये और यह संभव हो जाता है जब 'अन्तस्', सत्य सूर्य के प्रकाश में धड़कने लगा हो । यही तो अर्थ भी हैं, स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती के, जिन्हें हम सभी डाक्टर सत्य प्रकाश जी के नाम से अधिक जानते हैं।

इनकी जीवन-शैली, चाहे वे अपने विद्यार्थियों के बीच, रसायन-शास्त्र के पठन-पाठन में व्यस्त होते रहे हों या कि अन्यथा, सदा अपने इर्द-गिर्द, हँसी और खुशी बिखेरना ही रही है। पर अभी तो मेरा भाव, डाक्टर साहब के किसी और अभिनव आयाम की ओर, संकेत करना है।

अब भी, मेरे लिये वह घटना जीवन्त है जो स्मृति नहीं, मेरे स्मरण का अंग है। माघ की शीतल पर प्राणदायी एक सुनसान उषा में, कोहरों के बीच, इलाहाबाद नगर के कम्पनी बाग के पूर्व में, गेरुआ वस्त्र एवं माला धारे हुए स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती

संन्यासी, ओशो आश्रम, पूना एवं फिल्म निर्देशक

और गेरुआ वस्त्र एवं ओशो माला धारे स्वामी रवीन्द्र सत्यार्थी यानि कि मैं, एक दूसरे से, एक अनपेक्षित मिलन होने पर, मूक एवं अपलक स्तब्ध खड़े रह गये थे । वर्षों बाद पुनः आमना-सामना हो रहा था, पर अब दूसरे ही परिप्रेक्ष्य में। सारी घटना, पलक झपकते ही घट गयी थी । एक दूसरे को अजनबी की तरह देखते हुए अवाक् हो जाना, फिर अचम्भित होना और फिर कुछ झिझक के साथ चिर-परिचित के भाव से उदित होती मुस्कान का उभरना अन्ततः चिर-परिचित लगते मौन के आनन्द में डूब जाना। ऐसा लगा जैसे कोई बिजली-सी कौंध गयी हो। अनेकों जैसा मैं भी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभागाध्यक्ष डा० सत्य प्रकाशजी से पूर्व-परिचित रहा हूं । वे, मेरे पिता श्री पंडित कन्हैया लाल मिश्र, महाधिवक्ता उ० प्र० तथा इसी विश्वविद्यालय के कोषाध्यक्ष के समकालीन रहे हैं । यदा-कदा, कभी मेरे पिता के निवास पर तो कभी विश्वविद्यालय में, भिन्न-भिन्न अवसरों पर, डाक्टर साहब से मिलन होता रहा है पर, स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती जी से मिलन का तो यह प्रथम अवसर था, विशेष रूप से स्वामी सत्यार्थी का।....महीनों, प्रातः हमारा साथ यूँ ही मौन में होता रहा । उनकी आँखें, मुझसे कुछ कहने को सदा लालायित रहतीं पर संवाद पूर्ण न हो पाता । इस अभूतपूर्व संवाद में यदि देर थी तो मेरे न समझने के कारण। पर, आँखों में झलकती उस मस्ती को कब कोई अप्रकट रख पाया है, जो परम सत्य की यात्रा पर बढ़े कदमों को, सर्वदा घेर लिया करती है। अन्ततः उन्होंने मौन ही, मुझसे सब कुछ कह दिया। उनकी हर धड़कन, पुकार पुकार कर कह रही थी,

"... सत्यं जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ..."

सत्य की यात्रा शुरू करना तो हमारे हाथ में हैं, पर उसके बाद कुछ भी नहीं । यह तो सफर का एक ऐसा सिलसिला है कि,

'बे मकाँ से बामकाँ अब, बामकाँ से लामकाँ तक,
सिलसिलाये-सफर, यूँ चल पड़ा तो चल पड़ा।'

और तब जीवन में, एक ऐसी धारा फूट सकती है कि जीवन का हर फल, हर लम्हाँ, परम का आनन्द उड़ेलने लगे और हर पल, हर लम्हाँ, आसमान से उतरता एक बराती बन जाय......

.....उतर रही है लम्हों की बारात हर तरफ,
ज़िन्दगी खूब रौशन हो रही है।
छलकते-जाम भेजे हैं साकी ने मेरे दोस्त
आ जाओ कि पीने-पिलाने की घड़ी है।
फिर न कहना, न आयी थी आवाज मयखाने से,
जब आये मौत और कहे कि चलने-चलाने की घड़ी है।
छलकते जाम भेजे हैं साकी ने मेरे दोस्त,
आ जाओ कि जीने-जिलाने की घड़ी है.....

धन्य हैं वे, जो गन्तव्य की चाह के बिना ही, परम सत्य के प्यासे हो जाते हैं और हो जाते हैं सहभागी उस असीम यात्रा के, जो स्वयं में ही, मञ्जिल भी है, और परम आनन्द भी।

श्रद्धाप्रणामाञ्जलिः

डॉ० जनार्दन प्रसाद पाण्डेयो "मणिः"

विद्वान्वेदविशालवाङ्मयनिधेः कश्चिन्मनीषी महान्
सन्तः सत्यनिषेकपूतचरितः सत्यप्रकाशः सुधीः !
राष्ट्रेऽस्मिन् बिजनौरनामनगरे कुक्षौ कलायाः क्वचि-
ल्लेभे जन्म सरस्वतीसुरभये गङ्गासुतो भारते !!१!!

विज्ञानं समधीत्य सुष्ठु सततं दिव्ये प्रयागाञ्चले
शिक्षाकार्यरतो रराज विदितेऽस्मिन् विश्वविद्यालये !
शास्त्रे श्रेष्ठरसायने पटुतरां विभ्रद् महावैदुषी-
माध्यक्ष्यं समलञ्चकार ससुखं तस्मिन् विभागे मुदा !!२!!

कार्यं कार्यमहो नु दानममलं विद्याविभाया द्विजो
वासन्तं नवयौवनं रसमयं कर्तुं प्रवृत्तोऽभवत् !
सेवं सेक्मशोकमार्यसमितिं ल ोकानुरागी व्यधा-
दुद्वाहं प्रियरत्नया ललितया सार्धं समोदो भुवी !!३!!

गार्हस्थ्यं विनिभालयन्सुकलितं साकं सुखैश्श्रीगुणै-
रानन्दंस्त्वरविन्दनामचरितं पुत्रद्वयं प्राप्नुवन् !
आङ्ग्लानामतिशोषणेन लुलितं त्रातुं स्वदेशं भृशं
कारागारनिवासदुःखमभजत्स्वातन्त्र्यदे सङ्गरे !!४!!

कर्तव्यं सुहृदा विचार्य विचरन्कुर्वन्सुसम्पादनं
लोके भारतसम्पदो गुणभृतो विज्ञानकोशस्य च !
शोधज्ञानमहत्तया परिषदो विज्ञानिनां तत्क्षणे
सर्वेषां सुधिया सभापतिरभूद् ज्ञानोन्नते भारते !!५!!

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कासाञ्चित्सरलामथोपनिषदां छन्दोऽनुवादक्रियां
कुर्वन्भाष्ययुतं शुभं शतपथं चक्रेऽप्यहो ब्राह्मणम् !
ग्रन्थान्षष्टि विलिख्य भावभरितान्साहित्यसन्मण्डले
स्वाऽऽलानं प्रतिबिम्बनाममहिते काव्ये विशङ्कोऽब्रबीत् !!६!!

वेदानां विशदाऽऽङ्ग्लवाचि विमलंस्तेषां चतुर्णामहा
व्युत्पत्त्या प्रथमं वृहस्पतिधिया कृत्वाऽनुवादं हृदा !
संस्कृत्या ननु संस्कृतस्य सुतरां विश्वम्भरामर्चनां
कुर्वन्तो हि गता यदीयदिवसाः किं वाचिकंस्तत्कृते !!७!!

लाभं लाभमनन्तबारमतुलं सौख्यं पुरस्कारजं
धर्मार्थं प्रययावनेकनगरं राष्ट्रं प्रचारेच्छया !
अफ्रीका किममेरिका च ननु किं यूरोपदेशाश्च के
सर्वे तच्चरणारविन्दकृपया प्रापुर्महत्सीहृदम् !!८!!

विज्ञानोद्भटपण्डितः पुनरयं वेदान्तवेदार्थधीः
संसाराक्षिसमक्षमन्तिमदिने सन्यासिरूपे बभौ !
एषा यत्प्रगतिः शुभापरिणतिर्लोकोत्तरा सद्गतिः
किंस्तस्याप्यभिधानमत्र भुवने यास्यत्यहो विस्मृतिम् !!६!!

ज्ञानाङ्के गमयन्क्षणानविरतं सञ्जीवयन्संस्कृतिं
गायन्वेदमटन्समग्रभुवने ग्रन्थञ्च सद्वाङ्मयम् !
आसीत्कोऽयमहो नु भारतभुवौ ब्रह्मा गिरीशोऽथवा
निर्द्वन्द्वं विषयो विशिष्टविभवोऽयं चिन्त्यतां पण्डितैः !!१०!!

एतद्यच्छुभजीवनं गुणमयं सारस्वतं वैभवं
विश्वव्यापि यशः स्वभावसरलः कामं स नो भूतले !
ध्यात्वा तस्य सदाऽजरं सुचरितं विभ्राजते साम्प्रतं
लोकेऽस्मिन् सततं जनार्दनमणेश्श्रद्धा प्रणामाञ्जलिः !!११!!

स्वामी सत्यप्रकाश की जीवन दृष्टि

डॉ० उषा सक्सेना 'माधवी'

स्वामी सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती का निधन १८ जनवरी, १६६५ को हो गया। व्यक्ति जब तक जीवित रहता है उसका सही मूल्यांकन नहीं होता, जब वह इस संसार से विदा ले लेता है, आकाशकुसुम हो जाता है तब अहसास होता है कि हमारी क्या क्षति हुई, हमने क्या खोया ? आज प्रतीति हो रही है कि शिक्षित जगत् के विद्वान् पुरोधा, आर्य जगत् के सशक्त प्रवक्ता, देश विदेश में कार्यरत नेता को हमने खोया। यह आर्य जगत् की महान् क्षति है। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभागाध्यक्ष थे परन्तु उनकी सादगी देखकर प्रतीत होता था कि वे गुरुकुल के आचार्य हैं। वाणी की मधुरता, अहंकारशून्यता, चिंतन की प्रखरता, विद्वत्ता, जीवन कर्मठता के कारण उनकी अलग पहचान होती थी। वैदिक दर्शन और महर्षि दयानन्द के प्रति उन्हें दृढ़ आस्था थी। उनकी जीवन दृष्टि के निर्माण में इन दोनों की अहम् भूमिका थी तथा उनके चिंतन में आधुनिक बोधजन्य गतिशीलता थी। वैदिक दर्शन क्या है ? स्वामी जी की दृष्टि में 'असत्य, मिथ्याचारिता या अन्ध विश्वास से मुक्त धर्म ही वैदिक धर्म है'। महर्षि दयानन्द ने इसी धर्म का झंडा उठाया था। स्वामी सत्यप्रकाश को भी धर्म का यही स्वरूप ग्राह्य था।

धर्म के कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में स्वामी सत्यप्रकाश के चिंतन में मौलिकता तथा गतिशीलता थी। इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम यज्ञ पर विचार करेंगे। सामान्यतया यज्ञ का अर्थ अग्रिहोत्र समझा जाता है। स्वामी जी ने इस शब्द को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है। महर्षि दयानन्द के शब्दों में 'यज्ञ उसको कहते हैं जिसमें विद्वान् का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान जिससे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ।[1] स्वामी जी ने भी इसी मान्यता को स्वीकारा तथा अपने भाषणों में वे इसी पर बल प्रदान करते रहे। वे चाहते थे कि जो भी व्यक्ति विद्वान् है तथा जो लोक सेवा में सतत् कार्यरत है उसका सम्मान किया जाना चाहिए क्योंकि यज्ञ का तात्पर्य है उत्तम कर्म। केवल अग्रिहोत्र करना, अग्नि में हविषादि अर्पित करना यज्ञ मात्र नहीं है। उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति स्वयं यज्ञ करे, पंडितों के द्वारा यज्ञ कराना अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार वेद पारायण यज्ञ अनुचित है तथा यह पौराणिक विधि है। इस धारणा में वह सत्य व्यक्त हो रहा है जिसकी ओर व्यक्ति ध्यान नहीं देता। वेद ज्ञान का अक्षय भण्डार है। इसमें बहु आयामी ज्ञान अपनी विविधता में प्रस्तुत है। यथा इसमें ईश्वरपरक स्तुति मंत्र है तो राजनीति, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष प्रकृति, शिल्प आदि से सम्बद्ध ज्ञान भी। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण वेद से यज्ञ करना कोई अर्थ नहीं रखता। वेद अध्ययन की वस्तु है, एकांत में पाठ करना तथा उसके मन्तव्य को समझना ही इष्ट है। स्वामी जी के शब्दों में 'पारायण-पाठ या बांट-बांटकर पढ़ना केवल परिहास का द्योतक है। सभ्य, शिक्षित संसार में किसी ग्रन्थ या शास्त्र का पाठ इस विधि से नहीं किया जाता है । वे वेद पारायण यज्ञ के विरुद्ध रहे। पूर्णाहुति के प्रति लोगों के मन में आकर्षण उत्पन्न करना आदि अवैदिक परम्परा है। उन्होंने इस पर विचार करते हुए स्पष्ट शब्दों में स्वीकारा कि वैष्णव, ईसाई, मुसलमानों, सिखों या बौद्ध मार्ग की पद्धति से आर्य समाज की पद्धति

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची (अवकाश प्राप्त)

भिन्न रही। उन्हीं के शब्दों में 'देव मन्दिर की मूर्तियों को अलग करके उनमें हवनकुण्ड उसी भावना से रख दिए जाएं और उनके साथ भी वैसी ही रूढ़ियाँ परायण, यज्ञ, पूर्णाहुति, यज्ञ शेष, आशीर्वाद, दीक्षा और दक्षिणा भी प्रस्तुत की जाएं तो असली लक्ष्य की पूर्ति नहीं होगी।[2] उन्होंने समझा कि यज्ञ के नाम पर दुकानदारी प्रारम्भ हो गई है तथा भविष्य में इससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न होंगी। इसीलिए उन्होंने पूरी आस्था के साथ कहा ''सामूहिक रूप से आद्योपांत किसी भी वेद के मंत्र से आहुति देना वेद और यज्ञ दोनों का परिहास है'। उक्त कथन उनके मौलिक चिंतन का प्रतीक है, तथा उनकी जीवन दृष्टि अन्धश्रद्धा या अन्धविश्वास से मुक्त है इसका भी प्रमाण है।

स्वामी सत्यप्रकाश की दृष्टि विज्ञान और धर्म के अद्‌भुत समन्वय से समृद्ध है। विज्ञान और धर्म के प्रति उनकी दृष्टि साफ तथा स्पष्ट है। वे धर्म और विज्ञान को अविरोधी स्वीकारते हैं। उनकी मान्यता है कि 'वेद वेदांग उपवेद सबको मिलाकर वर्तमान विज्ञान नाम है'। विज्ञान सर्चलाइट का प्रकाश है जिसने अज्ञान तथा अन्धविश्वास के वन में विचरते मानव को वह दृष्टि प्रदान की जिससे वह प्रशस्त पथ पर अग्रसरित हो सके। धर्म ने अध्यात्म के नए आयाम स्थापित ही नहीं किए अपितु पाखंड, भय, अन्धविश्वास के नागपाश से आबद्ध व्यक्ति को मुक्त किया। विज्ञान और धर्म दोनों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह उन्होंने किया। स्वामी जी ने वेदों का सरल अनुवाद अँग्रेजी में प्रस्तुत कर प्रशस्त कार्य किया वहीं विज्ञान के क्षेत्र में उनकी देन उल्लेखनीय है। वैज्ञानिक साहित्य को समृद्ध करने के लिए इलाहाबाद में स्थापित विज्ञान परिषद् से वे संपृक्त रहे तथा सन् १९६१ से ६७ तक अध्यक्ष रहे। उनकी प्रेरणा तथा प्रयास से 'विज्ञान' नाम की शोध पत्रिका प्रकाशित हुई। इसके प्रकाशन से बृहत् अभाव की पूर्ति हुई। उन्होंने हिन्दी में विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें प्रस्तुत कर राष्ट्रभाषा के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की। पुनश्च विज्ञान तथा धर्म सम्बन्धी साहित्य सृजन के लिए उन्होंने साहित्यकारों को प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया।

स्वामी जी की दृष्टि की विशिष्टता है कि वह समस्या को समग्रता में देखते हैं। आज धर्म के नाम पर दुकानें खुल रही हैं। आज के संदर्भ में प्रश्न उठता है कि समाज को पुरोहितों की आवश्यकता है अथवा सामाजिक कार्यकर्ता की ? उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने विचार व्यक्त किए कि समाज को पुरोहितों की अपेक्षा सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा उच्चस्तरीय मिशनरी की अधिक आवश्यकता है। उनके विचार सराहनीय हैं क्योंकि पुरोहितों के माध्यम से पूजार्चन तथा उपदेश का कार्य निष्पादित होता है किन्तु कार्यकर्ता तो जीवित मशाल हैं। जो अपने कार्यों से मृत समाज में नवशक्ति तथा नवस्फूर्ति का संचार करता है। प्रतिकूल विषम परिस्थितियों में जूझती मानवता को मुक्त कराने की उसमें शक्ति है। इसी दृष्टि से उन्होंने उद्‌गार प्रकट किया 'कार्यकर्त्ता तैयार करने के उपायों को हमें सोचना चाहिए न कि केवल उपदेशक या याज्ञिक'।

स्वामी जी की दृष्टि में समस्त कुरीतियों की जड़ मूर्तिपूजा में निहित है उक्त विचार उन्होंने आर्य समाज मन्दिर राँची में व्यक्त किया था। सगुण भक्ति को वे हिन्दुत्व का कलंक स्वीकारते थे। सगुण भक्ति के कारण मन्दिरों की प्रतिष्ठा हुई। यह कटु सत्य है कि मन्दिर ऊँचे-ऊँचे विशाल बने परन्तु इसी अनुपात में मानव हृदय सिमटकर छोटा होता गया, छुआछूत जैसी संकीर्ण भावनाएँ विकसती गईं। ईश्वर की अमूल्य कृति मानव भूखा तथा क्षुधित रहा जबकि मनुष्यकृत प्रतिमा का स्वर्ण, चाँदी से श्रृंगार होने लगा। प्रदर्शनजन्य प्रतियोगिता ने विलासिता को जन्म दिया। देवी देवताओं का बँटवारा हुआ तथा उनके भक्तगण भी बँटे। यद्यपि समन्वय की चेष्टा भी हुई परन्तु यह केवल प्रदर्शनमात्र रहा जैसे कि डिपार्टमेंटल स्टोर या म्युजियम हों। पुनश्च सगुण भक्ति ने तीर्थों को महत्त्व देकर भोली-भाली जनता को ठगा। तीर्थस्थल स्वतः विलास तथा व्यभिचार के केन्द्र बने। बालिका अथवा देवदासियों के नाम पर नारियों का शोषण हुआ। इसके अतिरिक्त, अवतारवाद ने मनुष्य की महिमा का अवमूल्यन किया। महर्षि दयानन्द ने मूर्तिपूजा से रंचमात्र भी समझौता नहीं किया और न स्वामी जी ने।

स्वामी जी ने अस्पृश्यता को हिन्दुत्व का कलंक स्वीकारा। हिन्दू समाज दलित तथा अन्त्यज को हीन समझता है तथा समाज में उसे सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। हिन्दू समाज में जाति जन्मना है यद्यपि आर्य समाज कर्मणा जाति मानता है। आर्य समाज की मान्यता रही कि व्यक्ति जन्मतः शूद्र है कर्मतः वह ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य है। स्वतन्त्रता के अनन्तर जातिवाद का संकट और गहराया। आज दलित तथा अन्त्यज प्रश्न करते हैं कि आर्य समाज के पास हमारे लिए क्या है ? स्वामी जी ने युग संदर्भ के अनुरूप इस प्रसंग पर विचार व्यक्त किए। उन्होंने हरिजनों को उच्चस्तरीय गरिमा प्रदान करते हुए कहा कि 'हरिजन को याज्ञिक बनाकर संस्कार कराइये'। स्वामी विवेकानन्द ने घोषणा की थी कि प्रत्येक भारतीय ब्राह्मण है। स्वामी जी ने आजीवन इस घोषणा का सम्मान किया।

उदारता तथा समझदारी स्वामीजी के चरित्र की अन्यतम विशेषता रही। प्रकृति का श्रृंगार वसंत के नवपुष्प तथा नवपल्लव किया करते हैं। नूतन जल सागर का अभिषेक न करें तो क्षीरनिधि का जल भी अपनी गरिमा खो देता है। बदलते परिवेश में दर्शन या सिद्धान्त के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता होती है। वैज्ञानिक होने के कारण इस सत्य को स्वामी जी ने हृदयंगम किया। आर्य समाज का दृष्टिकोण हिन्दुत्व प्रधान है। उन्होंने व्यावहारिक सत्य का अनुभव किया कि विदेश में कार्यरत आर्य समाज के प्रचारकों का दृष्टिकोण भिन्न होना चाहिए। उन्हें विख्यात महापुरुषों का आदर करना चाहिए। विशेषतया मुस्लिम देशों में प्रचाररत कार्यकर्ता का हिन्दुत्व प्रधान दृष्टिकोण अपेक्षित नहीं है क्योंकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से वे भारतीय नहीं हैं भले ही अतीत में उनका सम्बन्ध भारत से रहा हो। ऐसी स्थिति में 'यदि वहाँ के आर्य समाजों में उन देशों के मूलवासी भी सदस्य बनने लगे (जैसा कि अत्यन्त आवश्यक है) तो हमें हिन्दुत्व वाले दृष्टिकोण को परिवर्तित करना होगा।[3] वे ऐसे विचारक थे जिन्होंने आर्य समाज के राष्ट्रीय दृष्टिकोण, हिन्दुत्व दृष्टिकोण एवं अन्तर्राष्ट्रीय विश्व दृष्टिकोण के संदर्भ में विचारा। उनके चिंतन में युगबोध स्पष्टतया लक्षित होता है । इसी प्रकार उन्होंने उपदेशकों की प्रवृत्ति के प्रति सावधान किया कि जब उत्साह अतिरेक में वे युवाओं विशेषतया युवतियों की वेशभूषा की आलोचना करने लगते हैं। स्वतंत्र विचारक होने के कारण उन्होंने युवतियों की मानसिकता को समझा। उन्होंने अनुभव किया कि पुत्रियों तथा पुत्रवधुओं की वेशभूषा के सम्बन्ध में टीका टिप्पणी अनुचित है क्योंकि स्कूल, कॉलेज या कार्यालय की जीवन पद्धति आर्य समाज की पद्धति से भिन्न है। ऐसी स्थिति में टीका टिप्पणियों का दूरगामी दुष्परिणाम होगा। स्वामी जी जीवन के अनुभव को निर्भीकतापूर्वक व्यक्त किया करते थे। इसी कारण उनमें स्पष्टता तथा जीवन्तता की प्रतीति होती थी। आज आत्मश्लाघा का युग है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मप्रशंसा चाहता है, आलोचना असह्य है। इस संदर्भ में उन्होंने मार्के का विचार व्यक्त किया है। व्यक्ति 'स्व' को दूसरे की दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें' ।[4]

शिक्षा के क्षेत्र में उनकी दृष्टि स्पष्ट तथा अन्य आर्य समाजियों से भिन्न थी। बिना किसी आडम्बर के उन्होंने स्वीकारा कि शिक्षा का दायित्व सरकार ने ले लिया है, अतः इस क्षेत्र में शक्ति का अपव्यय क्यों किया जाए। गुरुकुल पद्धति की विशेषता स्वीकारते हुए भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण सत्य को उजागर किया कि गुरुकुल सीमित साधनों के कारण विश्वविद्यालय की समकक्षता नहीं कर सकते हैं। वहाँ विश्वविद्यालय की भाँति शोध कार्य नहीं हो सकता है। वहाँ से प्रशिक्षित स्नातक डाक्टर, इंजीनियर तथा उच्च पदाधिकारी नहीं निकल सकते हैं इसके विपरीत धर्मनिष्ठ, विद्वान् तथा प्रचारक उपलब्ध हो सकते हैं।

वस्तुस्थिति से अवगत होने के कारण वे चाहते थे कि गुरुकुल और विश्वविद्यालय का निकटतम सम्बन्ध हो। कोई भी विद्वान् उल्लेखनीय शोध या महत्त्वपूर्ण कार्य करता है चाहे वह व्यक्ति विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो या गुरुकुल से, उसका सम्मान निष्कपट भाव से किया जाना चाहिए । शिक्षा के स्तर सम्बन्धी उनकी चिंता सहज स्वाभाविक थी। उन्हें दुःख था कि भारतीय शिक्षा का स्तर पाश्चात्त्य शिक्षा स्तर से न्यूनतर है। यहाँ की डिग्रियों को वहाँ यथावत् मान्यता प्राप्त नहीं होती। वे चाहते थे कि

छात्र शैक्षणिक स्तर को उच्चतर करने के लिए प्रयत्नशील हों। यह गम्भीर तथा विकट समस्या है। जब तक शिक्षक और छात्र दोनों मिलकर इस दिशा में प्रयत्न नहीं करेंगे, शिक्षा के स्तर में सुधार नहीं होगा।

दो आत्माओं के मिलन का नाम विवाह है। परन्तु दहेज जैसी कुप्रथा ने विवाह की गरिमा को समाप्त कर दिया है। रीति, परम्परा तथा प्रदर्शन के नाम पर यह अत्यधिक खर्चीला हो गया है। इसने समाज की रीढ़ ही तोड़ दी है। यह कुप्रथा युवाओं के पौरुष का अपमान है तथा नारीत्व का कलंक। स्वामी जी के विचार विवाह के सम्बन्ध में सुलझे हुए थे। वे प्रायः कहा करते थे कि तीन मास की अर्जित आय द्वारा ही विवाह कर्म निष्पादित होना चाहिए। उनका पुत्र उनसे भी अधिक समझदार था। उसने अपने विवाह में इससे भी कम राशि व्यय की और जब उसने उन्हें इसकी सूचना दी, वे आह्लादित हुए। संसार में 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' होते हैं पर ऐसे व्यक्ति कम होते हैं, जो उसके अनुरूप आचरण करें। किन्तु स्वामी जी ऐसे ही व्यक्ति थे।

स्वामी सत्यप्रकाश की जीवन दृष्टि उदारता, मानवता तथा चिंतन जन्य बौद्धिकता से अनुप्राणित थी। इसी के परिणामस्वरूप वे कर्मठ रहे। महर्षि दयानन्द तथा वैदिक धर्म के प्रति उनकी आस्था अडिग रही। इसी से प्रेरित होकर वे सतत् वैदिक साहित्य सृजन में तल्लीन रहे तथा अनेक व्यक्तियों को साहित्य सृजन के लिए प्रेरित किया। स्वयं भी देश विदेश में वैदिक धर्म के प्रचार तथा प्रसार में रत रहे। उन्होंने जब संन्यास ग्रहण किया तो घर से नाता तोड़ लिया। उन्होंने अपने भक्तों से कहा ''आर्य समाजियों! मैं असमर्थ हो जाऊँ, तुमसे मेरी सेवा न हो सके तो मुझे मेरे परिवार वालों को मत सौंपना, भले ही मुझे सड़क पर फेंक देना क्योंकि मैं परिवार के लिए मर चुका हूँ।[5] उन्हें जीवन के प्रति अन्धमोह नहीं था। वे आक्सीजन जैसे कृत्रिम साधन पर जीवित रहना नहीं चाहते थे। मृत्यु को झेलने की उनमें शक्ति थी।

स्वामी जी चिंतित थे कि कहीं आर्य समाज हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय बनकर न रह जाए जबकि आर्य समाज तो एक सशक्त आन्दोलन है। वे इस कटु तथ्य से अवगत थे कि 'समस्त उदारता के साथ-साथ आर्यसमाजी अस्सी-नब्बे प्रतिशत अब भी पौराणिक है'। आर्य समाज अपने तीखे तेवर खोता जा रहा है जिसके कारण उसकी अलग पहचान बनी थी। उनकी चिंता वस्तुतः बुद्धिजीवियों तथा समाज सुधारकों के लिए चुनौती है ?

सन्दर्भ सङ्केत

1. महर्षि दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश : स्वमन्तव्यामन्तव्य
2. आर्य समाज : संघर्ष और समस्याएँ : स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती पृ० सं० 117
3. आर्य समाज : संघर्ष और समस्याएँ : सवामी सत्यप्रकाश पृ० सं० 41
4. आर्य समाज : संघर्ष और समस्याएँ : स्वामी सत्यप्रकाश पृ० सं० 36
5. परोपकारी : फरवरी 1955 : पृ० सं० 43

कृतित्व के धनी पूज्य स्वामी सत्यप्रकाश

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती का कृतित्व अत्यन्त व्यापक है। १९२७ ई० से लेकर १९६४ ई० तक उन्होंने ५० से अधिक मौलिक ग्रन्थों की रचना की और १० ग्रन्थों का सम्पादन किया। उनका यह कृतित्व विज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में है और अत्यन्त वैविध्यपूर्ण है । १९७१ में संन्यास लेने के बाद भी उन्होंने २५ से अधिक ग्रन्थ लिखे और ऋग्वेद तथा अथर्ववेद का अँग्रेजी अनुवाद किया । देश विदेश में भ्रमण करते हुए उन्होंने परिव्राजकाचार्य के अनुरूप अनेकानेक भाषण दिये और आर्य समाज की उन्नति के लिए नाना प्रकार के कार्य किये।

इस लेख में १९५४ से १९८० के बीच की अवधि में विज्ञान के क्षेत्र में उनके कृतित्व पर विशेष रूप से वर्णन हुआ है। वैसे कविता के प्रति उनके झुकाव एवं उनकी अभिरुचि के विषय में भी मैं कुछ कहूँगा क्योंकि स्वामी जी की विनोदप्रियता तथा उनकी व्यावहारिक जीवन-शैली में मुझे उनके कवित्व के दर्शन होते रहे हैं । वे साहित्य के विषय में प्रायः बातें करते, खूब हँसते और हँसाते रहते थे । एक तरह से उनका सारा जीवन कवित्वमय, सरस था। विषाद की रेखा उनके मुखमण्डल पर कभी नहीं उभरी। अति व्यस्त होते हुए भी उन्होंने कभी व्यस्तता का एहसास नहीं होने दिया । शायद वे एक ऐसे लेखक थे जिन्हें सफल अध्यापक, सफल गृहस्थ एवं सफल संन्यासी कहा जा सकता है। उनकी सारी कृतियाँ उनकी जीवन-शैली की परिचायिका हैं।

सिद्धहस्त लेखक

विज्ञान के क्षेत्र में जिन गिने-चुने विद्वानों के नाम लिए जा सकते हैं उनमें स्वामी सत्यप्रकाश अग्रणी रहे हैं । उनका यह लेखन चाहे अँग्रेजी के माध्यम से रहा हो, या हिन्दी माध्यम से, चाहे वह उच्च कोटि की पाठ्य पुस्तकों का हो या मौलिक ग्रन्थों का, डॉ० सत्यप्रकाश उत्तर भारत के ही नहीं, दक्षिण भारत के भी विद्यार्थियों एवं विद्वानों के बीच चर्चित होते रहे हैं । उनकी एक पाठ्य पुस्तक 'Advanced Chemistry of Rare elements' तो विदेशों तक में सम्मानित है । इसी तरह 'प्राचीन भारत में रसायन का विकास' तथा 'Founders of Science in India' ये दो पुस्तकें सर्वाधिक चर्चित रही हैं और चर्चित होती रहेंगी। इन दो मौलिक कृतियों में तो डॉ० सत्यप्रकाश का जीवन भर का अध्ययन एवं चिन्तन निहित है।

इन कृतियों में डॉ० सत्यप्रकाश की जो चिन्तन शैली है वह नितान्त भारतीय है या कहना चाहें तो उसे वैदिक कह सकते हैं । उन्होंने विज्ञान विषयों के अतिरिक्त प्रारम्भ से ही वेदों तथा उपनिषदों का गहन अध्ययन किया और आत्मसात् किया । फलस्वरूप उनमें उन्हें जो भी वैज्ञानिक सामग्री मिली उसे उन्होंने अपनी व्याख्या सहित प्रस्तुत किया । इस तरह विज्ञान के साथ दर्शन का पुट उनकी कृतियों की विशेषता है । उन्हें कभी भी यह हीन भावना नहीं सता पाई कि अँग्रेजी की पुस्तकों में भी वे

प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (अवकाश प्राप्त)

वैदिक ज्ञान का विश्लेषण और उसके द्वारा वैज्ञानिक तथ्यों का समर्थन कर रहे हैं। वस्तुतः उनके ग्रन्थों की यही विशेषता है, मौलिकता है। वेदों के प्रति उनकी निष्ठा का कारण घरेलू परिवेश था। उनके पिता पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय वेदों के परम ज्ञाता थे।

डॉ० सत्यप्रकाश बहुभाषाविद् थे । अंग्रेजी, संस्कृत तथा हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें फ्रेंच का भी ज्ञान था । उनके सारे ग्रन्थों में भाषा का सहज प्रवाह मिलता है । वे व्यास शैली के प्रयोक्ता रहे हैं। अपने प्रवचनों में जैसा बोलते रहे वैसा लिखते भी रहे। वे अपनी हर कृति में वैदिक ग्रन्थों के सन्दर्भ देने में तनिक भी नहीं हिचके।

डॉ० सत्यप्रकाश को रसायन विज्ञान के जिन पक्षों में सर्वाधिक रुचि थी उनमें 'रसशास्त्र' तथा 'पुरातत्व रसायन' प्रमुख हैं। इसीलिए उन्होंने 'प्राचीन भारत में रसायन का विकास' पुस्तक लिखी और बाद में सिक्कों पर तथा पुरातात्त्विक सामग्री के रासायनिक अध्ययन पर ग्रन्थ लिखे। (देखें सूची)

डॉ० सत्यप्रकाश ने वैदिक यज्ञों के सम्बन्ध में गणित तथा ज्यामिति का विशेष अध्ययन किया और तत्सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखीं। उन्होंने 'अग्निहोत्र' का पूरा रसायन शास्त्र ही लिख मारा। संन्यासी होने पर उन्हें शराब के दोषों पर व्याख्यान देना पड़ा तो उन्होंने तत्सम्बन्धी एक पुस्तक लिख दी, जिसमें प्रदूषण के विविध पक्षों को उजागर किया गया।

जब स्वामी जी आर्यसमाज, कटरा से विज्ञान परिषद् के भवन में चले आये तो उन्होंने मेरे अनुरोध पर योग विषय पर एक पुस्तकमाला लिखी । वैसे वे पतञ्जलि के राजयोग पर पहले ही एक पुस्तक लिख चुके थे । स्वामी सत्यप्रकाश के लिए हिन्दी या अँग्रेज़ी में पुस्तकें लिखना एक सहज सा कार्य था। वे प्रायः कहा करते, ''मैंने अँग्रेजी में ज्यादा और हिन्दी में कम लिखा है''। वस्तुतः यह तो उनकी विनयशीलता है अन्यथा हिन्दी के माध्यम से विज्ञान को सुलभ बनाने में डॉ० सत्यप्रकाश ने जो कार्य किया है वह अन्य कोई नहीं कर पाया। उन्होंने अध्यापन करते हुए निम्न कक्षाओं से लेकर उच्चतम कक्षाओं तक के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें लिखीं और एक तरह से स्वतन्त्रता के बाद से १६७० तक उनकी ही पुस्तकों का बोलबाला रहा।

वैसे डॉ० सत्यप्रकाश ने १६२३ से ही 'विज्ञान' पत्रिका में लिखना शुरू कर दिया था और बाद में 'विज्ञान' के सम्पादक बनकर न जाने कितने लेखकों को दीक्षित किया । शायद ही कोई ऐसी संस्था या संस्थान रहा हो जिसके वे सदस्य न रहे हों। उन्होंने अपने जीवन का प्रतिपल लेखन में बिताया । बड़े तड़के उठकर वे लेखन कार्य करते रहे। यही स्वभाव अन्त तक बना रहा। उनकी स्मरण शक्ति इतनी प्रखर थी कि वे पूर्वपठित पुस्तकों में से कोई भी अंश आवश्यकतानुसार निकाल कर लेखन के समय उपयोग करते । इस सरस्वती पुत्र ने आजीवन पुस्तकों के बीच जीवन बिताया । इनका पुस्तकालय दुर्लभ कृतियों से भरा हुआ था । इसका इन्हें गर्व था। मृत्यु के दो वर्ष पूर्व उन्होंने ये सारी पुस्तकें आर्य समाज कटरा तथा विज्ञान परिषद् को दान में दे दीं। स्वामी सत्यप्रकाश जी मँहगी से मँहगी पुस्तक खरीदते समय धन की परवाह नहीं करते थे।

स्वामी जी भविष्यद्रष्टा भी थे । विज्ञान परिषद् के द्वारा उन्होंने १६५८ में ही एक वैज्ञानिक शोध पत्रिका का प्रकाशन हिन्दी में चालू किया। उनका कहना था कि विश्व की तमाम शोध पत्रिकाओं के बीच हिन्दी की भी शोध पत्रिका को स्थान दिलाना चाहता हूँ। सचमुच वे इसमें सफल रहे। उन्होंने ''विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका'' का सम्पादन-प्रकाशन ३८ वर्षों तक किया। विज्ञान परिषद् के लिए यह उनकी अमूल्य देन थी । इसी तरह परिषद् की ७५वीं वर्षगाँठ पर उन्होंने बालकों के लिए एक उपयोगी विज्ञान पुस्तकमाला के प्रकाशन की व्यवस्था दिल्ली से की जिसमें से ७५ पुस्तकें प्रकाशित की जानी थीं । दुर्भाग्यवश उनके जीवन काल में केवल ३ दर्जन पुस्तकें ही प्रकाशित हो पाईं।

स्वामी जी ने अपनी पुस्तकों का पुनर्मुद्रण हासानन्द दिल्ली के यहाँ से कराया तो कहने लगे, '' अब मैं आश्वस्त हूँ कि मैं इन पुस्तकों के माध्यम से आगे भी जीवित रहूँगा।''

स्वामी सत्यप्रकाश ने आर्य जगत् के लिए जो पुस्तकें लिखीं, वे आस्तिकता, आर्य समाज आन्दोलन, दयानन्द का दर्शन आदि से सम्बद्ध हैं। अन्तिम २० वर्ष स्वामी जी ने आर्य समाज के हित-चिन्तन में ही लगाया । उनकी इन कृतियों की सूची दी जा रही है किन्तु विस्तारभय से इनकी विवेचना नहीं की जावेगी।

दो शब्द स्वामी जी की आस्तिकता के विषय में । कभी-कभी हम लोग पूछते, ''स्वामी जी आप ईश्वर, दयानन्द और वेद की बातें करते हैं, आप तो विज्ञान के व्यक्ति हैं ।'' वे कहा करते कि विचारधारा कई प्रकार से कार्य करती है। मैं विज्ञानी हूँ, आस्तिक भी हूँ। मेरा धर्म वैदिक धर्म है । विज्ञान का धर्म से विरोध नहीं। धर्म को अन्धविश्वास नहीं होना है। विज्ञान यही कहता है और मेरा आर्य धर्म भी ''तमसो मा ज्योतिर्गमय''।

स्वामी जी महात्मा गाँधी तथा दयानन्द से अत्यधिक प्रभावित थे। रहन-सहन में सादगी गाँधी जी से सीखी तो जीवन में दर्शन तथा आस्तिकता दयानन्द से सीखी । उन्होंने लिखा भी है ''मैं जितना ही स्वामी दयानन्द को समझने का यत्न करता उतना ही विज्ञान के प्रति प्रेम जगता गया और जितना ही विज्ञान की ओर झुका उतना ही ईश्वर के प्रति प्रेमाभिभूत होता गया। मैं यह कह सकता हूँ कि विज्ञान के द्वारा मैं उत्तम आस्तिक बन सका हूँ । मैंने गाँधी का जितना ही अध्ययन किया मुझे लगा कि उनके भीतर से दयानन्द बोल रहे हैं।''

स्वामी जी का साहित्य प्रेम

स्वामी जी जन्मजात कवि थे । १९२७ में ही उन्होंने अपनी नवरहस्यवादी (Neomysticism) कविताओं का संग्रह ''प्रतिबिम्ब'' नाम से प्रकाशित किया था जिसमें ३६ कविताएँ संकलित हैं। उसके साथ अँग्रेजी में एक भूमिका है जिसमें दो बातें प्रमुख रूप से कही गई हैं ''एक ही कविता में विविध छन्द भावों के प्रवाह के अनुसार रखे जा सकते हैं तथा हमारी कविता कामिनी को बोझिल बनाने की आवश्यकता नहीं है।''

स्वामी जी ने हिन्दी के छायावादी कवियों का प्रगाढ़ अध्ययन किया था। वे निराला, देवी, बच्चन आदि के प्रशंसक थे । बच्चन एवं डॉ० रामकुमार वर्मा के साथ तो उनकी अभिन्नता थी । अन्तिम दिनों तक स्वामी जी का कविता-प्रेम नहीं छूटा । वे अपनी इधर की कविताओं का एक संग्रह छापना चाहते थे किन्तु ऐसा हो नहीं पाया।

अन्तिम इच्छा

स्वामी जी अथर्ववेद के चतुर्थ खण्ड को प्रकाशित हुआ देखना चाहते थे किन्तु नहीं देख पाये । विज्ञान परिषद् में कुटिया बनवाते समय कहा था कि अन्तिम श्वास तक उसी में रहेंगे किन्तु वह भी नहीं हो पाया । उनकी मृत्यु अमेठी में एक शिष्य के यहाँ हुई । विज्ञान परिषद् उनकी स्मृति जीवित रखने के लिए कृतसंकल्प है।

विज्ञान विषयक पुस्तकें

1.	वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा : 1954	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मूल्य 7.00 रु०
2.	Advanced Chemistry of Rare elements : 1956	एस० चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, मूल्य 40.00 रु०
3.	Founders of Science in Ancient India : 1965	रिसर्च इंस्टीट्यूट आफ ऐंशिएंट साइन्टिफिक स्टडीज, दिल्ली, मूल्य 150.00 रु०
4.	साबुन और ग्लिसरीन : 1966	हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, मूल्य 11.00 रु०

5.	A Critical Study of Brahmagupta and his works: 1968	इंडियन इंस्टीट्यूट आफ ऐस्ट्रानामिकल एण्ड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली, मूल्य 50.00 रु०
6.	रासायनिक शिल्प की एकक संक्रियाएँ, 1973	हिन्दी संस्थान उत्तर प्रदेश, लखनऊ, मूल्य 18.00 रु०
7.	Patanjali Rajyoga : 1975	एस० चाँद एण्ड कं० दिल्ली, मूल्य 70.00 रु०
8.	Physico-chemical aspects of High Polymers	एस० चाँद एण्ड कं० दिल्ली, 10.00
9.	भौतिक और रासायनिक नियतांक 1978,	हिन्दी संस्थान उत्तर प्रदेश, लखनऊ, मूल्य 10.00 रु०
10.	The Bakhshali Manuscript 1979	रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद, मूल्य 50.00 रु०
11.	The Sulba Sutra 1968, 1979	रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद मूल्य 45.00 रु०
12.	Coinage in Ancient India 1968, 1986	गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली, 600.00 रु०
13.	प्राचीन भारत में रसायन का विकास 1960, 1986	नया संस्करण पुस्तकायन दिल्ली, मूल्य 395.00 रु०
14.	Chemical Studies of Archaeological findings.	
15.	Wealth of India	(हिन्दी संस्करण) : समस्त खण्ड 1971-1988

वैदिक दर्शन विषयक पुस्तकें

1. मनुष्य और मानव धर्म (1975)
2. वेदों पर अश्लीलता का व्यर्थ आक्षेप
3. आर्य समाज सिद्धान्त और प्रगति (1988)
4. आर्य समाज संघर्ष और समस्याएँ (1987)
5. योग और प्राण सौष्ठव (1987)
6. योग प्राणायाम और चेतनाएँ (1988)
7. प्रभु के मार्ग पर (1981)
8. प्रार्थना और चिन्तन (1981)
9. योग और उसकी अनुभूति (1984)
10. योग नैतिकता और जीवन मूल्य (1989)
11. सिद्धान्त और साधना (1985)
12. ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान (1983)
13. अध्यात्म और आस्तिकता (1984)
14. सिद्धान्त और साधना (1985)
15. The Self, life and Consciousness (1983)
16. Man and his religion (1972, 1983)
17. Agnihotra (1937 - 1985)
18. Speeches, Writings and Addresses Vol I & Vol II (1981)
19. Vincit Veritas (1971)
20. Three hazards of life (1986)
21. A critical study of Philosophy of Dayanand (1975)
22. Light within (1974)
23. Nectareal songs of Vedas (1975)

सम्पादित पुस्तकें

I. महर्षि दयानन्द : समग्र क्रान्ति के अग्रदूत (1983)
II. Dayanand commemoration Volume निर्वाणशती स्मृति ग्रंथ (1983)
III. Vedic Sandhya (1983)
IV. Agnihotra (1974)
V. महर्षि दयानन्द के स्वप्नों का भारत (1985)
VI. दयानन्दकृत साम्प्रदायिकता से आक्रान्त आर्यावर्त (1987)
VII. South African Indian Women (1988)
VIII. मानकं अँग्रेजी हिन्दी कोश, (1971)
IX. ऋग्वेद (11 खण्ड)
X. अथर्ववेद (4 खण्ड)
XI. उपनिषद् संग्रह

‘भारत की सम्पदा-वैज्ञानिक विश्वकोश’ के प्रमुख सम्पादक : स्वामी (डॉ०) सत्यप्रकाश सरस्वती

डॉ० तुरशन पाल पाठक

ऐसे कुछ ही लोग होते हैं जिनके नाम का जिक्र आते ही उनसे जुड़ी सभी स्मृतियाँ एक चलचित्र की रील की तरह सामने घूम जाती हैं और याद आने लगते हैं वे बीते हुये दिन जो कभी उनके साथ बिताये या गुजारे हुये होते हैं । मेरे जीवन में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ऐसे ही महान् व्यक्तित्व के विद्वान् थे । जब १८ जनवरी, १९९५ को हुये उनके निर्वाण का समाचार प्रातः कार्यालय आते समय ऑल इण्डिया रेडियो से सुना तो उनकी लम्बी बीमारी के बारे में जानते हुए भी, अवाक् रह गया और अनायास ही समाचार सुनते-सुनते एक वेदना के साथ, वहीं का वहीं, उनकी आत्मा की शान्ति के लिये २ मिनट का मौन साधकर खड़ा हो गया । मौन तो मैं अवश्य था लेकिन इस बीच मेरी बन्द आँखों में वे दिन सजीव रूप से एक के बाद एक आ रहे थे, जो स्मरणीय थे।

स्वामी जी के नाम और कार्य से तो मैं बहुत पहले से परिचित था क्योंकि उनका हिन्दी विज्ञान के क्षेत्र में साहित्य की रचना का जो कार्य था वो मुझ जैसे इस क्षेत्र में आने वाले नये व्यक्तियों के लिये प्रेरणा का स्रोत था लेकिन वर्ष १९७१ में एक साक्षात्कार उनसे तब हुआ जब वे सी०एस०आई०आर० की ‘‘वैल्थ ऑफ इण्डिया - एन्साइक्लोपीडिया’’ को ‘‘ भारत की सम्पदा - वैज्ञानिक विश्वकोश’’ नाम से राजभाषा हिन्दी में निकालने के लिये इसके प्रमुख सम्पादक की हैसियत से कार्य कर रहे थे और इस विश्वकोश के लिये वे वैज्ञानिक ‘‘बी’’ की चयन समिति के अध्यक्ष के रूप में समिति-कक्ष में विराजमान थे। मैं इसी पद के लिये साक्षात्कार देने के लिये उनके सामने बैठा था और वे सवालों की झड़ी लगाते हुये ‘‘भारत की सम्पदा’’ के कार्य हेतु सही व्यक्ति का चयन करने में तल्लीन थे।

मैं कसौटी पर खरा उतरा और इस पद पर मेरा चयन हो गया। उस समय डा० शिवगोपाल मिश्र विशेष अधिकारी थे । उनकी देखरेख में अब मैं भी इस कार्य में लग गया तो डा० स्वामी सत्यप्रकाश जी से मेरा मिलना-जुलना अब जल्दी-जल्दी प्रारम्भ हो गया था। मुझे ठीक से याद है कि पहली बार जब उन्होंने सभी स्टाफ-सदस्यों के साथ बैठक की थी तो वे सरकारी कार्य करने की पद्धति से खिन्न थे । उनका मानना था कि सरकार में कार्य धीमी गति से लम्बा समय लेकर होता है । यदि ऐसे ही यह कार्य हुआ तो उचित नहीं होगा। वे बहुत जल्दी इसे समाप्त करना चाहते थे और अक्सर कहा करते थे कि ‘‘अरे भई अब मैं कितना जिऊँगा। कहीं ऐसा न हो कि भारत की सम्पदा भारत की विपदा बन कर रह जाये ।’’ इसलिये इस कार्य को राष्ट्रीय कार्य मान कर जल्दी पूरा करना चाहिये । वे इसे विज्ञान के क्षेत्र में भारत की प्राकृतिक सम्पदा और वनस्पतियों एवं जीव-जन्तुओं तथा

वरिष्ठ वैज्ञानिक एवं सम्पादक ‘भारत की सम्पदा-वैज्ञानिक विश्वकोश ’, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, दिल्ली (सी० एस० आई० आर०)

खनिजों की प्रमाणिक जानकारी का विश्वकोश मानते थे जो वास्तव में है भी और वे इसे देश के लिये राष्ट्र-भाषा हिन्दी में प्रकाशित हो जाने पर प्रबुद्ध वर्ग के साथ जन-मानस के लिये भी परम उपयोगी मानते थे । यह कार्य उस समय के सी०एस०आई०आर० के महानिदेशक डा० आत्माराम की देन माना जाता है लेकिन इसके पीछे मूल प्रेरणा स्रोत डा० सत्यप्रकाश जी ही थे। तभी तो उनके राष्ट्रीय स्तर के उच्चकोटि के मार्ग-दर्शन में इस कार्य हेतु हम लोग जुट गये और वर्ष १६७१ में "भारत की सम्पदा" का पहला खण्ड प्रकाशि हो कर आ गया। इसे तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुये विमोचित किया था जिससे इस कार्य को समूचे देश में बड़ा प्रोत्साहन और सम्मान मिला । यह सब स्वामी सत्यप्रकाश जी के मार्गदर्शन का ही प्रतिफल था । इसके बाद जब भी "भारत की सम्पदा विश्वकोश" के अगले खण्ड की सजिल्द प्रति छपकर आती थी तो वे अति प्रसन्न होते थे और इस कार्य को और भी जल्दी पूरा करने की बात दोहराते रहते थे।

स्वामी सत्यप्रकाश जी "भारत की सम्पदा" विश्वकोश के सात खण्डों और दो पूरक खण्डों के निकाले जाने तक जुड़े रहे। जब आठवें खण्ड का कार्य प्रारम्भ हुआ तो कार्यालय में नेतृत्व में परिवर्तन के साथ स्वामी सत्यप्रकाश जी का नेतृत्व भी इस कार्य हेतु बदल गया था तब हमें महसूस हुआ कि अब इस कार्य को सुचारू रूप से चलाने में वरदहस्त की कमी हो गई है। हालांकि यह कार्य जैसा स्वामी सत्यप्रकाश जी कहते थे, सरकारी तंत्र के बारे में, विशेष गति से होने की बजाय राष्ट्रभाषा हिन्दी के अन्य सरकारी कार्यों की तरह आज भी मंथर गति से आगे बढ़ रहा है पर वो बात कहाँ जो स्वामी जी के नेतृत्व में थी। हाँ यदि कुछ है तो वह है अड़चनों का साम्राज्य जिससे पनपी है "भारत की सम्पदा" की यह मंथर गति । ऐसे दूरदर्शी थे - हमारे स्वामी सत्यप्रकाश जी - तभी तो वे "भारत की सम्पदा" को "भारत की विपदा" कहा करते थे।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के अध्यक्ष पद से निवृत्त होने पर वे गेरुए वस्त्र धारण कर जब स्वामी बने तो दिल्ली आये थे । उनके शिष्यों; समर्थकों और अनुयायियों द्वारा उनका जगह-जगह स्वागत किया जा रहा था । लोग भोजन पर अपने घर बुलाते थे तो अनायास ही वहाँ पर्याप्त संख्या में स्त्री-पुरुषों की भीड़ जुट जाती थी । एक वैज्ञानिक स्वामी से वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दोनों तरह के विचारों को जानने और जन-जीवन में इन दोनों के समावेश के बारे में प्रायः लोग स्वामी जी के विचार सुनने के लिये निवेदन करते रहते थे। स्वामी जी अच्छे वक्ता तो थे ही, लेकिन यह वो अवसर था जब वे श्रोताओं के प्रश्नों के उत्तर देने में कभी-कभी आवेशित भी हो जाते थे। मुझे ठीक याद है, एक बार ऐसी ही सभा में मैं भी उपस्थित था तो एक महिला ने स्वामी जी से कहा कि स्वामी जी प्रश्न का उत्तर चाहे जो भी हो लेकिन स्वामी होने के नाते आपको तो आवेश तथा क्रोध से दूर रहना चाहिये । इस पर स्वामी जी ने तत्काल बड़े सौम्य और मनोविनोद की शैली में उत्तर दिया था कि "अरे भई मैं अभी-अभी लगभग एक सप्ताह पहले ही तो स्वामी बना हूँ, थोड़ा पकूँगा तभी तो यह क्रोध और आवेश दूर हो पायेगा।" इस पर उनकी स्वीकारोक्ति, सहजता, स्पष्टवादिता और भविष्य में सुधार की प्रबल इच्छा का संदेश पाकर सभी लोग एक स्वर में हँस पड़े थे और माहौल बड़ा रोचक हो गया था। इसके बाद जितनी भी देर स्वामी जी बोले उन्हें क्रोध छू भी नहीं गया था और प्रवचन समाप्ति पर जब स्वामी जी ने श्रोताओं से पूछा था कि कहो भई "क्या मेरे क्रोध में कुछ सुधार हुआ है ?" तो इस पर फिर सभी लोगों की हंसी के बीच माहौल पुनः मधुर हो गया था । इस तरह वे भक्तों की भावनाओं को सम्मान देने में सदा तत्पर रहते थे।

स्वामी जी उन्हीं दिनों वेदों को अंग्रेजी भाषा में तैयार कर रहे थे जिससे भारत की यह धरोहर विश्व भर में पहुँचे । यह कार्य वे दिल्ली में आर्यसमाज मन्दिर, हनुमान रोड में करते थे । उन्हीं दिनों की बात है कि स्वामी जी के पुत्र का देहावसान हो गया था और आर्यसमाज एवं अन्य सज्जनों की ओर से एक शोक सभा वहीं आर्यसमाज मन्दिर के हाल में आयोजित की गई थी। हम "भारत की सम्पदा" के सदस्यों को जब यह मालूम हुआ तो लगभग हम सभी शोक प्रकट करने वहाँ पहुँचे थे। वेदमंत्रों के साथ आत्मा की शान्ति के लिये शोकसभा चल रही थी और हम उसमें स्वामी सत्यप्रकाश जी को खोज रहे थे कि कहीं मंच की ओर वे विराजमान होंगे, लेकिन हमारा प्रयास व्यर्थ रहा। क्योंकि वे मंच के बजाय साधारण लोगों की तरह जनमानस में बैठे थे।

अपने लिये स्थान खोजते-खोजते जब हम सभा में भीतर पहुँचे तो हमें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वे हम लोगों के लगभग निकट ही भीड़ में बैठे हैं। पुत्र का शोक अच्छे-अच्छे विद्वानों को व्याकुल कर देता है । जब हमने स्वामी जी से शोक प्रकट करने की औपचारिकता निभाई तो वे बड़े शांत नजर आये और मुझे याद है उन्होंने केवल यही कहा था कि शायद ईश्वर की यही मर्जी थी। तब हमें लगा स्वामी सत्यप्रकाश जी विज्ञान के साथ आध्यात्म और वैराग्य दोनों में कितना अच्छा संतुलन कायम कर लेते हैं जो सामान्य आदमीके लिए दुर्लभ है। यदि इन विचारों को जनमानस अंगीकार कर सके तो शायद समाज में दुःख नाम की चीज ही न रहे।

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद स्वामी सत्यप्रकाश जी के लिये एक ऐसी संस्था रही है मानो वहाँ उनकी आत्मा निवास करती हो। आखिरी दिनों में जब वे अधिक बीमार रहने लगे थे, दिखाई कम देता था, चलने-फिरने में सहारे की आवश्यकता होती थी और बोलने में जीभ लड़खड़ाने लगी थी तब वे विज्ञान परिषद् में, उनके लिये बने निवास में, रहते थे और प्रायः परिषद् के गलियारे के रास्ते में आराम हेतु बैठ जाते थे । दृष्टि कमजोर होने से आने-जाने वालों को प्रायः वे उनकी आवाज अथवा पदचाप से पहचान लेते थे और अपने परिचितों को अपने पास बैठा कर उनकी राजी-खुशी आदि पूछकर अन्य चर्चायें किया करते थे । उन्हीं दिनों २२-२३ फरवरी, १९९२ को विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद में विज्ञान लेखन पर एक अखिल भारतीय संगोष्ठी आयोजित की गई थी। मुझे भी उसमें बुलाया गया था । बहुत दिनों से स्वामी जी को देखा भी नहीं था । अतः उनसे मिलने और उनका आशीर्वाद लेने की मन में बड़ी लालसा थी । जब मैं वहाँ पहुँचा तो जैसा मैंने ऊपर वर्णन किया है स्वामी जी कुछ लोगों के बीच में घिरे बातचीत में तल्लीन थे। मैं भी थोड़ा स्थान पाकर स्वामी जी को विनम्र अभिवादन कर जब पास में बैठ गया था तो बातचीत रोकते हुये उन्होंने कहा था ''आशीर्वाद तो ले लो पर भई दिखाई कम देता है। इसलिये पहचान नहीं पाया । कुछ बात करो तो शायद पहचान लूँ''। मैं बिना अपना नाम बताये बोल पड़ा था - स्वामी जी, मैं दिल्ली से आया हूँ - मेरा इतना कहना था कि वे फौरन बोले पड़े, '' अरे तुरशन पाल पाठक आया है क्या'' मैं कहा ''हाँ''। ''संगोष्ठी में आये हो क्या'' मैंने कहा ''हा'' स्वामी जी । यह तुमने बहुत अच्छा किया । लोग सोचते हैं सत्यप्रकाश अब बूढ़ा हो गया है अब विज्ञान परिषद् में जाने का क्या फायदा। मैंने कहा ''नहीं स्वामी जी यह बात नहीं है, परिषद् तो आपका लगाया हुआ पौधा है इसको आगे सींचना आपके हम सभी शिष्यों का परम धर्म है ।'' इस पर वे बड़े गद्‌गद् हो गये थे और उन्होंने आशीर्वाद सहित कहा था, भई पाठक, ''भारत की सम्पदा'' को मेरे जीवन-काल में पूरी नहीं हो सकी । मैं तो अब जल्दी ही ईश्वर की गोद में जाने वाला हूँ तो तुम ''भारत की सम्पदा'' जो ''भारत की विपदा'' बन गई है, को तो आगे बढ़ाते ही रहना पर मेरे न रहने पर इस परिषद् के उत्सवों में निमंत्रण चाहे मिले या न मिले और तुम्हें यदि मालूम हो जाये तो इसी प्रकार समय निकाल कर आते रहना। बड़े अधिकार और भरोसे के साथ मैं तुमसे यह कह रहा हूँ । यह कहते-कहते उनका कंठ रुद्ध-सा गया था और वे बड़े स्नेहमय, भावुक तथा परिषद् के भविष्य की चिन्ता में एक-तरह से डूब-से गये थे। इस पर उनके पास बैठे सभी स्वजनों ने लगभग एक स्वर से कहा था - स्वामी जी, आप निश्चिन्त रहिये, परिषद् के उत्सवों में हम सभी समय निकाल कर अवश्य आते रहेंगे। मेरे लिये स्वामी जी से यही बातचीत अन्तिम बातचीत बनकर रह गई जो मुझे उनके परिषद् से अपार लगाव और अपने शिष्यों से असीम स्नेह का परिचायक प्रतीत होती है। ऐसे परम स्नेही थे हमारे स्वर्गीय (डा०) स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी।

डॉ० सत्यप्रकाश द्वारा रचित रहस्यवादी काव्य

डॉ० भवानी लाल भारतीय

सम्भवतः बहुत कम लोगों को पता होगा कि लब्धख्याति वैदिक विद्वान् तथा विचारवान् दार्शनिक स्वामी सत्यप्रकाश ने अपनी युवावस्था में तत्कालीन हिन्दी काव्य की प्रसिद्ध रहस्यवादी शैली में काव्य रचना भी की थी। उनके इस काव्य ने आज से ६८ वर्ष पूर्व प्रयाग के साहित्यिक वातावरण को अपूर्व दिव्यता प्रदान की थी। उनका प्रतिबिम्ब नामक ३६ कविताओं का यह काव्य संग्रह १९८४ वि० सं० में कला प्रेस प्रयाग से छपा था। उस समय कवि की आयु मात्र २२ वर्ष की थी । वह युग हिन्दी में छायावाद-रहस्यवाद के उत्कर्ष का काल था। प्रसाद, पन्त, महादेवी और निराला के सूक्ष्म संवेदना प्रधान काव्य की हिन्दी में धूम थी और काव्यरसिक द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मक कविताओं से ऊब उठे थे। छायावादी कविता को स्थूल के प्रति सूक्ष्म की संज्ञा दी गई और मानवी मनोभावों के मनोज्ञ चित्रण तथा प्रकृति के सुकुमार चित्रण को महत्त्व प्राप्त हुआ। रीतिकालीन काव्य में प्रस्तुत किये गये नर-नारी के स्थूल श्रृंगार चित्रण से भी लोगों का मन भर चुका था और वे प्रेम के सूक्ष्म तथा भावनाप्रवण चित्रण के महत्त्व को समझने लगे थे।

छायावाद और रहस्यवाद के इसी मुक्त परिवेश में डॉ० सत्यप्रकाश का 'प्रतिबिम्ब' शीर्षक काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की भूमिका कवि ने खुद ही लिखी और आश्चर्य है कि वह अँग्रेजी में है। अपने वक्तव्य के आरम्भ में कवि यह स्वीकार करता है कि वर्तमान युग में सूर और तुलसी की भक्ति कविता अथवा देव और बिहारी का श्रृंगारी काव्य सर्वथा अप्रासंगिक हो चुका है। वे अपने काव्य को छायावाद से प्रभावित तो मानते हैं किन्तु उन्होंने इसे नव-छायावाद (Neo Mysticism) का नाम दिया है। प्रकृति के बारे में कवि का अपना दृष्टिकोण है जिसे उन्होंने काव्य में प्रकट भी किया है। इसी भूमिका में आगे चल कर उन्होंने वस्तु, बिम्ब, चित्र तथा छाया आदि शब्दों को स्पष्ट किया और हिन्दी कविता में उनके प्रयोग का विवेचन किया। वे अलंकार और छंद के बारे में कवियों में प्रचलित धारणाओं की भी चर्चा करते हैं और आधुनिक कविता में उनके बदलते प्रतिमानों का उल्लेख करते हैं। डॉ० सत्यप्रकाश के काव्य को समझने के लिये उनकी इस भूमिका को पढ़ना आवश्यक है।

डॉ० सत्यप्रकाश के इस काव्य में आध्यात्मिक प्रकृति सौन्दर्यपरक, मानव जीवन की नश्वरता को उजागर करने वाले तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य विषय इन कविताओं में आये हैं। उनकी अध्यात्मभावापन्न कविता का उदाहरण देखिये—

कर में एक मुकुर ले करके, कर लो अपना ही दर्शन ।
आनन्द के प्रतिबिम्बों में तुम, छिप जाओ हे प्यारे मन ।
अपने नयनों से देखो तुम, अपना ही वह मुसकाना ।
जिसके कारण तुम्हें जगत् में, बार-बार होता आना ।

महादेवी वर्मा की प्रसिद्ध कविता 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' से कवि की इन पंक्तियों को मिलायें —

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (अवकाश प्राप्त)

मुझे न डर कुछ भी दर्पण के
चूर - चूर हो जाने का ।
ध्यान मुझे इन प्रतिबिम्बों के
है केवल खो जाने का ।।

'अभिवादन' शीर्षक कविता में कवि प्रकृति को देवी, सखी, प्रिया, सुता, सजनी, माया, साधुनी और जननी जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित करता है। इस कविता में जहाँ कवि की प्रकृति से आत्मीयता लक्षित होती है वहाँ उसके प्रति कवि का विस्मय का भाव भी प्रकट होता है। उदाहरण देखिये—

इन्द्र का चाप बनाकर सेतु
धरा से स्वर्ग ओर प्रस्थान ।
प्रिये करती जब तू चुपचाप ,
मुझे क्यों तजती यों अनजान ।।

प्रकृति सुन्दरी का लजाना और मान करना भी कवि की दृष्टि से ओझल नहीं हुआ है—

सजनि जब उदयित होता चन्द्र ,
कहो, क्यों उससे करती मान ।
झिलमिलाते जब तारक वृन्द ,
लजाती जाती गाती गान ।।

प्रकृति नायिका का पल में छिपना और दूसरे क्षण प्रकट होना कवि से अप्रकट नहीं है—

घटा जब लेती नभ को घेर ,
किधर तुम छिप कर जाती भाग ।
अंधेरे में फिर दामिनी रूप ,
दमकती आतीं गा गा राज ।।

प्रकृति चाहे जो रूप धारण करे, कवि उसका सतत् अभिवादन और अभिनन्दन ही करेगा—

धरो जो चाहो आगे रूप ,
सदा अभिवादन को तैयार ।
अगर तुम आओ मेरे द्वार ,
भेंट दूँगा तंडुल दो चार ।।

कवि के इस छायावादी काव्य में आस्तिकता की धारणा सर्वत्र मुखर हुई है। कवि अपने आराध्य को निकट आया जानकर भी उन्हें पहचान नहीं सका। परिणाम हुआ पश्चात्ताप—

मेरे आये प्रिय भगवान्
मैंने उन्हें नहीं पहचाना ।
पड़ा बाद को फिर पछताना ।

किन्तु कवि के उपास्य ईश्वर भक्ति काल के कवियों के आराध्य राम, कृष्ण की भाँति अवतार नहीं लेते। वे तो उसे दीन, हीन, रोगी, अंधे, अपाहिज के रूप में या सरलता और भोलेपन की प्रतिमा रूप बालक में दिखाई पड़ते हैं—

रंगपटल धारण कर वे आये मेरे पास।
नहीं सका मैं उनको जान।
कभी-कभी आये वे बन कर दीनों के उच्छ्वास

अथवा

शैशव को धारण कर आये।
हँसते-हँसते घर पर आये।
मधुर तोतले बचनों में था,
उनका प्रत्याभास।
नहीं सका पर मैं पहचान।

कवि की कुछ अन्य कविताएँ भावनाप्रवण शैली में लिखी हुई हैं। इनमें सुमित्रानन्दन पंत के काव्य की झलक यत्र-तत्र दिखाई पड़ती है। शिशु की सरलता ने कवि को अभिभूत कर दिया है, वह लिखता है—

मेरे घर के हँसते फूल ,
शैशवता के मृदु श्रृंगार ।
तप्त हृदय की शीतल धार ,
वक्षस्थल के सुरभित हार ।।

कवि शिशु को विरक्त अवधूत से कम नहीं मानता—

जगत पिता के आंगन में हैं
कितने तुम से लाल
कितने तुमसे हैं अवधूत
सब मिल कर जब हँसते होंगे
लाखों तुमसे बाल।

डॉ० सत्यप्रकाश की सलिल तरंग शीर्षक कविता पन्त की प्रसिद्ध कविता नौका विहार से अत्यन्त समानता रखती है—

श्री यमुना के वक्षस्थल पर लेकर नाव ,
संध्या समय चले हम कुछ जन हो तैयार ।
गगन लोक में नाच रहा था शुभ मार्तण्ड ,
दिखा रहा था दिवस सफलता के उद्‌गार ।।

जिस प्रकार पन्त का नौका विहार उसे शाश्वत जीवन तथा मानव के अस्तित्व की चिरन्तनता का आभास देता है उसी प्रकार कवि सत्यप्रकाश का नौका आरोहण भी कम स्फूर्ति और प्रेरणा देने वाला नहीं है—

आशा पूरित आती जाती और निराश,
देखा गया तभी जीवन में यह रंग
सजल नयन क्या, सजल वदन थी लहरें लोल,
अन्तर्भाव दिखाने का क्या होगा ढंग ?

'प्रतिबिम्ब' की इन कविताओं को पढ़ कर ऐसा लगता है कि यदि कवि अपनी व्यवसायजन्य विवशता के कारण रसायनशास्त्र की उच्चतर शोध में प्रवृत्त नहीं होता तथा दूसरी ओर वैदिक अध्ययन की गहराइयों में प्रविष्ट नहीं होता तो इस बात की पूरी सम्भावना थी कि हिन्दी काव्य को उनकी कुछ अन्य अनूठी कृतियाँ प्राप्त होतीं।

Swamiji and Poetry

Dr. Mamta Gupta

It is interesting that a man who was a scientist to begin with should have turned to religion which is a matter of faith and as many would put it has its basis in all that transcends scientific logic and to poetry later which was defined by a contemporary academic poet and as a sort of brilliant illiteracy. Dr. Satya Prakash or Swamiji as he later came to be known in Arya Samaj circles was not merely an ideal poet and one of these religious-minded souls who leave and outgrow their social obligations in search of God but one who sought to reform the social milieu in which he found himself. Dr. Satya Prakash's poetic utterances in this sense are realizations and creative outbursts aimed at moving or galvanizing the people into action and to assist them in coming closer to God. Men of religion can be very prosaic and down to earth in their utterances to the point of being bland. The likes of such people proof effective but in a limited way for words carrying weight when they have an aesthetic touch about them. Poetry by definition has to emerge from the deepest recesses of our mind and feelings and cannot be contrived. The moment there is an effort to forcibly work out a poem it becomes lifeless verse. And Swamiji was acutely conscious of the pitfalls of such forced writing. In an age when the ruling poetic diety is Ezra Pound there remains little that would meet his exacting standards. But it must be conceded and to Swamiji's credit that he freely grasped with the norms of Hindu prosody and made innovations which have a justification of their own. Dr. Satya Prakash clearly stated that since in a poem different moods and feelings are expressed it should not be out of place or hazardous to use different metres to achieve the desired results. He also practised this in his own words rather effectively. Most of our great poets who have used complexed metres and adopted complicated rhyme schemes to embelish their poems have failed to be effective in as much the form was not given an opportunity to change with the content in the poem itself. This makes much of acclaimed writing appear artificial and a shade lame.

It is cerious that Dr. Satya Prakash who was a scientist himself and used to theorizing on the basis of his experiments and empirical data should left a question for others to address themselves to rather than have provided a conclusive and definite answer himself. In the preface to his collection of poems he pleads for the prime need to develop a theory or to theorize on the possible relationship between the nature of change in emotions and feelings in a poem and a consistent change in nature. It is a very complex question, indeed, and can lead the best amongst us at a loss of words. In some ways we ought to be grateful to this minor poet for having raised a question which the colonized mind would not have done being subverted by literary traditions that originate in Europe and America. In some ways Swamiji's free thinking also exposes the derivative nature of modern Hindi poetry which takes its cue from the Anglo-American tradition of Pound and Eliot. The

---

Lecturer, Dept. of English, Arya Kanya Degree College, Allahabad.

urge to Indianized western poetic practices, if not ape them blindly, appears pathetic and displays a certain bankruptcy of the imagination and a slavish mentality which extends into the realm of literature from politics, being a reflection of our overall modes of thought. A glance at literary criticism and poetic statements issued by Chayawadi poets clearly proves the point. One almost feels whether like the green revolution of Dr. Norman Borlaug this explosion of Chayavadi Kavita under the influence of Pound and Eliot would render the poetic soil infertile. This kind of cross-fertilization and hybridization and use of chemicals make increase the poetic harvest but in the long run the results are likely to be problematic. It is strange that even though the Indian Society is so very different from the white predominantly male society yet some of us who dabble in poetry or other governs of creative writing should decide to forcibly experience them and create and invent a strange kind of world not only for themselves but for their readers who are equally obsessed with the West. Such tinkerings which are anglocentric in the main can never chart out an independent course of thought because they forget the burden of Western traditions and take off independently without playing with such counters.

Another problem which seems to have vexed Dr. Satya Prakash's mind relates to, in his own words, the "standard of beauty and place of rhetoric in poetry." He was very clear in his mind about the changing concept of beauty with time and place. That he should have appreciated it before Edward Said's orientation and the likes of it had appeared on the scene and made a fetish of things, many of us did not feel confident about appreciating in literature. He looked back, as he himself confesses, at the paintings done during the Mughal era and the Hindu period for inspiration because it is from them that many of us have picked up notions of beauty accepted for generations which still form a part of the mental make-up of the people in this part of the country. There was this obsession with Swamiji to see "nature in her naked aspect, in her true form" and to express it in poetry without lapsing into old classifications of yore. He stated it very clearly, "We now no longer require 176 divisions of उत्प्रेक्षा on numerous classifications of यमक, उपमा and confusion of unnecessary parts of rhetoric. Our tender, Kavita Kamini needs no over-loading. I think, we can be less cruel to her. Now our figures of speech will not be extra-impositions but intra-prepositions. These will not be aim of our compositions but simply sidemeans of attaining our bliss."

But Swamiji being Swamiji, a man devoted to religion, subordinated poetry to his philosophical obsessions which sometimes, as in the case of Jiddu Krishnamurty, found creative expression reinforced here and there by a powerful image. Such stuff may not find favour with these who are satisfied with nothing short of pure poetry but the effectiveness of imagery in expressing revelations to the people with religious proclivities does prove successful. I suppose this explains the large readership which both Krishnamurthy and Swami Satya Prakash found among people. In his numerous utterances on poetry Swamiji did not hesristate and predictably too, to emphasize the importance of content over form, a point that may not go down the gullets of those who believe in modern poetic practices. Poetry in the hands of men of religion and thinkers has been more of a weapon to carry the message of the land and all that they have understood of him to the public for or their readers. Poetry for poetry's sake does not seem to find favour : "A poet depicting various limbs or a beautiful beloved will only be classed amongst the lowest of poets inspite of his highly imaginative similes and metaphors." But this did not prevent Swamiji from exploring the varied aspects of a woman's

beauty to the delight of his readers, thought as he did that "a poem may be more perceptive to a third person than to the poet himself". He was more preoccupied with Chhayavad that Bimvad and said that it needed a certain training of the mind to "enjoy the essence" of what a poem stood for and this drove him on to express himself in an interesting him of scientific and literary language.

Nature of reflection depends upon the reflecting surface - plane or curved, upon the distance of the object from the surface and upon the intensity of illumination. A reflection may be real or imaginary, enlarged or shortened, and in some cases inverted and laterally inverted also. A shadow on Chhaya always points boundary lines and not the impressions of every point, it depends upon the intensity of illumination, and distance of the object from the source of light. This is the physical description of the two phenomena. Reflections and shadows may be simple or complex in accordance with the source of illumination and other factors governing the laws of optics".

Despite Swamiji's attempts to reduce poetry to a scientific level he preferred to call his own exercises in peotry NEO-MYSTICISM because they explore inner realms of consciousnesses which can be best realised and shared by those who believe and in and inhabit the spirits twilight zone, perhaps not seem by any but felt by many. He was conscious of the fact that his poetic outpourings may not be acceptable to the "orthodoxy" yet he was aware of the fact that they had a lot to offer to the spiritually inclined. He himself said that his poems were some sort of outbursts or outpourings of a mad man, prayers of a work which were likely to be reduced to nothing. We know, Swamiji's poems like everything else would be reduced to nothing ultimately, but not before they have enlightened those who were to read them.

वैज्ञानिक परिव्राजक

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

प्रवर्तमान सृष्टि चक्र की गति है
अप्रतिहत, अखण्डित, अबाधित
उस गति के प्रवहमान
एक विशिष्ट क्षण में
काल के एक खण्ड में
भारत भूमि के उत्तराखण्ड से ऋत
आकाश के विस्तार से हृदय की विशालता
जलराशि की शीतलता से मन की शान्ति
अग्नि की प्रखरता से तेजोद्दीप्त व्यक्तित्व
वायु की समता से जीवन की निःस्पृहता
को कण-कण बटोर कर
ज्योति का सघन पुञ्ज
अम्बर में बिखर गया
मेघ बन बरस गया
धरती में फैल गया
अजस्र धार बन गया
ज्ञान स्रोतस्विनी प्रवाहित कर गया
स्वयं तो अवगाहन किया ही
असंख्य जिज्ञासुओं को
प्रज्ञा पिपासुओं को
गहरे पानी पैठने की
सीप का मुख खोल
मोती निकाल लाने की
श्रम साध्य अध्यवसाय की
प्रेरणा दे गया

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

वेद और विज्ञान को समन्वित कर
दृष्टि को नवीनता दी
सर्जन को मौलिकता दी
संस्कृति को अविच्छिन्नता दी
संस्कृत को परिपूर्णता दी
जीवन को कर्मठता दी
श्रुति के सिद्धान्त को
लोकसंग्रह के दृष्टान्त को
कर्म की अजस्र श्रृंखला को
सत्य से सत्यापित करने वाले
प्रकाश से प्रकाशित करने वाले
आनन्द से आप्यायित करने वाले
सरस्वती के वरद पुत्र
परम श्रद्धेय के
सत्यप्रकाशानन्द सरस्वती के
अभिनन्दित अभिवन्दित श्री चरणों में
मेरा शतशः नमन
किन्तु परिभाषा है अभी अधूरी
कविता हुई नहीं पूरी
शिर झुका प्रणाम कर लेने से
कर्तव्य की इति श्री नहीं होती
दायित्व की समाप्ति नहीं होती
कल्पना साकार नहीं होती
वैज्ञानिक परिव्राजक की आशा पूर्ण नहीं होती
नव प्रयोगों से विवेचित हो विज्ञान
अभिनव शोधों से समादृत हो वैदिक ज्ञान
अमृत की बूंदों को संचित कर
असीम सत्ता में सीमित सत् के प्रति
निस्सीम महत्ता में एकीकृत महत् के प्रति
स्मृतियों से समन्वित श्रद्धाञ्जलि स्वरूप
पत्रों से पूरित प्रणामाञ्जलि अभिरूप
सिद्ध को पुनः साध्य कर रही हूँ
मौन को शब्दाराध्य कर रही हूँ।

द्वितीय खण्ड

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज

(Ārya Samāja and its Founder)

स्वामी दयानन्द, आर्यसमाज और भारतीय जागरण

नारायण दत्त

स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके आर्यसमाज का धर्म-परिष्कार एवं समाजसुधार की उस प्राणवंत लहर से गहरा सम्बन्ध था, जो पिछली सदी के मध्य-दशकों में इस देश में तेजी से उठी, किन्तु लक्ष्य तक पहुँचने से पहले ही दुर्भाग्यवश अपना वेग खोकर इस सदी के आरंभिक दशकों में विशीर्ण हो गयी।

उन्नीसवीं सदी, जिसमें कि स्वामी जी जन्मे और जिये, भारत के दिशा हारने व दिशा पहचानने, आत्मविश्वास खोने व उसे पुनः अर्जित करने की सदी थी। मुगल शासन के निःसत्त्व और विशीर्ण हो जाने के बाद से यह देश केन्द्रीय सत्ता और नेतृत्व से वंचित हो गया था । मराठे, टीपू सुलतान और बाद में सिक्ख, देश की उस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाये; क्योंकि एक तो उन्हें जमाने की ठीक पहचान नहीं थी, दूसरे उनके पीछे वह जागृत और व्यापक-जनमत नहीं था, जो ऐसे प्रयत्नों की सफलता के लिए बहुत जरूरी है । कोई सुचिंतित लक्ष्य तथा शत्रु की शक्ति और अपनी दुर्बलताओं का सही अनुमान न होने के कारण १८५७ की उथल-पुथल भी तेजी से भभककर उतनी ही तेजी से बुझ गयी और गहरी निराशा का अँधेरा अपने पीछे छोड़ गयी। इस प्रकार अपेक्षाकृत अल्प प्रयत्न से ही साम्राज्य-रूपी महाफल अंग्रेजों की झोली में टपक पड़ा।

उन्नीसवीं सदी में भारत के कोने-कोने को आक्रांत कर लेने वाला ब्रिटिश साम्राज्यवाद व्यापक पश्चिमी साम्राज्यवाद का एक हिस्सा था । यह साम्राज्यवाद नवोदित पूँजीवाद के साथ गलबहियाँ डालकर चल रहा था और नये विज्ञान व यंत्र-तंत्र से सन्नद्ध था । इन चार तत्त्वों का यह व्यूह इतिहास में एक नयी और निहायत खौफनाक चीज थी। भारत का पिछला अनुभव और परंपरागत बौद्धिक उपकरण इस लायक नहीं था कि वह इन चार तत्त्वों के पृथक् और मिश्रित स्वरूप एवं चरित्र को ठीक से पहचान व परख सकें । सो इस चतुर्व्यूह की चमक से उसकी बूढ़ी आँखें चुंधिया गयी और वह उसके समक्ष नतमस्तक हो गया। ''पूरी अमी की कटोरिया-सी'' विक्टोरिया रानी की प्रजा होना आम भारतीय को ईश्वरीय विधान और परम सौभाग्य प्रतीत होने लगा। अँग्रेज और अँग्रेजी हुकूमत के बारे में हिन्दी एवं अन्य भाषाओं में इस अरसे में बनी बीसियों प्रशंसात्मक कहावतें इसकी निशानियाँ हैं।

किन्तु क्रिया के गर्भ में उसकी प्रतिक्रिया भी निहित रहती है । अँग्रेज और अँग्रेजी के सम्पर्क ने जहाँ लाखों उथले दिमागों को सुला दिया, वहीं चंद आला दिमागों को गहरा सोचने और अंतर्निरीक्षण करने को भी प्रेरित किया । इनके प्रथम प्रखर प्रतिनिधि थे राजा राममोहनराय (१७७४-१८३३ ई०) । वे प्रगल्भ मस्तिष्क और संवेदनशील हृदय के धनी थे । अनेक देशों और भाषाओं के धार्मिक व लौकिक साहित्य का उन्हें अच्छा परिचय था । उन्होंने अनुभव किया कि वैचारिक जड़ता, धार्मिक विकृति एवं सामाजिक कुरीतियाँ हमारी दुरवस्था का मूल कारण हैं । इनके निवारण के लिए उन्होंने कार्य आरम्भ किया। दुनिया में बह रही आर्थिक-राजनैतिक हवाओं की उन्हें काफी पहचान थी और वे भारत को सम्पूर्ण विश्व के परिप्रेक्ष्य में रखकर विचार कर सकने

सम्पादक, 'नवनीत'; मुम्बई (भू० पू०)

वाले प्रथम भारतीय थे । उन्होंने हिन्दू धर्म का जो प्रतिसंस्कार 'ब्राह्म समाज' नाम से किया, वह एक तरह से हिन्दू धर्म का अन्तर्राष्ट्रीय संस्करण था काफी वायवीय । उसकी अपील मुख्यतया बौद्धिक वर्ग तक रही। तथापि वह भारत के कायाकल्प की दिशा में पहला पग था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०) राममोहनराय के पूरक थे और कुछ हद तक प्रतीप भी । उनकी दृष्टि कम व्यापक किन्तु एकमुख थी, इसलिए लेजर की भाँति शक्तिशाली और बींधने वाली थी । उनका अध्ययन मूलतः संस्कृत ग्रंथों का था, परन्तु उस परिधि में उनका पांडित्य अगाध था । पैनी बुद्धि और तत्वग्राही प्रज्ञा के कारण वे किसी भी नये-पुराने विचार की तह में पहुँचने और हेय-उपादेय का विवेक करने में समर्थ थे। वे वीतराग संन्यासी थे; किन्तु उनकी वज्रोपम काया में ऐसा दिल था, जो दूसरों के लिए दुःखता था । जवानी के दिनों में गुरु और सत्य की खोज में उन्होंने भारत के बहुत बड़े भाग का पैदल भ्रमण किया था (ऐसा ही भ्रमण बाद में स्वामी विवेकानन्द ने भी किया) और इन यात्राओं के दौरान उन्होंने अपने देश बांधवों की घोर दीनता-दरिद्रता को, उनकी नानाविध धार्मिक विकृतियों एवं सामाजिक कुरीतियों को, जड़ता व मूढ़ता को, उनके तथाकथित धर्मगुरुओं के स्वार्थीपन को, उनके पंडे-पुजारियों की ठगविद्या को और विदेशी शासन की भोंडी असलियत को प्रत्यक्ष देखा था और उससे उन्हें गहरी पीड़ा हुई थी।

वे भी राममोहन राय की तरह इस नतीजे पर पहुँचे थे कि जब तक भारत अपने वैचारिक और सामाजिक मलों को धो न डाले, उसका उद्धार असंभव है परन्तु साथ ही उनकी यह भी मान्यता थी कि आत्म परिष्कार की इस प्रक्रिया के लिए आवश्यक सब साधन-सामग्री हमारे पुरखों की वैचारिक थाती में मौजूद हैं। सो इन्हीं स्वदेशी विचारों से लैस होकर उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी एवं लेखनी से धार्मिक पाखंड (जिसे वे विनोद में पोपलीला कहते थे) और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध तुमुल संग्राम छेड़ दिया।

स्वामीजी की धार्मिक मान्यताएँ बहुत सीधी और बुनियादी थीं । ईश्वर एक, अजन्मा नित्य-निराकार है और "उसी की उपासना करनी योग्य है।" वेद (ऋक्, यजुः, साम, अथर्व) ईश्वर की वाणी है, वह सब सत्य विद्याओं का मूल है, वही परम प्रमाण है। वेद का उपदेश परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में सर्व मानवों के कल्याण के लिए किया है । सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के अलावा जड़ प्रकृति और असंख्य जीवात्माएँ भी नित्य हैं । वे कर्मफल और पुनर्जन्म को मानते थे। चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों में उनकी आस्था थी और सोलह संस्कारों के वे हिमायती थे । ईश्वरोपासना के लिए वे दैनिक संध्या और अग्निहोत्र को महत्त्व देते थे।

ऊपरी नजर से उनकी ये धर्मास्थाएँ रूढ़िवादी हिन्दुओं के मूल विश्वासों से बहुत अधिक भिन्न तो नहीं प्रतीत होतीं; किन्तु उन्होंने इनसे जो निष्पत्तियाँ निकालीं या इनकी जो व्याख्याएँ कीं, वे परम्परागत हिन्दू आस्थाओं से बहुत अलग थीं - कई बार तो उनसे सर्वथा उल्टी भी। यदि ईश्वर एक, अजन्मा और निराकार है तो बहुदेवपूजा, अवतार-कल्पना और मूर्ति-पूजा धर्म्य नहीं हो सकतीं। यदि वेद ईश्वरीय वाणी है और उसका उपदेश परमपिता ने सबके कल्याण के लिए किया है, तो वह केवल ब्राह्मणों के घोखने की चीज नहीं रहने दी जा सकती; उस पर सबका समान अधिकार है, सबको उसे पढ़ना और उसका अर्थ समझना चाहिये। पिछले दो हजार साल की वैदिक परम्परा में यह निपट नयी बात थी, जो वेदवाणी पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को अस्वीकार करती थी। वस्तुतः उन्होंने वेदों के अर्थ-सहित अध्ययन की नयी परिपाटी की नींव डाली।

वर्ण-व्यवस्था के वे कायल थे; किन्तु गुण-कर्म-स्वभाव को उसका आधार मानते थे, जन्म को नहीं । उनकी मान्यता थी कि ब्राह्मण का बेटा शूद्र हो सकता है और शूद्र का बेटा ब्राह्मण, और रोटी-बेटी के व्यवहार में जन्मगत वर्ण-विचार अप्रासंगिक है । इसे मान लेने पर जातिप्रथा का लौह ढाँचा टूट जाता है और जन्ममूलक जाति-व्यवस्था के जटिल ऊँच-नीच-क्रम और उस पर टिके हुए दर्प एवं उत्पीड़न के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता । तब वर्ण-व्यवस्था एक शास्त्रीय वर्गीकरण मात्र रह जाती है। साथ ही स्वामीजी ने चातुर्वर्ण्य के बाहर किसी को नहीं माना, जिससे उनके विधान में अस्पृश्यता के लिए कोई आधार नहीं रह जाता। स्वामीजी के इस उपदेश को जिन आर्यसमाजियों ने पूरी तरह आत्मसात् किया, वे जातिवाद से पूरी तरह मुक्त हो गये । किन्तु सब आर्यसमाजी ऐसे साहसी नहीं थे । आर्यसमाज की आंतरिक राजनीति में पिछले दशकों में उभरा जातिवाद इसी का फल है।

ईश्वरोपासना के लिए स्वामीजी ने संध्या के साथ अग्निहोत्र का विधान तो किया, किन्तु यह अग्निहोत्र (हवन) उन लंबे, जटिल और खर्चीले यज्ञों से बहुत भिन्न है, जिनके विरुद्ध उपनिषदों ने और फिर बुद्ध ने आवाज उठायी थी । वस्तुतः मंदिरों और तीर्थों की धार्मिक महिमा को पूर्णतः नकारकर, षोडश संस्कारों को सरल बनाकर और श्राद्ध आदि कर्मों को निषिद्ध ठहराकर उन्होंने धर्म के मामले में आम नागरिक को स्वनिर्भर बनाया और पुजारी-पुरोहित वर्ग का वर्चस्व समाप्त किया।

स्वामीजी का कहना था कि धर्म का यह जो रूप वे सामने रख रहे हैं, वही वैदिक धर्म का शुद्ध तथा मूल स्वरूप है, जिसे हिन्दू-समाज ने अपने मतिभ्रम द्वारा विकृत कर लिया था। उनका यह भी दृढ़ मंतव्य था कि केवल वैदिक धर्म ही सत्य धर्म है और भारत का ही नहीं, अपितु समस्त मानव-जाति का परम श्रेय वैदिक धर्म के अंगीकार एवं पालन से ही सध सकता है। (आग्रह का ऐसा स्वर प्रायः हर नैष्ठिक बौद्ध, ईसाई एवं मुसलमान का भी होता है । इसका अपवाद शायद सिर्फ सनातनी हिन्दू है, जो यह स्वीकार करता है कि परम सत्य तक पहुँचने के अन्य मार्ग भी हो सकते हैं।) स्वामीजी के विचारों के विवेचन में इस पक्ष को नजर-अंदाज नहीं करना चाहिये।

इसी वैदिक धर्म को विश्व के कोने-कोने में पहुँचाने के लिए स्वामीजी ने ७ अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की, जिसका संकल्प है ''कृण्वन्तो विश्वमार्यम्''। यह बात याद रखने योग्य है कि स्वामीजी की भाषा में आर्य शब्द श्रेष्ठ का पर्यायवाची मात्र था और उसके साथ किसी भी नस्ल का भाव नत्थी नहीं था । (वस्तुतः भारतीय परम्परा यह मानती ही नहीं कि आर्य कोई अलग नस्ल थी।) साथ ही धर्म-परिवर्तन को स्वामीजी ने वैचारिक एवं स्वैच्छिक प्रक्रिया माना, जिसमें लोभ और भय का प्रयोग सर्वथा वर्जित है।

स्वामीजी ने तो अपने धर्मोपदेश को हिन्दुओं तक सीमित नहीं रखा था, परन्तु प्रबुद्ध हिन्दुओं ने उसमें धर्म का ऐसा रूप पाया जो तात्विक दृष्टि से उनके पुरखों के धर्म से अभिन्न था, किन्तु साथ ही उन सब विकृतियों से मुक्त था, जिसके कारण वह (उनके पुरखों का धर्म) आक्षेप और उपहास का विषय बना हुआ था। स्वामीजी का यह सामयिक प्रभाव हिन्दू समाज के लिए बहुत शुभ तथा देश के नवजागरण में सहायक सिद्ध हुआ।

यह स्वामीजी के चिंतन और चर्या की खूबी थी कि धर्म के सामाजिक पहलू को उन्होंने कभी नजर से ओझल न होने दिया। उन्होंने अपने अनुयायियों में यह चेतना जगायी कि अस्पृश्यता एक अधार्मिक और अन्यायमूलक कल्पना है । इस प्रश्न का विशाल आर्थिक पक्ष शायद वे नहीं देख पाये - जैसे यह कि अस्पृश्यता उच्च वर्णों को लगभग बेगार की दर पर मजदूर (विशेषतः घिन पैदा करने वाले शारीरिक श्रम के कामों के लिए) मुहैया करती है, इसलिए उसके बनाये रखने में उच्च वर्गों का आर्थिक स्वार्थ है।

किन्तु उन दिनों बहुत कम लोग अस्पृश्यता के प्रश्न की तमाम जटिलता को समझ पाये थे। आज भी, पढ़ा-लिखा भारतीय भी, इस प्रश्न के सही और समग्र रूप को देखना नहीं चाहता है; इसलिए संविधान द्वारा अवैध घोषित कर दिये जाने के लगभग पाँच दशक बाद भी अस्पृश्यता देश की विषम समस्या बनी हुई है।

स्वामीजी स्वयं ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास में प्रविष्ट हुए थे; किन्तु नारी को नरक का द्वार मानने की दूषित मनोवृत्ति उन्हें असह्य थी । उन्होंने नारी को वेदाध्ययन तक का अधिकार जो कि हिन्दू दृष्टि से सर्वोपरि धार्मिक अधिकार है देकर उसे पुरुष के समकक्ष स्थान-मान दिलाने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने स्त्री शिक्षा, परदा-परित्याग और बाल-विवाह-निषेध पर जोर दिया।

उनका यह उपदेश था कि लड़की कम से कम सोलह और लड़का कम से कम पचीस वर्ष की उम्र तक ब्रह्मचर्य का पालन करके उसके बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। इससे बालविवाह की समस्या स्वयं ही हल हो जाती थी । वस्तुतः पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में स्त्री शिक्षा एवं नारी-जागरण की मुहिम स्वामीजी के शिष्यों ने ही छेड़ी।

शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में आर्यसमाज ने गुरुकुलों तथा डी० ए० वी० कालेजों के जरिये व्यापक कार्य किया। उसके ये शिक्षणालय विदेशी शासन के जमाने में राष्ट्रवाद की पनीरियों का काम करते रहे । फिर भी यह बात मन में आये बिना नहीं रहती कि सरकारी नियंत्रण से बहुत हद तक या पूरी तरह मुक्त इन शिक्षणालयों ने पढ़ाने के कम खर्चीले व ज्यादा कारगर तरीके, विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास को मापने के अधिक वैज्ञानिक पैमाने और शिक्षितों को आम जनता से जोड़ने की सहज रीतियाँ खोजने पर ध्यान दिया होता, तो स्वतंत्रता आने के बाद देश के शिक्षातंत्र को सही रास्ते पर चलाने में बहुत मदद मिलती।

हिन्दी का प्रचार व प्रसार स्वामीजी और आर्यसमाज का एक और जबर्दस्त कार्य था । स्वयं गुजराती होते हुए भी स्वामीजी ने अपने अधिकांश ग्रंथ हिन्दी में लिखे। उनकी गणना हिन्दी गद्य के निर्माताओं में होती है । उनका विचार था—''भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा और अलग-अलग व्यवहार का विरोध बिना छूटे .... अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।'' और इस अभिप्राय साधक भाषा के रूप में उन्होंने हिन्दी को चुना, जिसे वे आर्यभाषा कहते थे । पहले स्वामीजी संस्कृत में बोलते-लिखते थे । श्री केशवचंद्र सेन ने उन्हें हिन्दी अपनाने का सुझाव दिया, जिसे उन्होंने सहर्ष और तुरन्त स्वीकार कर लिया । (द्रष्टव्य स्वामी सत्यानंद लिखित 'दयानन्द-प्रकाश', काशीखंड, षष्ठ सर्ग।) यह उन्नीसवीं सदी की भारतीय मनीषा की उदार दूरदर्शिता का उदाहरण है । इस दृष्टि से आज हम कितने पीछे हट गये हैं।

अपने विचार सब तक पहुँचाने के लिए स्वामीजी ने लेखन एवं भाषण के अलावा शास्त्रार्थों का सहारा लिया, जैसा कि शंकराचार्य के समय से सभी मतप्रस्थापक आचार्य इस देश में करते आये थे । स्वामीजी ने अपने शास्त्रार्थों का स्वरूप चाहे कितना ही बौद्धिक एवं परिष्कृत रखा हो, मगर बाद में आर्यसमाजियों व उनके विरोधियों के शास्त्रार्थ वितंडावाद के दंगलों का रूप धारण करते गये । इसके कई रोचक उदाहरण श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने अपनी आत्मकथा में दिये हैं । किन्तु भजनोपदेश द्वारा विचार-प्रचार की जो तकनीक आर्यसमाज ने विकसित की, वह जनमत को प्रभावित करने का एक बेजोड़ देशी साधन बन गयी। समतावादी विचारों और आर्थिक आयोजन संबंधी जानकारी के प्रचार के लिए यदि सरकार ने इस प्रचार-तकनीक का उपयोग किया होता, तो बहुत काम हो सकता था।

हिन्दू धर्म ने ग्यारहवीं-बारहवीं सदी से अपना प्रवेश-द्वार तो बंद कर लिया था, मगर निर्गमन-द्वार खुला छोड़ दिया था । आर्यसमाज ने उसकी इन दोनों भूलों को सुधारने की चेष्टा की। नये लोगों को ग्रहण करने में हिन्दू धर्म में कोई सैद्धांतिक अड़चन नहीं थी, जैसी कि पारसी और यहूदी धर्मों में है । असल में ईसा की नौवीं-दसवीं सदियों तक विजातीयों के हिन्दू समाज में प्रविष्ट

होने और उसमें एकाकार हो जाने की प्रक्रिया पूरी तरह रुकी नहीं थी। आधुनिक युग में रामकृष्ण मिशन ने कुछ ईसाइयों को हिन्दू धर्म में दीक्षित किया, जो कि पाश्चात्त्य थे । मगर जब आर्यसमाज ने इस्लाम और ईसाइयत में गए पुराने हिन्दुओं को 'शुद्ध' करके वापस लेना शुरू किया तो विरोध और विग्रह की नौबत आ गयी। असहयोग-आन्दोलन के स्थगन के बाद उपजे शून्य में जब साम्प्रदायिकता ने देश में जोर पकड़ा, तब 'शुद्धि' और 'तबलीग' के जंगी खेमे आमने-सामने लग गये। स्वामी श्रद्धानन्दजी की हत्या इसी विषैले वातावरण का परिणाम थी।

धीरे-धीरे यह धारणा पनपने लगी कि आर्यसमाज हिन्दू समाज का आक्रामक दस्ता है। दुर्भाग्य से आर्यसमाज के एक बड़े वर्ग ने इस तस्वीर को सोत्साह स्वीकार कर लिया । इस चीज ने आर्यसमाज की रचनात्मक शक्ति को सोखना शुरू किया और उसका परिष्कारक तेज मंद पड़ने लगा । भारतीय जागरण के अध्वर्यु के रूप में स्वामीजी के गौरव पर परदा-सा पड़ गया और बौद्धिक वर्ग में कुछ ऐसी हवा बँधी कि स्वामीजी 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' वाली संकुचित विचारधारा के जनक थे । यह बड़ी अन्यायपूर्ण बात थी। स्वामीजी उस निचले बौद्धिक-आत्मिक धरातल के जीव नहीं थे, जहाँ धार्मिक विद्वेष की दूषित हवाएँ बहा करती हैं । बेशक धार्मिक विकृतियों के खंडन में वे बहुत उग्र भाषा का प्रयोग करते थे, मगर इस मामले में वे अपने-पराये का कोई भेद नहीं करते थे । उनके मित्रों तथा प्रशंसकों में महादेव गोविंद रानाडे, केशवचंद्र सेन, नवीनचंद्र राय, महात्मा ज्योतिबा फुले, पंडिता रमाबाई, सर सैयद अहमद और कर्नल आल्काट आदि नाना विचारधाराओं व धर्मों के व्यक्ति थे । यह याद रखने योग्य बात है कि लाहौर आर्यसमाज की स्थापना स्वामीजी ने एक मुसलमान प्रशंसक की कोठी में की थी।

सौभाग्य से स्वामीजी के संबंध में वे भ्रांतियाँ अब दूर हो गयी हैं। मगर देश के बहुसंख्यक समाज को कुरीतियों-कुसंस्कारों से मुक्त कराने का संजीवनकारी कार्य जो रुका, सो रुका ही रह गया। उसका दुष्परिणाम आज तक देश भुगत रहा है।

उन्नीसवीं सदी में भारत में आरम्भ हुए धार्मिक आन्दोलनों में आर्यसमाज सर्वाधिक व्याप्तिशील और चिरंजीवी सिद्ध हुआ । कारण, वह सर्वाधिक जीवननिष्ठ (लाइफ-एसर्टिव) था। स्वामीजी मुक्ति को परम पुरुषार्थ अवश्य मानते थे; परन्तु ऐहिक जीवन में अर्थ और काम के स्थान को वे स्वीकार करते थे । आर्यसमाज को उन्होंने निवृत्ति-मूलक मार्गी के बजाय प्रवृत्ति-मूलक संघटन का रूप दिया । स्वयं नैष्ठिक संन्यासी होते हुए भी उन्होंने आर्यसमाज के संविधान में संन्यासियों को कोई विशेषाधिकार नहीं दिलवाये, न संन्यासियों की जमात ही खड़ी की।

यद्यपि अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' के राजधर्म-प्रकरण में स्वामीजी ने मनुस्मृति का अनुसरण करते हुए 'राजा' का उल्लेख किया है किन्तु आर्यसमाज का संविधान उन्होंने सर्वथा प्रजातंत्रात्मक रखा और यह व्यवस्था की कि प्रतिवर्ष प्रत्येक आर्यसमाज के सब पदाधिकारी प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा सरल बहुमत से निर्वाचित किये जाएं । अपने लिए उन्होंने न कोई विशेष पद रखा, न अधिकार। 'समाज' के मार्गदर्शन के लिए अपना कोई उत्तराधिकारी भी उन्होंने नियुक्त नहीं किया। यह प्रजातंत्र के प्रति उनकी निष्ठा और गुरुडम से बचने की उनकी सतत तत्परता दोनों का प्रमाण है ।

स्वामीजी की देशभक्ति और स्वातंत्र्य-चेतना भारत के आधुनिक इतिहास के विद्यार्थी को विशेषतः आकृष्ट करती है । उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' (रचना सन् १८८२) में लिखा —''कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतांतर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।'' लोकमान्य तिलक का मंत्रतुल्य वाक्य ''स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है''

(स्वराज्य हा माझा जन्मसिद्ध हक्क आ है) काल की दृष्टि से इसके बाद का है । इसके अलावा, यहाँ 'स्वराज्य' शब्द से लोकमान्य को स्वशासन (होमरूल) अभिप्रेत था, न कि पूर्ण स्वराज्य जो कि स्वामीजी के 'स्वदेशी राज्य' शब्दों से ध्वनित होता है।

यह देशभक्ति आर्यसमाज को अपने प्रवर्तक से प्रसाद में मिली और आर्यसमाज ने देश को लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे जन नेता, लाला हंसराज और लाला देवराज जैसे बेजोड़ रचनात्मक कार्यकर्ता और श्यामजी कृष्णवर्मा, लाला हरदयाल, भाई परमानन्द, केसरी सिंह और प्रताप सिंह बारहट, सरदार भगतसिंह और रामप्रसाद बिस्मिल जैसे उत्कट स्वातंत्र्य-योद्धा दिये।

सन् १८५७ की उथल-पुथल में स्वामीजी की भूमिका पिछले कुछ वर्षों में आर्यसमाजियों का प्रिय चर्चा-विषय रही है । अभी इस मामले में काफी परख और पड़ताल होनी बाकी है; उसके बाद ही ऐतिहासिक तथ्य के रूप में कुछ कहा जा सकेगा । किन्तु इस संदर्भ में कुछ बातें ध्यान में रखने योग्य हैं । वैदिक धर्म के उद्धार को स्वामीजी ने अपने जीवन का मुख्य मिशन माना था और यह उन्हें अपने गुरु दंडी-स्वामी विरजानंद से मिला, जिनकी सेवा में वे पहले-पहल सन् १८६० में (३६ वर्ष की वय में) पहुँचे । स्वामीजी ने आर्यसमाज को ब्रिटिश सरकार से असहयोग करने का कोई गुप्त या प्रकट आदेश दिया हो (जैसा कि नामधारी सिक्खों के गुरु बाबा रामसिंहजी ने दिया था) ऐसा प्रमाणित नहीं होता । अन्यथा पं० गुरुदत्त, लाला लाजपतराय और लाला हंसराज जैसे स्वामीजी के निष्ठावान् तरुण भक्त डी० ए० वी० कालेज को सरकारी विश्वविद्यालय से शायद न जोड़ते और न सरकारी कर्मचारी (जिनमें कई तो ब्रिटिश हुकूमत से खिताब पाये हुए थे) आर्यसमाज के सदस्य और पदाधिकारी बन पाते। स्वामीजी के समग्र चरित्र का एक आधारभूत गुण था निर्भीक वाणी और छिपाव रहित कर्म । केवल ब्रिटिश हुकूमत के संबंध में उन्होंने कोई और नीति अपनायी होगी, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं । जाटों की किसी खाप के किन्हीं कागजों का ऐतिहासिक मूल्यांकन कराये बिना, उनमें लिखी बातों को परम प्रमाण मान लेना और उनके आधार पर स्वामीजी को १८५७ की उथल-पुथल का कारण पुरुष बताना बेकार है।

स्वामीजी का ऐतिहासिक कद धर्म-परिष्कार और समाज सुधार में उनकी महान देन के कारण है। रूस की महान क्रांति के हश्र, चीन की क्रांति की विकृति और अपने यहाँ की समग्र क्रांति की परिणति को देख लेने के बाद अब तो हमें इस भ्रांति से मुक्त हो ही जाना चाहिए कि क्रांति कोई दिव्य प्रक्रिया है, जो जादू की छड़ी घुमाकर आमूल और शाश्वत परिवर्तन कर देती है और उसकी तुलना में परिष्कार और सुधार तुच्छ चीजें हैं।

जब कोई जनसमुदाय धार्मिक मूढ़ता और अर्थहीन कर्मकांड से, सामाजिक कुरीतियों एवं वैचारिक जड़ता से अपने को मुक्त करने लगता है तब उसमें प्राणशक्ति संचित होने लगती है और उसमें तेजस्विता उदित होती है । तब वह किसी भी प्रकार के अनौचित्य और अन्याय को चाहे वह विदेशी हो या स्वदेशी सहने से इन्कार कर देता है । विश्व-इतिहास में ऐसा बार-बार हुआ है । स्वामी दयानन्द की ऐतिहासिक महिमा यह है कि उन्होंने धर्म-परिष्कार और समाज-सुधार की वह अलख जगायी, जिसने भारत के सुप्त पुरुषार्थ को जागृत किया।

महर्षि दयानन्द और उनका पुरुषार्थ दर्शन

प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

महर्षि दयानन्द वेद को परमधर्म मानते थे । वे वेद को नित्य ईश्वर का नित्य ज्ञान मानते थे। अतः उनके जीवन-दर्शन को वैदिक-दर्शन कहना ही उपयुक्त है । यदि उनके वेदोक्त दृष्टिकोण को दो शब्दों में बताने के लिये कहें तो मैं उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को 'पुरुषार्थ-दर्शन' या 'परमार्थ-दर्शन कहूँगा । श्रद्धेय पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने अपनी एक पुस्तक में महर्षि के दर्शन को बहुत मार्मिक शब्दों में बताया है :—

"He has given us a bold philosophy of life, a philosophy of the reality of God, reality of man and the realities of the universe in which man has to work. His is a philosophy of bold actions, and not of idle musings."

अर्थात् उसने हमें जीवन का एक वीरोचित दर्शन दिया है । उसने ईश्वर की वास्तविकता का, जीव की सत्ता की सत्यता का और ब्रह्माण्ड की जगत् की सच्चाइयों का दर्शन दिया है, जिसमें कि जीवों को रहना है । ऋषिवर का दर्शन वीरोचित कर्मों का दर्शन है, न कि निरर्थक चिन्तन का। मेरे विचार में इतने थोड़े शब्दों में इतनी सुन्दरता से ऋषि की दार्शनिक विचारधारा को बता पाना अति कठिन है । आचार्य पं० चमूपति जी ने भी इसी भाव को अपनी एक उर्दू कविता में इस प्रकार से लिखा है—

'है वक्त दयानन्द शजायत के धनी का' ।

पुराने आर्यसमाजी महर्षि के इसी अनूप रूप का स्मरण करते हुये अपनी प्रभात फेरियों में भावभरित हृदय से गाया करते थे—

परिव्राजकाचार्य स्वामी दयानन्द ,
पधारा है परलोक डंके बजाता ।

अर्थात् परमार्थी पुरुषार्थी, अटल ईश्वर विश्वासी ऋषि मौत को रौंदता हुआ देह का त्याग करके अमरपद को प्राप्त करता है।

पुराने आर्यसमाजी ऋषि की कर्मठता, निडरता व वीरता धीरता से प्रेरणा पाकर नगर कीर्तनों में एक उर्दू गीत की ये पंक्तियाँ झूम झूमकर गाया करते थे

खिदमते खल्क में जो कि मर जायेंगे ।
नाम दुनिया में अपना वे कर जायेंगे ।।
यह न पूछो कि मरकर किधर जायेंगे ।
वह जिधर भेज देगा उधर जायेंगे ।।

अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कालेज, अबोहर, पंजाब

ऋषि ने ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का बोध करवाते हुये वेद के आधार पर ऐसी-ऐसी सच्चाइयाँ बताई जो बहुत पुरानी-नित्य होने पर भी लोगों के लिये नूतन थीं यथा ईश्वर दयालु भी है और न्यायकारी भी । उसकी दया इसी में है कि वह सदा न्याय ही देता है। सदा न्याय देना क्या कोई साधारण दया है ? और दया व न्याय का प्रयोजन एक ही है।

ईश्वर किस पर दया करता है ? किसे न्याय देता है ? वह कब से दयालु व न्यायकारी है ? ऋषि इन प्रश्नों का उत्तर उनसे पूछते हैं जो ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं परन्तु जीव को ईश्वर द्वारा उत्पन्न या बनाया गया मानते हैं। मानना पड़ता है कि प्रभु सदा से न्यायकारी है। सदा से दयालु है । वह सदा से पालक और संचालक है । वह जीवों को सदा से न्याय दे रहा है । सदा से सबका पालन-संचालन करता है सो सिद्ध हुआ कि जीव भी सदा से है। अनादि है और नित्य है । जब वह प्रभु सदा से कर्म फल दाता है। भोगों का देने वाला है तो भोग अर्थात् प्रकृति भी सदा से है। विज्ञान भी आज घोषणा कर रहा है--

'Matter can neither be created nor it can be destroyed'

यह आर्ष घोष है । हम प्रत्यक्ष में क्या देखते हैं ? रक्तसाक्षी आर्य विचारक पं० लेखराम जी लिखते हैं कि नदियाँ सागर में गिरती हैं। सागर का जल सूर्य ने खींचा। मेघ बने और वर्षा से नदियों में जल आ गया। इसमें नयापन क्या है ? जल से बर्फ व बर्फ से जल यह क्रम चलता रहता है। कुछ भी नयी प्रकृति पैदा नहीं हुई । रात के बाद दिन और दिन के बाद रात होती है। यही पुनर्जन्म का प्रमाण है। ऋषि के साथ स्वर मिलाकर मुस्लिम कवि प्रयाग निवासी अकबर ने लिखा था—

किसी के मरने से यह न समझो ।
कि जान वापस नहीं मिलेगी ।।
वईदे शाने करीम है यह ।
किसी से लेकर के कुछ न देना ।।

अर्थात् वही जीव बारम्बार जन्म लेते हैं। नये जीव नहीं गढ़े जाते।

ऋषि ने कहा था सृष्टि-नियम विरुद्ध चमत्कार नहीं हो सकते। चमत्कार दिखाने से कोई परमेश्वर का प्यारा हो सकता है ? प्रभु का नियम प्रभु के प्यारे तोड़ेंगे ? ऋषि ने कहा 'वैदिक धर्म में बड़प्पन की कसौटी नियम-पालन है और अन्य मतों में पैगम्बर' नबी व बाबा, अवतार बनने के लिये नियम तोड़कर दिखाने पड़ते हैं । यहाँ तो समाधि तक पहुँचने के लिये यम-नियम प्रथम सीढ़ी हैं । ऋषि की वाणी व लेखनी का प्रभाव है कि सर सैय्यद अहमद खाँ व मौलाना मुहम्मद अली अपने-अपने कुरान-भाष्य में ईसा को बिना पिता के कुमारी मरियम से पैदा हुआ नहीं मानते । चाँद के दो टुकड़े होना भी नहीं मानते । इस्लाम के इस वैदिक रंग का स्वागत सबको करना चाहिये।

ऋषि से पूर्व अपने को आस्तिक कहने वाले लोग 'ईश्वर को ऊपर' मानते थे। आज भी पढ़े लिखे लोग, अध्यापक, प्राध्यापक और राजनेता यह कहते सुने जाते हैं 'ऊपर वाला तो देख रहा है।' ऋषि ने अनेक वेद ऋचाओं के प्रमाण देकर प्रभु की सर्वव्यापकता पर बल दिया । वेद का घोष है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।

वह प्रभु हर मन में है, हर जन में है, हर कण में है, हर दिशा में है, वह हमारे आमने सामने है।

यह बात ऋषि के ग्रन्थों की ठण्डी छाया में सर सैय्यद अहमद खाँ ने लिखी है कि 'अल्लाह चाहे भी तो हमें नहीं छोड़ सकता ।' यह कथन विशुद्ध आर्यसमाजी है। ईश्वर हमारे भीतर है और हम उसके भीतर हैं।

स्वामी सत्य प्रकाश का (ऋषि दयानन्द के) वेदोक्त दृष्टिकोण विषयक कथन की मुझे रह-रहकर याद आती है—जीव भी कर्त्ता है और परमात्मा भी कर्ता है । दोनों की कारीगरी में एक मुख्य भेद यह है कि जीव अपनी कारीगरी को तज देता है। साथ रह ही नहीं सकता परन्तु परमेश्वर अपनी कारीगरी को छोड़ ही नहीं सकता। कैसे ?

क्या टाटा अपने गार्ड के साथ है ? क्या बाटा अपने बूटों के साथ जाता है ? क्या घड़ी को बनाने वाला, धोती निर्माता व साइकिल निर्माता हर घड़ी, हर धोती व हर साइकिल के साथ है ? वह कहाँ-कहाँ जा सकता है ? परन्तु परमेश्वर नदियों में है, पर्वतों पर है, वृक्षों में है, हाथी में है, मुझ में व आप सबमें है । आस्तिक कहाने वाले डरते हैं फिर तो संडास में, प्रभु का निवास मानना पड़ेगा। हाँ ? वह वहाँ भी है। तो क्या उसे दुर्गंधि नहीं सताती ? ऋषि का उत्तर है, नहीं। कारण उसका नाक ही नहीं और अपने पेट के भीतर के मल मूत्र की दुर्गंधि किसको आती है ? जगत् भी प्रभु के अन्दर है सो दुर्गंधि तो बाहर से आ सकती है। कैसा अनूठा दिव्य दर्शन दिया है ऋषि दयानन्द ने।

कुछ लोगों की रट थी जो कुछ करता है ईश्वर ही करता है। एक पंक्ति भक्त लोग गाया करते हैं —

तेरी आज्ञा के बिना हे प्रभु मंगल मूल ।
पत्ता तक हिलता नहीं खिले न कोई फूल ।।

पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय कहा करते थे प्रभु रचयिता तो है परन्तु यह कहना कि उसकी आज्ञा के बिना पत्ता तक नहीं हिलता, सत्य नहीं । वे कहा करते थे ''पत्ता हिलता है या नहीं, झूठे की वाणी तो प्रभु की आज्ञा के बिना भी चलती ही रहती है ।'' ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ ऋषि ने आकर दूर कीं।

सबसे बड़ी भ्रान्ति जो ऋषि ने दूर की वह यह थी कि सद्ज्ञान का जन्म नहीं होता। दो और दो चार होते हैं । आग जलाती है और जल गलाता है । गणित के, भूगोल के, रसायन के, भौतिकीशास्त्र के सब सिद्धान्त नित्य हैं। ये नियम कब बने? किसने बनाये ? उत्तर स्पष्ट है कि ये सदा से हैं, सदा रहेंगे । यह न घिसेंगे और न मिटेंगे और न बदलेंगे । मोटर के, घड़ी के व गाड़ी के, पाजामे तथा कुर्ते के नमूने बदलते रहते हैं। विमान व जलयान बदलते रहते हैं परन्तु सूर्य, चाँद, धरती, जल, अग्नि किसी का नमूना पुराना हुआ ? कोई इनमें से घिसा क्या ? मनुष्य, बन्दर, गाय, हाथी इनकी आकृतियाँ बदली क्या ? क्यों इनमें फेरबदल नहीं होता ?

इसलिये कि प्रभु पूर्ण हैं । पूर्ण प्रभु के सब काम निर्दोष व पूर्ण ही होते हैं। उस प्रभु ने जीव के लिये अन्न, जल, आग, प्रकाश, वायु, वनस्पतियाँ सब दे दीं तो क्या इनके प्रयोग की विधि, इनके उपभोग का ज्ञान सृष्टि रचकर नहीं दिया ?

महर्षि दयानन्द का सिंहनाद है कि उस दयालु सर्वज्ञ प्रभु ने अवश्य अपना सद्ज्ञान नित्य वेद भी दिया । जब चर्मचक्षु, दिये साथ सूर्य भी दिया, फिर बुद्धि रूपी आँख के लिये क्या ज्ञानभानु नहीं दिया । विधाता ने वेद का प्रकाश दिया । वेद निर्दोष है, वेद पूर्ण है और वेद में परिवर्तन सम्भव नहीं। सूर्य, चाँद व धरती को कभी कार्यशाला में नहीं भेजा जाता। मनुष्य की मशीनें और मानव की कारीगरी ही मरम्मत माँगती है। परमेश्वर का अमरज्ञान इस सृष्टि में व प्रलय की बाद की सृष्टि में भी जीवों का इसी प्रकार से कल्याण करता रहेगा। यह ऋषि की बहुत बड़ी देन है।

महर्षि दयानन्द का जीवन-दर्शन एवं योगदान

डॉ० किरण टण्डन

आर्यसमाज के प्रतिष्ठापक, महर्षि दयानन्द सरस्वती के महनीय जीवनचरित से न केवल आर्यसमाजी ही परिचित हैं अपितु भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों के भी प्रबुद्ध मनीषी पूर्णतः परिचित हैं । भारतरत्न स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म भारतवर्ष के काठियावाड़ प्रान्त में निवास करने वाले पण्डित अम्बाशङ्कर की पतिव्रता सहधर्मिणी के गर्भ से विक्रम संवत् 1881 भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की नवमी तिथि, मूलनक्षत्र, प्रीतियोग में तथा बृहस्पतिवार के दिन मध्याह्न के समय हुआ।

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण होता है; और महापुरुषों का जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण उन्हें मानव समाज में सर्वोपरि स्थान पर आसीन करा देता है । समाज का प्रत्येक सदस्य उसके बताए हुए आदर्शों को अपने जीवन में उतारना चाहता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी एक ऐसे महापुरुष थे, जिनका जीवन-दर्शन सभी भारतवासियों के लिए अनुकरणीय है और जिनके योगदान को इतिहास का विषय माना गया है । प्रस्तुत शोधपत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऐसे ही उत्कृष्ट जीवन-दर्शन तथा विभिन्न क्षेत्रों में योगदान को प्रस्तुत किया जा रहा है—

समाज

स्वामीदयानन्द जी एक ऐसे समाज को पसन्द करते थे, जिसमें रहने वाले व्यक्तियों में शिष्टता, मानवता, सदाचार तथा धर्म के प्रति अटूट आस्था हो, उनमें भारतीय शिक्षा, सभ्यता एवं संस्कृति के लिए असीम अनुराग हो; सभी व्यक्ति अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन निष्ठापूर्वक करें; वेदों एवं ऋषियों के वचनों पर पूर्ण विश्वास करने वाले हों; सत्य भाषण के ही अभ्यासी हों। अपने इसी दृष्टिकोण को मूर्त रूप देने के लिए तथा समाज सुधार की दृष्टि से ही उन्होंने भारत के अनेक नगरों में आर्यसमाज की स्थापना की[1] एवं लोक कल्याणार्थ आर्यसमाज के दस नियम भी बनाए जो अधोलिखित हैं—

(१) सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर, सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

(३) वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

(४) सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

(६) संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

रीडर, संस्कृत-विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

(७) सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए।

(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।[2]

इसके बाद समाज को शिक्षित करने के उद्देश्य से उन्होंने बालक और बालिकाओं के लिए ऐसी पाठशालाएँ खुलवाई जिनमें आर्ष ग्रन्थों एवं वेदों की शिक्षा को विशेष स्थान प्राप्त था ।[3]

महर्षि दयानन्द को एक पत्नीव्रती तथा अपनी पत्नी को सन्तुष्ट करने वाले पुरुष ही अभीष्ट हैं ।[4]

संस्कृति

जिस समय स्वामी दयानन्द जी अवतरित हुए, उस समय भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ह्रास हो रहा था। एतदर्थ उन्होंने अपना घर छोड़ कर इसकी रक्षा का बीड़ा उठाया —

यस्तत्याज गृहञ्च वैभव-भृतं, स्निग्धं कुटुम्बं क्षणा-
दामृत्योर्वदनञ्च यस्य पितरौ, नो दृष्टवन्तौ क्वचित् ।
नित्यं यः प्रविहाय मोहमखिलं, राष्ट्रस्य भवतो रतो ,
यस्यानन्द इयाय नाम्नि परतां, पूर्वा दयैवाभवत् ।।

यज्ञेश्वर शास्त्री, भारतराष्ट्ररत्नम्, राष्ट्रवादी दयानन्दः, ३२

हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के प्रति स्वामी जी की दृढ़ आस्था थी । हिन्दू धर्म की प्रचलित बुराइयों को दूर करना उनका ध्येय था । उन्होंने मूर्तिपूजा, जातिप्रथा, छुआछूत आदि का प्रबल विरोध किया ।[5] उनका मत था कि मूर्तिपूजा की अपेक्षा माता-पिता एवं गुरुजनों की पूजा करना ही श्रेयस्कर है और विविध विद्याओं से सम्पन्न ऋषि एवं गुरु ही तीर्थ हैं।[6]

ईश्वर, वेद, वाग्देवी सरस्वती, संस्कृत-भाषा, मातृभूमि, अपने गुरु स्वामी विरजानन्द सरस्वती के प्रति स्वामी जी की अगाध श्रद्धा थी (मेधाव्रत, दयानन्द दिग्विजय ११।२०-७५)। वह वेद चतुष्टय, उपवेद चतुष्टय, षड्वेदांग, षड् उपाङ्ग एवं मनुस्मृति को ही प्रमाणस्वरूप स्वीकार करते थे (वही, १८।३५)। संस्कृत भाषा के प्रति वह पूर्णरूपेण समर्पित थे (वही, २०।४२, ४६, ४७; २३।८३)।

स्वामी जी गोवध को अनुचित और अधार्मिक मानते थे, उन्होंने गोरक्षा के लिए भी अथक प्रयत्न किए, एतदर्थ उन्होंने अँग्रेज शासकों से अनेक बार वाद-विवाद भी किया।[7] वह जड़पूजा, ईश्वर की उत्पत्ति, मृतक-श्राद्ध, तीर्थस्थान, तिलक आदि के भी प्रबल विरोधी थे।[8]

स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय नारी की दुर्दशा से अत्यन्त दुःखित थे—

अथ स्त्रियं कामपि पुत्रकं स्वं, नग्नं मृतं वारिणि मोचयन्तीम् ।
निरीक्ष्य दीनां रुदतीं सशोकां, खिद्यन् दयानन्द इदं बभाषे ।।
हा भारतीये वसुधे ! गतं ते, लोकातिशायि क्व नु वैभवं तत् ।
स्वर्वासिनोऽपि स्पृहयन्ति यस्मै, पटं मृतायाद्य न हा ! ददासि ।।

यज्ञेश्वर शास्त्री, भारतराष्ट्ररत्नम्, राष्ट्रवादी दयानन्द, १८, १९

वे नारियों के संरक्षण एवं उद्धार के लिए प्रयत्न करते रहे और उपदेशामृत से उन्हें सन्मार्ग पर लाने का सत्प्रयास भी करते रहे—

निजार्यजातेस्तनुजादशाऽधुना
नितान्तशोच्या शुभशिक्षणं विना ।
कुरीतिकेल्या ललना महालयं
न भान्ति वत्से ? जननीपदं गताः ।।

मेधाव्रत, द० दि०, १३।६६

महर्षि दयानन्द सरस्वती गुरुकुल में जाकर शिक्षा ग्रहण करने को सर्वाधिक प्रश्रय प्रदान करते थे और शिक्षा-प्राप्ति के पश्चात् गुरुदक्षिणा देने के विधान को मानते थे ।[9] महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा) से सम्बद्ध झज्झर गुरुकुल उनकी इसी मान्यता का प्रतीक है तथा संस्कृत भाषा के महत्त्व का उद्घोषक है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय मर्यादा के प्रतीक हिन्दू धर्म में मान्य प्रमुख षोडश संस्कारों को भी मानते थे । अपनी इस मान्यता को मूर्तरूप देने के लिए ही उन्होंने 'संस्कारविधि;' नामक ग्रन्थरत्न प्रस्तुत किया। वह त्याग भावना के पोषक ब्रह्मचर्याश्रम एवं संन्यास आश्रमों के प्रति भी आस्थावान् थे।[10]

राजनीति

स्वामीदयानन्द सरस्वती ने वेदों में वर्णित तथा मनुप्रोक्त राजनीति को अपनाने की ही शिक्षा प्रशासकों को दी है । इसके लिए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश नामक अपने ग्रन्थ में राजधर्म विषय, सभात्रय कथन, राजा के लक्षण, दण्डव्यवस्था, राजा के कर्तव्य, व्यसनों से दूर रहना, मन्त्री-दूतादि राजपुरुषों के लक्षण, दुर्गनिर्माण, युद्ध के प्रकार, राजा द्वारा प्रजा की रक्षा, करग्रहण, मन्त्रणा, षाड्गुण्य, मित्र, शत्रु के प्रकार, न्यायालय और वाद-विवाद की विधि तथा विषय आदि का वर्णन वेदसम्मत तथा मनुसम्मत ही किया है।[11]

देशभक्ति

देशवासियों को मनुसम्मत तथा वेदसम्मत कार्य करने का उपदेश देना तथा राष्ट्रहित के लिए विभिन्न नगरों में जाकर लोगों को धर्मविरोधी तत्त्वों से सावधान करना स्वामी जी की देशभक्ति का ही प्रतीक है।[12] देशकल्याण एवं राष्ट्रोन्नति के लिए उन्होंने एक धर्म, एक भाषा तथा एक लक्ष्य के सूत्र को अपनाने की प्रेरणा दी है।[13]

वेदों के प्रचार से रूढ़िवादिता को दूर करना, जन्मभूमि के प्रति प्रेम, संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के सेवन का ही उपदेश देना, स्वराज्यभावना, स्त्रीशिक्षा, गोरक्षा, अछूतोद्धार, दयाभावना, राष्ट्र को निर्धनता से बचाने की चिन्ता, अन्नोत्पादन की चिन्ता, प्राचीन वाणिज्य व्यापार प्रणाली की समाप्ति एवं यान्त्रिकता की चिन्ता, पराधीनता का दुःख आदि तथ्य भी उनकी देशभक्तिभावना के ही प्रतीक हैं (यज्ञेश्वरशास्त्री, भारतराष्ट्रत्नम्, राष्ट्रवादी दयानन्दः)।

धर्म

महर्षि दयानन्द एक महान् सनातन वैदिक धर्म प्रचारक हैं । वैदिक धर्म का प्रचार एवं आर्यजनों की उन्नति के लिए वेदमन्त्रों द्वारा ईश्वर की स्तुति करना आदि कार्यों से उनकी धार्मिकता परिलक्षित होती है।[14]

काशी पहुँचकर भगवान् विश्वनाथ की प्रार्थना करते समय उन्हें महेश, दयालु, निर्मल, अजर, निर्विकार, सर्वाधार तथा विजयप्रद परमेश्वर आदि नामों से सम्बोधित करना भी उनकी धार्मिकता का द्योतक है।[15] उन्होंने यज्ञशालाओं का नवनिर्माण करवाकर उनमें वैदिक विधि से यज्ञ करवाना प्रारम्भ किया।[16]

दर्शन

महर्षि दयानन्द ने जीवात्मा, परमात्मा, तथा पुनर्जन्म के विषय में बताया है कि जीवात्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, उसमें आना तथा जाना स्वाभाविक है; क्योंकि जीव चेतन एवं चञ्चल होता है । यह अजर-अमर जीवात्मा आवागमन के चक्र में माया के द्वारा बँधा रहता है। उसका किसी न किसी समय छुटकारा होना आवश्यक है । इतना ही नहीं मुक्त जीवात्मा पुनः बँधता भी है । जिस प्रकार मनुष्य नए वस्त्र धारण करने के लिए अतीव उत्सुकता के साथ पुराने वस्त्रों का त्याग करता है, ठीक उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर में प्रविष्ट होने के लिए सदा तत्पर रहता है । फलस्वरूप अवतार भी कर्मों के अनुसार जीवात्मा का होता है, ईश्वर का नहीं । क्योंकि जिस ईश्वर को वेद अकाय, अव्रत कहते हैं, वह अवतरित कैसे हो सकता है। सम्पूर्ण शक्तिमान् ईश्वर यदि एक शरीर में आकर बैठ जाए तो इस जगत् का भरण-पोषण कौन करेगा ? ईश्वर तो कर्म-बन्धनों से रहित होता है, जीव को ही अपने किए गए शुभाशुभ कर्मों का फल निश्चय ही भोगना पड़ता है।

स्वामी दयानन्द जी ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को अनादि मानते हैं। उनके मत में हृदय ही मन्दिर है, ईश्वर आकाश के समान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक है, उसकी अनन्त शक्तियाँ सब ओर फैली हुई हैं, वह अजन्मा, महान् इन्द्र योगयुक्त आत्मा से ही अनुभव करने योग्य है। अतः उपासक को चाहिए कि वह इन्द्रियगण और इनके स्वामी मन को आत्मा में लीन करके योगकला से परमात्मा का साक्षात्कार कर आत्मा के संगतिजन्य आनन्द को भोगे; वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अमर ईश्वर आकाश से भी बड़ा है और परमाणु से भी अतिरिक्त है; वह निराकार, अनादि, उज्ज्वल स्वरूप है। उस हृदयस्थ ब्रह्म की उपासना आत्मा द्वारा की जानी चाहिए।[17]

स्वामी दयानन्द जी का योगदान

स्वामी दयानन्द जी ने भारत, भारतीयता, भारतीय समाज एवं संस्कृति के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हुए भारतीयों के लिए जो सक्रिय योगदान किया, वह भारत के इतिहास की अपूर्व निधि है । उनके योगदान के प्रमुख प्रमाण इस प्रकार प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(क) स्वामी जी ने उदयपुर में एक परोपकारिणी सभा की प्रतिष्ठा की, जिसके सभापति राणा सज्जनसिंह जी थे, इसके अन्य २२ सदस्य भी चरित्रवान्, सनातनधर्म के परमपोषक और वैदिक विधि के अनुसार आचरण करने वाले थे। इस सभा का उद्देश्य था परमधर्म एवं परमार्थ।[18]

(ख) समाज-सुधार आन्दोलन की श्रृंखला में 'आर्यसमाज' की स्थापना का महत्त्वपूर्ण स्थान है । आज भारत में अनेक नगरों में 'आर्यसमाज मन्दिर' विद्यमान हैं । किन्तु स्वामी जी ने इसका सूत्रपात सन् १८७५ ई० में बम्बई में प्रथम आर्यसमाज की स्थापना करके किया था।[19] इसके बाद भारत के अनेक नगरों में यथा-अमृतसर गुरदासपुर आदि में भी आर्यसमाज मन्दिरों की स्थापना की गई।[20]

(ग) समाज को शिक्षित करने के उद्देश्य से उन्होंने वेदों की शिक्षा देने वाली पाठशालाएँ खुलवाने का निर्णय लिया और इसका श्रीगणेश फर्रुखाबाद में पाठशाला खुलवाकर किया । इसके बाद कासगंज, मिर्जापुर आदि स्थानों में भी अनेक पाठशालाएँ खुलवाई। सन् १८६३ में दिसम्बर माह में स्वामी जी ने काशी में भी सत्यशास्त्र नामक पाठशाला खुलवाई।[21]

(घ) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारत के उद्धार हेतु ग्रन्थरचना रूप योगदान भी किया । उनके द्वारा रचे गए प्रमुख ग्रन्थ अधोलिखित हैं—

ऋग्वेदभाष्य — ऋषि ने इस भाष्य को प्राचीन आर्य शैली के अनुसार प्रस्तुत किया है । इसमें निघण्टु, निरुक्त, अष्टाध्यायी आदि आर्ष ग्रन्थों के आधार पर ऋग्वेद के सत्य-अर्थ का प्रतिपादन अत्यधिक उत्तम ढंग से प्रकट किया गया है। यह भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में है।

यजुर्वेदभाष्य — यह भाष्य भी महर्षि ने आर्य शैली के अनुसार संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया है।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका — इस ग्रन्थ में वेद प्रतिपाद्य ६० विषयों को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ को भी संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

सत्यार्थ प्रकाश — यह ग्रन्थ महर्षि दयानन्द की अद्भुत कृति है। इसमें चौदह समुल्लास हैं। सत्यार्थप्रकाश में वेदों एवं मनुस्मृति का समस्त सार प्रस्तुत किया गया है । शिक्षा, वर्णाश्रम, संस्कार, राजनीति, ईश्वर, सृष्टि प्रक्रिया, मत-मतान्तरों की समीक्षा आदि का वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

संस्कारविधि — महर्षि द्वारा इस ग्रन्थ में गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक भारतीय संस्कृति में मान्य संस्कारों की विस्तृत विधि एवं महत्त्व बताया गया है।

पञ्चमहायज्ञविधि — इस ग्रन्थरत्न में गृहस्थ व्यक्ति के द्वारा प्रतिदिन करने योग्य-ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ तथा बलि वैश्वदेव यज्ञ - इन पञ्चमहायज्ञों की विधि समझाई गई है।

आर्याभिविनय — इसमें सौ मन्त्र हैं, जिनके माध्यम से ऋषि ने आर्यों को ईश्वर की प्रार्थना करने की विधि समझाई है।

गोकरुणानिधि — इस ग्रन्थ में वेदमन्त्रों द्वारा अहिंसा के महत्त्व को प्रदर्शित किया गया है एवं यज्ञादि में गोहिंसा का खण्डन किया गया है।

आर्योद्देश्यरत्नमाला—आर्यजनों के जीवन के उद्देश्य को लेकर इस ग्रन्थ-रत्न की रचना की गई है।

भ्रमोच्छेदन —काशी के विद्वानों का भ्रम निवारण करने के लिए भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ की रचना की है।

भ्रान्तिनिवारण —महर्षि ने कलकत्ता के विद्वानों के भी पौराणिक मतों का खण्डन करके उनके भ्रम का निवारण इस ग्रन्थ के माध्यम से किया है।

संस्कृतवाक्यप्रबोध — संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से इस ग्रन्थ की संरचना की गयी है।

व्यवहारभानु — जगद्-व्यवहार में निमग्न मनुष्यों के लिए पदार्थ ज्ञान किस प्रकार हो, यही सोचकर महर्षि ने 'व्यवहारभानु' नामक एक ग्रन्थ बनाया।

वेद-विरुद्ध-मत-खण्डन — स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतीयों में व्याप्त वेदबाह्य प्रवृत्ति को देखकर उसके खण्डन के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है।

स्वामिनारायण मत-खण्डन —— गुजरात में स्वामिनारायण मत प्रसारित हो रहा था, यह मत भी वेद विरुद्ध था, इसलिए इस मत का खण्डन करने के लिए महर्षि ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया।[22]

उपर्युक्त विवेचन को देखने से सुस्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ऐसे महापुरुष हैं, जिन्होंने संसार के उपकारार्थ मोक्ष की भी इच्छा नहीं की; वेद-विरोधियों का खण्डन किया, वेदानुरागियों को रक्षा-सुरक्षा प्रदान की; गुरुकुल अनाथालयों का संरक्षण, बाल-विधवा-उन्मूलन, विधवोद्धार आदि लोकोपकारी कार्यों को सम्पन्न किया; आर्यसमाज नामक संस्था की प्रतिष्ठा की; तथा ग्रन्थ रत्नों की रचना की।

अन्त में मैं नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा दयानन्द जी के विषय में प्रस्तुत विचारों को लिखते हुए भारतरत्न स्वामी दयानन्द सरस्वती को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हूँ—

''महर्षि दयानन्द सरस्वती उन महापुरुषों में से थे, जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण किया और जो इसके आचार-सम्बन्धी पुनरुत्थान तथा धार्मिक पुनरुद्धार के उत्तरदाता है । हिन्दू समाज का उद्धार करने में 'आर्यसमाज' का बहुत बड़ा हाथ है । स्वामी दयानन्द को मैं एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हूँ । संगठन कार्यों में सामर्थ्य और प्रसार की दृष्टि से आर्यसमाज अनुपम संस्था है।''

सन्दर्भ सङ्केत

1. अखिलानन्द शर्म प्रणीत दयानन्द दिग्विजयम्, 6/66, 99, 7/102, 111, 145, 11/12.
2. क- सत्यार्थ प्रकाश, पृ० 429.
   ख- अखिलानन्द शर्म प्रणीत दयानन्ददिग्विजयम्, 11/82-97
3. अ० श०, दयानन्द दिग्विजयम्, 1/20-21, 24-28
4. वही, 18/34-35
5. क- मेधाव्रतप्रणीत, दयानन्द दिग्विजयम्, 14/24-25, 33-36, 41, 131-133, 20/45
   ख- श्रीनेत्र पाण्डेय, भारत का सरल इतिहास, पृ० 432-433
6. क- अ० श० दयानन्द दिग्विजयम्, 1/25-31, 37
   ख- मेधाव्रत, दयानन्द दिग्विजयम्, 14/37; 15/66-67
7. मेधाव्रत, दयानन्द दिग्विजयम्, 12/28-29, 20/65-66
8. वही, 12/96-97; 14/3; 20/73
9. क- अ० श०, द० दि०, 3/2, 7-12, 30-38, 71-73,
   ख- मे० द० दि०, 11/76; 12/55
10. अ० श०, द० दि०, 2/68, 69; 3/1, 5, 14, 23; 8/34-36
11. क- सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास 6
    ख- अ० श० द० दि०, 8/37, 14/200-214, 15/23
12. अ० श० द० दि०, 8/72-74
13. मेधाव्रत, द० दि०, 25/53
14. अ० श०, द० दि०, सर्ग 2, 4/2

15. वही, 6/102
16. वही, 6/8; 7/73; 14/187
17. सत्यार्थप्रकाश, उल्लास 7; अ० श० द० दि० 8/31-44; 14/72-75, 82-91; मेधा०, द० दि० 15/32, 33, 23/42
18. क- अ० श० द० दि०, 15/79-80; 16/1-45

    ख- रविदत्त गौतम, देवर्षि दयानन्द चरितम्, पृ० 175-176

    ग- आचार्य भगवानदेव, महर्षि दयानन्द, पृ० 99-100
19. क- सामान्य विज्ञान-धर्मसुधार तथा समाजसुधार आन्दोलन पृ० 254

    ख- अ० श०, द० दि०, 11/80-81

    ग- मेधाव्रत, द० दि० 22/16-18
20. मेधाव्रत, द० दि०, 24/8, 9
21. क- आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 220-221

    ख- मेधाव्रत, द० दि० 20/67

    ग- रविदत्त गौतम महर्षि दयानन्द चरितम्, पृ० 83
22. क- आचार्य भगवानदेव, 129-130

    ख- अ० श०, द० दि०, अष्टम सर्ग

    ग- मेधा० द० दि० 20/69; 21/38, 39, 40; 22/83; 24/1; 25/8

महर्षि दयानन्द तथा युवावर्ग

डॉ० शान्ति देवबाला

एक राष्ट्र के सफल संचालन अथवा समाज की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में युवा वर्ग की क्या भूमिका हो, इस प्रश्न को लेकर पिछले दो तीन दशकों में काफी चिन्तन मनन हुआ है। पाश्चात्य विचारकों में सार्त्र तथा हरबर्ट मारक्यूज का नाम इस संदर्भ में विशेष रूप से उभरकर आता है। साम्यवादी देशों में, नव वामवाद का नया आन्दोलन युवाशक्ति का विशेष उपयोग करने का ही आन्दोलन है। विकासशील देशों में लातीनी अमेरिका में चेग्वेवारा युवाशक्ति का प्रतीक बनकर उभरा। आज विश्व के समस्त देशों में युवाशक्ति का नारा विशेष रूप से बुलन्द हो रहा है । भारत में श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में युवावर्ग का आह्वान समग्र क्रान्ति के लिए किया गया था। आज विश्व के सभी देशों में राजनीतिक दलों का अपना युवामंच अवश्य होता है। जिस प्रकार नारीमुक्ति आन्दोलन आज विश्वव्यापी बन गया है उसी प्रकार युवाशक्ति का संगठन किया जा सके इसके लिए विश्व के सभी देश अत्यन्त जागरूक हो उठे हैं। आज के विश्व के मानवसमाज के सम्मुख एक बड़ा प्रश्न है कि युवाशक्ति का उपयोग किस प्रकार राष्ट्रनिर्माण में किया जाए। विश्व के सभी देशों में युवावर्ग भी अपनी संगठित-शक्ति के प्रति जागरुक हो उठा है। परन्तु युवापीढ़ी स्पष्ट रूप से नैतिक पक्ष के लिए ही अपनी शक्ति का प्रयोग कर रही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

दोनों पाश्चात्य संस्कृतियाँ चाहे वह पूँजीवाद हो अथवा साम्यवाद, हिंसा तथा संघर्ष के माडल पर आधारित हैं। सार्त्र और मारक्यूज जिन्होंने युवाशक्ति के उपयोग पर विशेष बल दिया है, दोनों ही हिंसा की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं - सार्त्र तो हिंसा को गौरवान्वित करता है क्योंकि उसके मत में हिंसा के प्रयोग से पद-दलित व्यक्ति में आत्मविश्वास आता है। मारक्यूज यद्यपि स्नेह और आत्मीयता को जीवन का सबसे प्रभावशाली तत्त्व मानता है तथापि वह भी हिंसा को अनिवार्य मानता है। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों के सामाजिक जीवन में हिंसा का विस्फोट अधिकाधिक होता जा रहा है। इसी प्रकार अफ्रीका, लातीनी अमेरिका तथा एशियाई देशों में भी सामाजिक जीवन में हिंसा का प्रकोप बढ़ता ही जा रहा है। सोरोकिन जैसा समाजशास्त्री तो स्पष्ट कहता है कि पाश्चात्य संस्कृति तो हिंसा की अंधी गली में मुड़ गई है। इसलिए विश्व या मानव-जाति को अपनी रक्षा के लिए हिंसा के माडल को छोड़कर पूर्वी देशों विशेषकर भारतीय-चिन्तन में जो सामाजिक जीवन का अहिंसात्मक माडल विकसित हुआ है - उसमें से आज की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना पड़ेगा। इस दृष्टि से देखा जाए कि स्वामी दयानन्द के इस समस्या पर क्या विचार हैं। यों तो युवाशक्ति का आन्दोलन स्वामी दयानन्द के बहुत बाद ही चला है - अतः स्वामी दयानन्द ने इस प्रश्न को इसी रूप में तो नहीं लिया है तथापि उनके जीवनदर्शन को आधार मानकर उसमें जीवन तथा समाज की सब समस्याओं के समाधान के वैचारिक बीज स्पष्ट खोजे जा सकते हैं। उन्होंने वैदिक संस्कृति के सम्पूर्ण जीवनदर्शन का एक पूरा का पूरा माडल ही हमारे सामने रख दिया है। सदियों की परतन्त्रता के बाद अपनी संस्कृति का एक गवाक्ष ही खोल दिया है। अँग्रेज शासक भारत में इस बात के लिये बहुत सतर्क थे कि इतनी पुरानी संस्कृति वाली इस हिन्दू जाति पर तब तक शासन करना कठिन होगा जब तक इसे

प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

आत्मविस्मरण नहीं हो जाता। अतः हिन्दू जाति को आत्मविस्मृत करने का सुनियोजित प्रयास किया गया। यह वैचारिक सम्भ्रम बार-बार प्रतिपादित किया गया कि हिन्दुओं में राष्ट्र, राज्य, अधिकार, कर्तव्य, शासन, न्याय-प्रणाली, स्वतंत्रता अथवा स्वराज्य की कोई स्पष्ट मान्यता नहीं है । स्वामी दयानन्द पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इस वैचारिक सम्भ्रम को चुनौती देते हुए स्पष्ट किया कि राज्य, राष्ट्र, धर्म, न्याय, दण्ड, प्रजातंत्र, राजधर्म व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों पर हमारी विशिष्ट संकल्पनायें हैं। उनके मतानुसार—

राष्ट्र की हमारी विशिष्ट संकल्पना है— राष्ट्रदेवता की उपासना के अनेक मन्त्र यजुर्वेद में से उन्होंने स्पष्ट किए हैं। यजुर्वेद भाष्य के अनेक मन्त्रों से उन्होंने स्पष्ट किया कि राष्ट्र मानवमात्र के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। राष्ट्र समाज की चिति अथवा सामूहिक चेतना है । राष्ट्र सामाजिक राजनीतिक आत्मा का देह प्रतीक है। जिस प्रकार व्यक्ति को अपनी आत्मा के प्रति गहरा स्नेह होता है उसी प्रकार राष्ट्र के प्रति भी उसका गहरा भावात्मक लगाव होता है।

यजुर्वेद के दसवें अध्याय के तीसरे और चौथे मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्र के विकास में व्यक्ति का क्या योगदान हो - इन दोनों मन्त्रों में स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्र को सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति अपने सर्वश्रेष्ठ गुण अर्पित करे। सत्य नीति से संचालित होकर पुरुषगण अपना पौरुष, पराक्रम और रक्षा में समर्थ युवा वर्ग अपना सम्पूर्ण सामर्थ्य तथा श्रेष्ठ व्यक्ति अपनी विद्या, बल तथा पराक्रम राष्ट्र को अर्पित करे। सूर्य के समान तेजस्विनी नारियों का तेज राष्ट्र को अर्पित हो। निःसन्देह एक शक्तिशाली राष्ट्र की रचना में पुरुषों का पौरुष, नारियों का तेजोमय संयम और युवकों की सामर्थ्य लगनी ही चाहिए।

राष्ट्र के निर्माण तथा संचालन में पीढ़ियों का योगदान क्या हो इस विषय पर भिन्न-भिन्न संदर्भों में स्वामी दयानन्द द्वारा व्यक्त किए गये विचारों को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है। स्पष्ट रूप से दयानन्द दो पीढ़ियों के बीच के अन्तराल-जेनरेशन गैप को वैमनस्य के स्थान पर सौमनस्य से भरना चाहते हैं। राष्ट्र के संचालन में पितरों की विशेष भूमिका है। स्वामी दयानन्द की व्याख्या के अनुसार पितर वे व्यक्ति हैं जिन्हें संसार का व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव है। पितर वे अनुभवी व्यक्ति हैं जिन्हें शासन, न्याय-क्षेत्र, राजनय जैसी व्यावहारिक समस्याओं के संचालन में विशेष कुशलता है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में पितरों के इस पक्ष पर उन्होंने प्रकाश डाला है।

पितरों के अनुभव का सम्मानपूर्वक लाभ युवावर्ग को उठाना है पर स्वामी दयानन्द के अनुसार राष्ट्र तथा समाज के संचालन में विशेष भूमिका युवावर्ग की ही रहनी चाहिए। स्वामी दयानन्द ने निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार अठारह वर्ष में ही दे दिया है। पच्चीस वर्ष तक विद्यार्थी के रूप में तरुण गुरुकुल में रहकर अध्ययन करे, गुरुकुल की काफी व्यवस्था इस तरुण वर्ग के हाथ में होगी। सत्यार्थप्रकाश में यह भाव बिल्कुल स्पष्ट है कि जब शिक्षा समाप्त करके स्नातक या स्नातिका घर लौटें तो अपने ही पुत्र या पुत्री का पूरा आदर करना चाहिए, उन्हें आत्मीय स्नेह के साथ सम्मान देना चाहिए, उनके व्यक्तित्व का आदर करना चाहिए। वैसे भी इसी ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि माता-पिता को अपने बच्चों से लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहिए और जब वह पूरी शिक्षा प्राप्त करके घर आयें तब तो उनका पूरा आदर करना चाहिए। युवा हो या युवती उन्हें अपना जीवनसाथी चुनने का पूरा अधिकार है, इसमें उनका पूर्ण निर्णय होगा। तरुण युवती को तो यह अधिकार सोलह वर्ष में ही मिल जाएगा। स्वामी दयानन्द अकेले ही आचार्य हैं जिन्होंने युवावर्ग को यह अधिकार इतनी दृढ़ स्पष्टता के साथ दिया है। युवा व्यक्तित्व का इतना सम्मान और किसी विचारक ने नहीं किया है।

वेदों का साक्ष्य देते हुए जिस समाज-संगठन और जीवन-पद्धति की जो रूपरेखा उन्होंने दी है उसमें युवावर्ग विशेष रूप से सक्रिय रहता है। जब पुत्र का पुत्र हो जाए तो माता पिता को संसार के सक्रिय कार्य क्षेत्र से हट जाने का विधान है। समाज के सक्रिय कार्यकलाप से निवृत्त होकर पिता को पुत्र को तथा सास को बहू को पूरा उत्तरदायित्व सौंप देना चाहिए।

आश्रम व्यवस्था की जिस संकल्पना को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न दयानन्द ने किया है उसमें युवापीढ़ी को पूरा उत्तरदायित्व वहन करना होगा। इस प्रकार राष्ट्र तथा समाज का संचालन मुख्यतया पचीस से पचास या पचपन वर्ष तक के व्यक्तियों के हाथ में रहेगा। इस प्रकार युवापीढ़ी का वर्चस्व सदैव बना रहेगा। पचास पचपन से अधिक उम्र के व्यक्तियों को सत्ता के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर उसे स्वयं त्याग देने का साहस दिखाना पड़ेगा। सेना सेवा में तो आज भी बड़े से बड़ा पदाधिकारी अड़तालीस या पचास वर्ष की आयु में सेवानिवृत्त कर दिया जाता है जिससे सेना में युवाशक्ति का शौर्य बना रहे। वानप्रस्थ आश्रम का उचित पालन किया जाए तो राष्ट्र के सभी क्षेत्रों में युवाशक्ति के पास शक्ति, सत्ता तथा संचालन बना रहेगा।

इस वैदिक मान्यता से कि स्वेच्छा से पुरानी पीढ़ी, युवापीढ़ी को कार्यभार संभाल दे, मैक्समूलर इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने स्पष्ट लिखा कि सभ्यसमाजों में भारतीय वैदिक संस्कृति ही एक ऐसे समाज के निर्माण के लिये कृत-संकल्प है जहाँ युवा पीढ़ी को यौवन के प्रथम चरण में ही समाज संचालन का अधिकार प्राप्त हो जाता है पर शर्त यह है कि युवापीढ़ी को संस्कारवान् होना चाहिए।

वैदिक मनीषियों ने स्पष्ट समझा था कि जीवन के अन्तिम दिन तक सत्ता-लिप्सा और पदमोह में नहीं फँसे रहना है वरन् जीवन का एक ऐसा पड़ाव तो होना ही चाहिए जहाँ व्यक्ति को सत्ता नई पीढ़ी को सौंप कर अपने को सत्तामुक्त करके फिर से अपना निर्माण करना चाहिए। मैक्समूलर लिखता है कि योरोप इससे कितना भिन्न है जहाँ आज भी वृद्ध लोगों का मंडल अपनी सत्ता स्थिति बनाए रखने के लिए अपने जीवन के अन्तिम दिन तक संघर्षरत रहता है। वृद्धों की यह कौंसिल सेनेट्स युवावर्ग का निरन्तर निर्देशन, नियमन तथा मार्गदर्शन करने का प्रयत्न करती थी और युवावर्ग की उदार नीतियों का प्रायः खण्डन करती रहती थी। भारत में पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी का मार्ग स्वयं प्रशस्त करती है। निःसन्देह यह एक ऐसा जीवन दर्शन है जिस पर भारत के मनीषी गर्व कर सकते हैं।

स्वामी दयानन्द ने जहाँ एक ओर युवापीढ़ी को उत्तरदायित्व सौंपा है वहीं दूसरी ओर युवापीढ़ी को संस्कारवान् बनाने पर बहुत बल दिया है। उनकी दृष्टि में युवापीढ़ी और पुरानी पीढ़ी का अन्तराल वय का न होकर संस्कारिता का है। कसौटी केवल एक है कि पुरानी पीढ़ी कितनी नैतिक है और युवापीढ़ी नैतिक मूल्यों के प्रति कितनी सजग है। पुरानी पीढ़ी की कसौटी यही है कि वह एक मानव शिशु का आगामी पच्चीस वर्षों में यौवन की दहलीज पर पहुँचने तक कैसा निर्माण करती है। उसका कितना संस्कारवान् व्यक्तित्व गढ़ती है। यदि यह कर्तव्य पुरानी पीढ़ी ने ठीक से निभाया है तो युवापीढ़ी को राष्ट्र का उत्तरदायित्व सौंपने में संकोच नहीं होना चाहिए, यदि पुरानी पीढ़ी ऐसा संकोच करती है तो यह उसकी असफलता मानी जानी चाहिए। पुरानी पीढ़ी नैतिक नहीं है तो माता-पिता के अन्धानुकरण की बात यहाँ नहीं है। सत्यार्थप्रकाश में अनैतिक गुरु की हत्या तक करने का दुःखद कर्तव्य स्वामी दयानन्द ने युवा शिष्य को सौंपा है।

स्वामी दयानन्द ने जब घर का त्याग किया तब वे केवल इक्कीस वर्ष के थे। जिस युवा संन्यासी ने घर, समाज, परिवेश, सम्प्रदायों तथा अंध-विश्वासों को एक साथ चुनौती दी थी उस संस्कारी किन्तु विद्रोही व्यक्तित्व से इसी जीवन दर्शन की अपेक्षा की जा सकती है।

●

जागरण युग के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द

डॉ० सुरेश व्रत राय

महर्षि दयानन्द भारतीय परम्परा के युगान्तकारी प्रतिनिधि थे जहाँ चिन्तन और अनुशीलन एक दूसरे के पूरक हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित समाजसुधार दार्शनिक चिन्तन के अनुशीलन की चरम और अनिवार्य परिणति थी । दार्शनिक चिन्तन इस लोक जीवन की उपेक्षा करके एकदम परलोक युक्त नहीं हो सकता जैसा आगे चलकर विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ ने भी कहा था । समाज शुद्धि, समाज कल्याण और समाज मोक्ष के बिना आत्मशुद्धि आत्म कल्याण तथा आत्ममोक्ष का कोई अर्थ नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने गहन अध्ययन, चिन्तन, व्याकरण, विभिन्न दर्शन पद्धतियों का विस्तृत विवेचन करते हुए एकेश्वरवाद, परमात्मा जीव, प्रकृति के त्रैतवाद, सीमित मोक्ष और कर्मवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । उन्होंने देश-काल-जाति से परे सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन किया जिसे कोई भी अपना सकता है । उनका सदैव आग्रह था, विद्वतापूर्ण संस्कृति उद्धरणयुक्त भाषणों से श्रद्धालु श्रोताओं को ऐसा चकाचौंध मत करों कि वह परदे के पीछे की वास्तविकता को देख न सकें। जिस त्याग, आदर्श का उपदेश दो उसका स्वयं अपने जीवन में आचरण करके दिखलाओं । धर्म जीवन को उदात्त मूल्यों के साथ धारण करके आगे बढ़ाने का माध्यम है।

अर्थ के अनर्थ का परिष्कार

एक ओर समाज में शताब्दियों पुरानी अज्ञानता और धर्म के नाम पर अन्धश्रद्धा, इतनी गहराई तक बैठ गयी थीं तो दूसरी ओर अपने निहित स्वार्थ के अनुसार शब्दों को तोड़-मरोड़ कर व्याख्या प्रचलित करने वालों ने अपने पाण्डित्य का ऐसा आतंक फैला रखा था कि न उनका गहन अध्ययन करने वाले वैयाकरण विद्वान थे और न किसी में चुनौती देने का साहस था । अनाचार, दुराचार, पाखण्ड, धूर्तता को शास्त्रोक्त वेदोक्त घोषित करते हुए ठेकेदारी, दूकानदारी धड़ल्ले से चल रही थी । यह पंडित जो कह देते वही वेदवाक्य, 'ब्रह्मवाक्य' मान लिया जाता । महर्षि दयानन्द के समय तक चौदहवीं शताब्दी के पौराणिक, देव मूर्ति पूजा समर्थक सायणाचार्य तथा तांत्रिक महीघर के वेद वाक्य प्रचलित और मान्यता प्राप्त थे । किसी में भी साहस नहीं था जो इनसे हट कर व्याख्या करने की कल्पना भी कर सके । इन दोनों ने मूर्ति पूजा और तंत्र को वेदोक्त सिद्ध किया । महर्षि दयानन्द ने अर्जित गहन ज्ञान के बल पर प्रतिपादित किया कि वेदों के शब्द यौगिक हैं पाणिनि के व्याकरण विस्तृत, निघण्टु, उपनिषद् और ब्राह्मण के आधार पर ही वेदों का सही अर्थ निकाला जा सकता है। उन्होंने सायण और महीधर दोनों के भाष्य का पूरी तरह खण्डन कर दिया तथा स्वयं ''ऋग्वेद भाष्य'' तथा सामवेदादि भाष्य भूमिका से समाज को शाश्वत आलोकदीप्त किया । अपना मत स्पष्ट करते हुए दयानन्द ने उदाहरण दिया संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं जिसकी संदर्भ के अनुसार व्याख्या न करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है जैसे सैन्धवमानय कहने पर यदि कोई बगल में घोड़ा लाकर खड़ा कर दे

लेखाधिकारी, महालेखा कार्यालय, इलाहाबाद (अवकाश प्राप्त)

अथवा युद्ध के लिये सन्नद्ध सेनापति द्वारा 'सैन्धवमानय' कहने पर तश्तरी में नमक लेकर सामने प्रस्तुत कर दे तो क्या स्थिति होगी? वेदों के भाष्य करते समय सायण, महीधर आदि द्वारा इसी प्रकार जानबूझ कर अर्थ का अनर्थ किया गया । निरुक्त, निघण्टु आदि व्याकरण नियमों के आधार पर महर्षि दयानन्द ने "सत्यार्थ प्रकाश" के ११वें समुल्लास में विभिन्न मत मतान्तरों, वाम मार्गी, भागवत, वैष्णव, शैव, कबीर, उनमें प्रचलित कर्मकाण्ड जैसे मूर्तिपूजा, तीर्थ, १२वें समुल्लास में नास्तिक, चार्वाक, बौद्ध, जैन मतों का खण्डन किया, १३वें समुल्लास में ईसाई तथा चौदहवें समुल्लास में यवन मत का तर्कपूर्ण खण्डन किया। देश के हैदराबाद एवं अन्य भागों में चौदहवें समुल्लास को लेकर अनेक बार 'सत्यार्थ प्रकाश' पर प्रतिबन्ध लगा सत्याग्रह, विरोध हुआ। 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम दस समुल्लासों में महर्षि ने वैदिक मत, की प्रचलित व्याख्या, स्वरूप आचरण का खण्डन किया है।

एकेश्वरवाद, सर्वान्तर्यामी परमात्मा की सामाजिक व्याख्या

महर्षि दयानन्द ने एकेश्वरवाद द्वारा पूरे समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। ''सत्यार्थ प्रकाश'' के प्रथम समुल्लास में उन्होंने व्याकरण नियमों, धातु, सन्धि नियमों के आधार पर सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया कि ईश्वर निर्गुण, अजन्मा आदि निर्विकार सर्वान्तर्यामी है और पक्ष में वेदों से सशक्त प्रमाण दिये। तथाकथित अनेक देवी देवताओं के नाम एक ही ईश्वर के विभिन्न संदर्भों में अनेक गुणों का संकेत देते हैं जैसे विष्णु सहस्त्र नाम एक ही देवता के विभिन्न गुणों का बोध कराने वाले हैं। प्रभु के इसी रूप की अर्चना, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, धनुर्धर राम, कृष्ण करते रहे होंगे । वेद वाक्य ही प्राचीनतम होने के कारण प्रामाणिक है । परवर्ती ग्रंथ व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय विशेष को दृष्टि में रखते हुए लिखे गये हैं । अतः अनुकरणीय नहीं है । महर्षि दयानन्द ने कहा था ''धूप, वायु, जल, प्रकृति की भाँति ईश्वर प्रदत्त वेद ज्ञान मानव मात्र के लिए है किसी वर्ग अथवा जाति का इस पर एकाधिकार नहीं है, स्त्री पुरुष, जो भी परिश्रम करके विधिपूर्वक अध्ययन करना चाहें अध्ययन करें। स्त्री को भी उपनयन धारण करने का अधिकार है''। वाल्मीकि, विश्वामित्र आदि का उदाहरण देते हुए महर्षि ने प्रतिपादित किया "जो वेदों उपनिषदों का अध्ययन करें वही ब्राह्मण है, वर्ण कर्मप्रधान है जन्म से नहीं। अज्ञात कुल जाबाल ऋषि, क्षत्रिय कुल में उत्पन्न विश्वामित्र, चाण्डाल कुल में जन्म लेने वाले मातंग ऋषि के उदाहरण दे कर महर्षि दयानन्द ने अपने मत की पुष्टि की ।'' जन्मगत वर्ण व्यवस्था के समर्थकों द्वारा यजुर्वेद से उद्धृत मंत्र ''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत '' का खण्डन करते हुए महर्षि दयानन्द ने कहा निराकार परमेश्वर के मुख, बाहु, जंघा तथा पैरों से क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । अपने कर्मों से बुद्धि प्रधान, पराक्रम प्रधान व्यापार प्रधान, निम्न गुणों के अनुसार किसी भी व्यक्ति का वर्ण निर्धारण होता है जैसा पहले होता था । इस व्यवस्था से वर्ण व्यवस्था की जड़ता, समाज के पिछड़ेपन, अछूत वर्गों की समस्या का सहज समाधान निकल आया । महर्षि ने समानता की शिक्षा ही नहीं दी बल्कि अपना उदाहरण भी प्रस्तुत किया। एक बार वह प्रवचन कर रहे थे, इस बीच उनका अनन्य भक्त उम्मेद नाई एक थाली में रोटी, दाल, चावल, सब्जी ले कर आया और महर्षि के सामने थाली रक्खी, हाथ जोड़कर खड़ा हो गया । दयानन्द जी ने प्रवचन रोका और थाली खींच कर प्रेमपूर्वक खाने लगे । कट्टर श्रोताओं ने उग्र विरोध करते हुए कहा, ''स्वामी जी, आप इतने पतित हो गये नाई की रोटी खा रहे हैं ।'' महर्षि ने उत्तर दिया ''भाई यह रोटी नाई की नहीं गेहूँ की है । अन्न और संतान भगवान के ही बनाये हैं एक-दूसरे के स्पर्श से कोई अपवित्र नहीं होता।''

नारी मुक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक

इसी समानता के क्रम में दयानन्द ने बेमेल, अवयस्क, विवाह का विरोध किया वहीं विधवा विवाह, स्त्रियों के पुनर्विवाह, नियोग का प्रतिपादन किया, स्त्रियों द्वारा प्रारम्भ से लेकर उच्चतम शिक्षा प्राप्त, उपनयन धारण करके दीक्षा लेने, विवाह में कन्या

की स्पष्ट स्वीकृति, मनुस्मृति के आधार पर "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'' कहकर परिवार, समाज में नारी प्रतिष्ठा, निरुक्त के आधार पर पैतृक सम्पत्ति में पुत्र-पुत्री के समान अधिकार और प्रतिष्ठा की अनिवार्यता को रेखांकित किया । वर्तमान संदर्भ में महर्षि दयानन्द को भारतीय नारी मुक्ति आन्दोलन का प्रवर्तक माना जा सकता है।

मूर्ति पूजा खण्डन

महर्षि दयानन्द का सबसे अधिक कट्टर विरोध उनके द्वारा मूर्ति पूजा खण्डन के कारण हुआ । इस खण्डन से धर्म के नाम पर मूर्ति पूजा, मूर्ति विषयक चमत्कार, मनगढ़न्त किंवदंतियाँ गढ़ कर मूर्ति और मन्दिरों में भेंट चढ़ावे से तथाकथित धार्मिक लोगों, मठाधीशों, महन्तों को क्षति पहुँचने लगी थी । महर्षि दयानन्द ने कहा ''शास्त्रीय दृष्टि से परमात्मा निराकार और एक है । वेदों, उपनिषदों, वैदिक काल में कहीं भी मूर्ति पूजा का विधान नहीं है'' । इस मत का शास्त्रार्थ में कोई खण्डन नहीं कर सका । तदनुसार अनेक देवी देवताओं की मूर्तियों के रूप में निराकार को मनुष्य के द्वारा अपनी कल्पनानुसार अनेक आकार देना, वेदों के प्रतिकूल है । व्यवहारिक दृष्टि से मूर्ति पूजा करने वाले मूर्ति तक सीमित रहते और स्वयं जड़ हो जाते हैं, सर्वव्याप्त परमात्मा का बोध होने की अपेक्षा उनकी धार्मिक प्रवृत्ति, श्रद्धा भक्ति मूर्ति, मंदिर तक सीमित हो जाती है और वहाँ से बाहर निकलते ही वह पाप कर्मों, दुराचार में बेधड़क लिप्त हो जाते हैं, उनकी पूजा अर्चना थोथा कर्मकाण्ड बन कर रह जाती है । मूर्तियों पर अधिकतम चढ़ावे के लिये धार्मिक परन्तु अज्ञानी जनता का अधिकतम शोषण होता है फिर मंदिर के चढ़ावे गद्दी को लेकर संघर्ष, पारस्परिक विद्वेष हिंसा की स्थिति आ जाती है। उधर मूर्ति पूजा से अंधविश्वास बढ़ता है । सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में महर्षि दयानन्द ने मूर्ति, सम्बद्ध अंधविश्वास, उसके दुष्परिणाम, मूर्तियों के चमत्कार प्रतिपादित करने वाली धूर्ततापूर्ण तिकड़मों का भण्डाफोड़ किया है । महर्षि दयानन्द ने ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह भी तर्क दिया कि प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा के पश्चात् आस्थावान् भक्तों के लिये वह प्रतिमा साक्षात् सर्वशक्तिमान् परमात्मा बन जाती है जिसके अनिष्ट की कल्पना करने वाला भी भस्म होकर नष्ट हो जाएगा। वह भक्तों और देश समाज की पूरी तरह रक्षा करेगी। सोमनाथ आदि जैसे स्थानों पर जब आक्रमणकारियों ने मूर्तियाँ तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया, अथवा सुरक्षा के लिये जब प्रतिमा को अन्यत्र सुरक्षित स्थान में ले जाकर रखना पड़ा अथवा कुएँ में डाल दिया गया तो भक्तों की न केवल आस्था खण्डित होकर चूर-चूर हो गयी बल्कि उनका मनोबल टूट गया कि जब साक्षात् परमेश्वर (देवता) कुछ नहीं कर पाए फिर हम लोग दया कर सकते हैं प्रतिमा पर आश्रित और टूटा मनोबल पराजय का प्रमुख कारण था । इसके अतिरिक्त दयानन्द ने कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए घोषित किया, ''मन्दिरों में चाहे जितनी पूजा अर्चना करें, मूर्तियों पर चाहे जितना चढ़ावा चढ़ायें, किये गये पाप कर्मों से मुक्ति, क्षमा नहीं मिल सकती । वर्तमान सत्कर्मों से भविष्य सुधारा जा सकता है परन्तु अतीत में किये गये कर्म को कर्मानुसार भोगना ही पड़ेगा। महर्षि ने उपदेश दिया ''भगवान की वास्तविक चलती फिरती मूर्तियों माता-पिता, आचार्य, अतिथि की पूजा अर्चना सेवा ही वास्तविक आराधना है।''

इसी प्रकार स्वर्ग, मोक्ष अथवा भगवत् प्राप्ति की मृगमरीचिका में तीर्थ यात्रा के नाम पर दर-दर भटकने वालों को महर्षि दयानन्द ने उपदेश दिया ''वास्तविक तीर्थ है वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का सत्संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट आचरण, सत्य भाषण और सत्य का अनुशीलन, माता-पिता आचार्य अतिथि की सेवा, जितेन्द्रियता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान विज्ञान, शुभ गुण कार्य, समस्त प्राणियों के प्रति करुणा, कल्याण का भाव'' नाम स्मरण किसी

नाम को बारम्बार रटना नहीं है बल्कि उस नाम का ध्यान करते हुए तदनुसार जीवन में अनुशीलन ही वास्तव में सार्थक नाम स्मरण है।

इस क्रम में महर्षि दयानन्द ने प्रतिपादित किया कि यज्ञ अनुष्ठान स्वयं करने से उसका जो भी फल हो प्राप्त होता है, पुरोहित की मध्यस्थता, उस पर निर्भरता से वह फल नहीं प्राप्त होगा । इसलिये महर्षि दयानन्द ने प्रत्येक आर्य द्वारा प्रतिदिन सन्ध्या, यज्ञ एवं अनुष्ठान का उपदेश दिया। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये स्वयं पढ़ना आवश्यक है अपनी ओर से किसी अन्य के पढ़ने से परीक्षा में अंक नहीं मिलेंगे।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में अवतारवाद अजन्मा, सर्वशक्तिमान्, अनादि, निराकार परब्रह्म का न केवल विरोधी है बल्कि सर्वशक्तिमान् के लिये धरती पर किसी दुष्ट अत्याचारी विशेष के विनाश हेतु यहाँ जन्म लेने की बात परमात्मा का उपहास एवं अपमान भी है । इस छोटे कार्य के लिये उसे अवतार लेने तथा जन्म-मरण की आवश्यकता ही नहीं है । अपराजेय अत्याचारियों का विनाश करने वाले महापुरुषों के गुणों का बोध कराने के लिये उन्हें अवतारी अर्थात् श्रेष्ठ भले कहा जाता हो परन्तु उनमें से कोई भी परमात्मा नहीं है। लीला करने के निमित्त तर्क से अवतार सिद्ध नहीं किया जा सका। ऐसे महापुरुषों के जन्म लेने से समाज में एकता, अपराजेय संकल्प, आत्मविश्वास के साथ अद्‌भुत शक्ति का अवतरण अवश्य होता है जो अंततः विजयी होता है जैसे राम ने वनवासी वानर भालू जाति को संघर्ष के लिये संगठित किया, कृष्ण ने यादवों को संगठित करके ऐसी शक्ति खड़ी कर दी जिससे कंस तो क्या इन्द्र की भी चुनौती स्वीकार करके इन्द्र को पराजित किया । जब देवताओं ने संगठित होकर अपना-अपना अंशदान दिया तो महिषासुरमर्दिनी दुर्गा शक्ति का आविर्भाव हुआ । अवतार का शायद यही अर्थ है । अपनी समस्याओं, संघर्ष के लिये स्वयं को असहाय निरीह समझते हुए अवतार की प्रतीक्षा में ऊपर देखते रहना समाज को अकर्मण्य, आत्म विश्वास और पुरुषार्थ शून्य बनाता है।

महर्षि दयानन्द ने धर्म के सामाजिक पक्ष की ओर विशेष ध्यान दिया । यदि किसी ने अनजानी, भूल अथवा जोर जबर्दस्ती से भी किसी अन्य धर्म वाले का छुआ जल लिया, भोजन, मिठाई अथवा पान खा लिया, देश के बाहर गया तो अज्ञानी कट्टरपंथी संकीर्ण पण्डितों ने उन्हें सदैव के लिए हिन्दू धर्म से बहिष्कृत कर दिया फिर वह चाहे जितनी प्रार्थना करें, प्रायश्चित्त करे । उसके लिये हिन्दू धर्म के द्वार सदैव के लिए बन्द कर दिये गये । अन्य धर्म वालों को तो पहिले से ही म्लेच्छ कहा जाता था उनके हिन्दू धर्म में आने का प्रश्न ही नहीं था । इस संकीर्णता कट्टरवादिता से हिन्दुओं को अन्य धर्मों में सदैव के लिये परिवर्तन कराने वालों को थोक भाव में सामूहिक धर्म परिवर्तन कराने का सहज मार्ग मिल गया । दक्षिण में ईसाई मिशनरियाँ ग्रामों विशेषतः पिछड़ी बस्तियों के कुओं में चुपके से रोटियाँ आदि डाल देती और दूसरे तीसरे दिन दिखला कर जोर-जोर से प्रचार करते कि गाँव वालों ने क्रिस्तानों का जूठा अशुद्ध जल पी लिया । कट्टर पण्डितों द्वारा सभी हिन्दू धर्म से सदैव के लिये बहिष्कृत कर दिये जाते और पूरे गाँव के गाँव देखते-देखते हिन्दू धर्म से बाहर हो जाते । हिन्दू धर्म से बाहर लोग थोक भाव से जा रहे थे और हिन्दू धर्म में आने के सभी मार्ग ऐसे सील बन्द थे कि मक्खी, मच्छर तक हिन्दू धर्म में नहीं आ सकता था।

महर्षि दयानन्द ने निर्भीकता से बारम्बार घोषणा की कि वैदिक धर्म और वेदों का ज्ञान परमात्मा द्वारा प्रदत्त जल, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, सरिता, प्रकृति, फल-फूलों की भाँति मानव मात्र के लिए है तथाकथित म्लेच्छ यवनों के लिये महर्षि दयानन्द ने कहा, इनमें से अधिकांश के पूर्वज हिन्दू धर्म के अनुयायी थे जो भय, बल प्रयोग, आतंक प्रलोभन अथवा अन्य कारणों से धर्म परिवर्तन के लिये विवश किये गये थे, यदि वह वापिस आना चाहते हैं तो अपने घर में वापसी पर उनका स्वागत है। कोई भी ओ३म्

उच्चारण करके गायत्री मंत्र पाठ के साथ वैदिक धर्म की दीक्षा ले सकता है । स्वामी दयानन्द ने स्वयं वैदिक धर्म ग्रहण करने के इच्छुक मुसलमान को वैदिक धर्म की दीक्षा दी थी। उनकी महासमाधि के पश्चात् उनके अनुयायियों ने शुद्धि आन्दोलन को आगे बढ़ाया, इससे तत्कालीन पादरियों और मौलवियों में खलबली मच गयी । यहाँ तक कहा जाता है कि इसी कारण अंग्रेजों, यवनो ने जोधपुर की नर्तकी वेश्या नन्हीं जान को उकसा कर महर्षि दयानन्द की हत्या का षड्यंत्र किया था। इधर कट्टरपंथी पण्डितों ने घोषणा कर दी जो भी शुद्धि आन्दोलन में भाग लेगा उसका हुक्का-पानी बन्द करके समाज से बहिष्कृत कर दिया जायेगा। परन्तु लाला लाजपत राय, पण्डित भोजदत्त आर्य मुसाफिर, आदि ने शुद्धि आन्दोलन को आगे बढ़ाया । शुद्धि आन्दोलन में सक्रिय रूप से लगे स्वामी श्रद्धानन्द (पं० लेख राम) लाहौर में ६ मार्च सन् १८६७ ई० मको धर्मान्ध मुस्लिम के प्रहार से शहीद भी हो गये परन्तु आन्दोलन निरन्तर आगे बढ़ता रहा, धर्म परिवर्तन को आज जो सहज सामाजिक मान्यता प्राप्त है उसका श्रेय महर्षि दयानन्द को न देना बहुत बड़ी कृतघ्नता होगी।

महर्षि दयानन्द ऐसे अनूठे संन्यासियों में थे जो समाज कल्याण को ही अपना मोक्ष और परम लक्ष्य मानते थे । समाज में अपने अस्तित्व को मिलाकर उन्होंने अपने को बलिदान कर दिया । वह हर क्षण समाज चिन्तन करते रहते थे । समाज को कैसे ज्ञान का प्रकाश मिले लोग कैसे सुखी रहे। परतंत्रता से उन्हें बड़ी पीड़ा थी। एक बार जनवरी सन् १८७३ में कलकत्ते के लाट पादरी गवर्नर जनरल बार्थ ब्रुक महर्षि दयानन्द से मिलने गये। लार्ड ब्रुक ने स्वामी जी से कहा ''स्वामी जी आप अपने प्रवचनों में मलका विक्टोरिया के शासन प्रबन्ध, सुरक्षा व्यवस्था की सराहना करते हैं। इसके साथ अंग्रेजी राज की भी थोड़ी प्रशंसा कर दिया करें ।'' महर्षि दयानन्द ने दो टूक उत्तर दिया ''असंभव, एकदम असंभव, विदेशी राज चाहे जितना अच्छा हो अपने राज्य की तुलना में त्याज्य है और दो कौड़ी का भी नहीं है । अपने देश में स्वराज्य के लिये ही स्थान है। मैं ईश्वर से नित्य सायंप्रातः इस देश की विदेशियों से मुक्ति की ही प्रार्थना करता हूँ।'' स्वामी दयानन्द एक दिन गंगा तट पर बैठे थे । देखा एक महिला विलखती हुई आई और अपने मृत पुत्र के शव से, घोर, दारिद्र्य के कारण कफ़न उतार कर अपने पास उपयोग के लिये रक्खा और शव को निर्वस्त्र प्रवाहित करके उसी प्रकार रोती कलपती वापिस लौट गयी। जिस दयानन्द की आँखों में भाभी एवं चाचा की मृत्यु से आँसू नहीं आए थे, इस देश की घोर कंगाली, दरिद्रता देखकर दहाड़ मारकर बच्चों की भाँति रोने लगे । कई दिनों तक महर्षि की यहीं आकुल व्याकुल दशा रहीं जिससे उनके शिष्य हतप्रभ थे।

समाज की दुर्दशा की दारुण वेदना से सन्तप्त

देश एवं समाज की दशा पर महर्षि दयानन्द सदैव चिन्तित एवं सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहते थे । एक दिन स्वामी जी बेचैनी का अनुभव कर रहे थे न लेट पा रहे थे और न बैठ पा रहे थे। एक भक्त ने पूछा ''क्या बात है कैसी वेदना है'' तो स्वामी जी ने उत्तर दिया। इससे अधिक दारुण वेदना क्या हो सकती है कि विधवाओं की दुखभरी आहों, अनाथों के निरन्तर आर्तनाद और गोवध के जघन्य पाप से इस देश का सर्वनाश हो रहा है । यह वेदना भारत के परिश्रमी लोगों की दुर्दशा के चिन्तन से उत्पन्न हुई है। ईसाई लोग कोल, भील आदि लोगों को ईसाई बनाने के लिए अपनी कल्पनाओं, योजना के ताने-बाने वाले जाल फैला रहे हैं, रुपयों को पानी की तरह बहाने के लिये कटिबद्ध है, समाज में इसकी किसी को चिन्ता नहीं है । मेरी वेदना किसी औषधोपचार से शान्त होने वाली नहीं है।'' एक दिन एक पेंशन भोगी ब्राह्मण स्वामी जी के पास गया और स्वामी जी से मार्गदर्शन का अनुरोध किया । महर्षि दयानन्द ने कहा ''आप अपने पूर्वजों की भाँति परोपकार व्रत धारण कीजिये और कटिबद्ध होकर कोल, भील आदिवासियों की बस्तियों में जाइये वहाँ काम कीजिये । वहाँ सभी धड़ाधड़ ईसाई होते जा रहे हैं। उनको अपनी इच्छानुकूल ईश्वर भक्ति का उपदेश देकर किसी प्रकार ईसाइयों के पंजे से बचाइये । आर्य जाति के छिलते हुए तलुओं की टूटती

हुई अंगुलियों की ओर कटते हुए पाँव की रक्षा कीजिए।'' महर्षि दयानन्द की पीड़ा और उपदेश आज उस समय से कहीं अधिक प्रासंगिक है।

महर्षि दयानन्द राष्ट्रीयता और राष्ट्र भाषा से ओत-प्रोत थे । केशवचन्द्र सेन ने महर्षि की अमोघ विद्वत्ता से प्रभावित होकर कहा ''शोक है कि वेदों का इतना प्रकाण्ड विद्वान अंग्रेजी नहीं जानता अन्यथा वेदों का विश्व में प्रचार हो गया होता साथ ही विश्व में दयानन्द का प्रमुख स्थान होता ।'' केशव चन्द्र सेन ब्रह्म समाज के प्रमुख नेताओं में थे। स्वामी दयानन्द ने तुरन्त उत्तर दिया, "शोक है ब्रह्म समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को अंग्रेजी ऐसी भाषा में उपदेश देता है जिसे वह समझते ही नहीं'' केशव चन्द्र सेन ने तुरन्त उत्तर दिया ''आप संस्कृत में लेखन भाषण करते हैं उसे भी तो लोग नहीं समझते, दुभाषिये के रूप में काम करने वाले संस्कृतज्ञ आपकी बात के अर्थ को अपने हिसाब से तोड़-मरोड़ कर लोगों को गलत सही समझा देते हैं। अतः आप क्यों न हिन्दी में ही अपना सारा कार्य करें जिसे लोग सीधे समझ सकें ।'' महर्षि दयानन्द ने तुरन्त यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । इस समय से उन्होंने अपने ग्रन्थों का लेखन, उपदेश हिन्दी भाषा में ही किया । आर्य समाज गतिविधियों की भाषा हिन्दी की रक्खी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्य समाज के कारण देश के कोने-कोने में राष्ट्र भाषा प्रचार अभियान प्रारम्भ होने के बहुत पूर्व राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रचार-प्रसार हुआ । श्री सेन ने स्वामी दयानन्द को यह भी सुझाव दिया कि वह अपने आश्रम में भले मात्र कौपीनधारी रहें परन्तु जब समाज सभाओं में जायँ तो वस्त्रों में जायँ । स्वामी दयानन्द ने इस सुझाव को भी स्वीकार कर लिया तथा धोती, कुर्ता, उत्तरीय एवं पगड़ी में ही आते आते थे।

परम विद्वान, सम्मानित होने के बावजूद महर्षि दयानन्द अत्यन्त सहनशील, प्रत्युत्यन्नमति, सम्पन्न और विनम्र थे। शास्त्रार्थ में पराजित पण्डित समाज ने स्वामी दयानन्द को अपमानित करने के लिए एक व्यक्ति को नकली दयानन्द बना कर उसके मुख पर कालिख पोती, गले में जूतों की माला पहिनाई, उसे गधे पर बैठाकर उसके ऊपर राख कीचड़ गालियों की बौछार करते हुए नगर भर में घुमाया । जब महर्षि दयानन्द के भक्तों को पता लगा और क्रोध में भर कर यह लोग सबक सिखलाने के लिये तैयार हुए तो स्वामी जी ने उन्हें शान्त स्वर में मना किया ''इसमें क्रोध का कोई कारण नहीं है। नकली दयानन्द की यही दशा होती है।'' एक दिन स्वामी जी अपना सिर मुंडवा रहे थे उसी समय एक जटाधारी संन्यासी आ पहुँचे और बोले ''यह क्या करवा रहे हो जटा, दाढ़ी आदि ही तो संन्यासियों की शोभा है और त्याग का सूचक भी ।'' स्वामी जी ने शान्त भाव से उत्तर दिया ''यदि ऐसा है तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी है।'' त्याग, आचरण कर्म से होता है दाढ़ी, मूँछ बढ़ाने से नहीं । एक बार शास्त्रार्थ में पण्डितों और विद्वान को उच्च अलंकृत सिंहासन दिया गया और महर्षि दयानन्द को अत्यन्त नीचे एक चौकी पर स्थान दिया गया । जब इस भेदभाव पर दयानन्द जी के अनुयायियों ने आग्रह किया कि दोनों को समान स्थान देना चाहिये, उनकी बात न मानने पर अव्यवस्था फैलने लगी तब महर्षि दयानन्द ने उन्हें शान्त करते हुए कहा ''इस विवाद से क्या लाभ ? यदि कोई स्थान की ऊँचाई से ही महान् होता हो तो वह देखो वृक्ष की टहनी पर कौवा बैठा है वही यहाँ सबसे महान् है ? जो निर्णय होगा शास्त्रार्थ के परिणाम से होगा ।'' सदैव की भाँति इस शास्त्रार्थ में भी विजय महर्षि दयानन्द के पक्ष की ही हुई।

राजसी वैभव युक्त गद्दी प्रलोभन के प्रति विरक्त

महर्षि को ओखीमठ की विशाल गद्दी का महंत पद तथा राणा उदयपुर के लिंग महोदय के प्रमुख महंत की गद्दी का प्रलोभन आकर्षित नहीं कर सका । उन्होंने स्वयं किसी गद्दी, महंत, मठ की स्थापना नहीं की । आर्य समाज लाहौर के महाधिवेशन में महाशय शारदा प्रसाद ने स्वामी दयानन्द को आर्य समाज के संस्थापक की पदवी से विभूषित करके अभिनन्दन करने का प्रस्ताव

रखा जो सर्वसम्मति से पारित भी हो गया। महर्षि दयानन्द ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा ''मैंने कोई नया पंथ चला कर गुरु, गद्दी अथवा मठ नहीं बनाया है। मैं तो लोगों को मठवादियों, गद्दी धारियों से स्वतंत्र कराना चाहता हूँ, ऐसी पदवियों, अभिनन्दनों से हानियाँ अधिक होती हैं। आप सभी अपने द्वारा बनाये गये नियमों का सच्चाई, समर्पित भाव से पालन करते हुए समाज का कल्याण करें यही मेरा अभिनन्दन है।''

महर्षि की देन आर्य समाज परोपकारिणी सभा

और वस्तुतः महर्षि की प्रेरणा से आर्य समाज के समर्पित श्रेष्ठ महापुरुषों की श्रृंखला बनती चली गयी । धर्म के अतिरिक्त लाला लाजपत राय, भगत सिंह, राम प्रसाद बिस्मिल आदि ने राजनैतिक आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । परोपकारिणी सभा के साथ महर्षि दयानन्द ने बम्वई में डाक्टर मानक जी के गिरगाँव स्थित बगीचे में गिरधर लाल दयाल दास कोठारी की अध्यक्षता में सम्पन्न सभा में १० अप्रैल सन् १८७५ को आर्य समाज की स्थापना की । आर्य समाज के प्रथम तीन नियमों में परमेश्वर, वेदों की संक्षिप्त व्याख्या की गयी है और शेष सात नियम अनुशीलन प्रधान है जैसे सभी के द्वारा वेदों का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, सत्य को ग्रहण करना असत्य को छोड़ना, सभी कार्य सत्य-असत्य को विचार कर धर्मानुसार करना, संसार का उपकार, सभी से प्रीतिपूर्वक यथायोग्य व्यवहार, अविद्या का नाश, विद्या की वृद्धि, समष्टिगत उन्नति को जीवन का लक्ष्य, सामाजिक सर्वहितकारी नियमपालन में स्वतंत्रता और हितकारी नियम पालन में परतंत्रता। वर्ण, वर्गभेदरहित आर्य समाज ने सामाजिक सांस्कृतिक, राजनैतिक चेतना संदेश की दिशा ही बदल दी । इस शताब्दी के प्रथम पाँच दशकों में आर्य समाज ने देश के कोने-कोने में जीवन के समस्त क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, ऐतिहासिक योगदान दिया । आर्य समाज में जाति, वर्ण का कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा, समस्त सदस्य परस्पर 'महाशय जी' सम्बोधन से सम्बोधित होते । जहाँ भी आर्य समाज की शाखायें खुलीं, देश-विदेश में वहाँ-वहाँ राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रचार प्रसार हुआ । महर्षि कहते थे ''आर्य समाज का प्रत्येक सदस्य, दयानन्द का गुणगान करने की अपेक्षा स्वयं दयानन्द बने, दीप से दीप जले जिससे पूरा समाज आलोकित हो उठे । आत्म शुद्धि समाज शुद्धि पर निर्भर हो । जिससे समाज कल्याण हो उसी में आत्म कल्याण निहित है।

यह क्रूर विडम्बना है जिसने देश को अज्ञान अंधकार, अंध विश्वास, पाखण्ड, शोषण, कुरीतियों से मुक्ति का मार्ग ही नहीं दिखलाया बल्कि समाज कल्याण में अपने को पूरी तरह समर्पित कर दिया, उसे बदले में समाज ने हलाहल विष दिया । महर्षि दयानन्द तो बलिदान होकर विषपायी बन गये परन्तु कृतघ्न देश ने उनका न्यायोचित मूल्यांकन नहीं किया, उन्हें अपेक्षित सम्मान नहीं दिया यद्यपि आज महर्षि दयानन्द अपने युग से कहीं अधिक प्रासंगिक है । देश के अनेक ग्रामीण विशेषतः पिछड़े इलाकों में समाज की स्थिति महर्षि दयानन्द के समय से भी अधिक चिन्ताजनक है, वहाँ जाकर महर्षि दयानन्द का संदेश पहुँचाने और काम करने की आवश्यकता है । देश में गहराते चरित्र संकट, धार्मिक अव्यवस्था और नैतिक अराजकता को एक बार फिर महर्षि दयानन्द की अत्यधिक आवश्यकता है।

तृतीय खण्ड

वेद एवं वैदिक वाङ्मय

(Vedic Studies)

A Glimpse of Musical Instruments In Ṛgveda

Dr. Sushma Kulshreshtha

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं प्रयच्छति ।।[1]

'Art is the manifestation of the spiritual by means of the material.'[2]

'Music is the mediator between the spiritual and the sensual life.'[3]

'Is music the inarticulate
Speech of the Angels on earth ?
Or a voice of the undiscovered
Bringing great truths to the birth ?'[4]

तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम् ।।[5]

Music is eternal bliss. Music is the means of the attainment of four human goals called caturvarga or the four Puruṣārthas namely, Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa propounded by our seers for the proper regulation of human life. Music is a Śilpa, a fine art which comprises music vocal, music instrumental and dance as is mentioned in Śāṅkhāyana Brāhmaṇa and also in the Saṅgītaratnākara :

त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति ।[6]
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते ।।[7]

All these three are considered divine arts [8] which are performed together and which add grace to the personality of Yajamāna :

एतेषां वै शिल्पानाम् अनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते। ओ३म् शिल्पानि शंसन्ति देवशिल्पानि शिल्पमिदमस्मिन्नधि गम्यते स एवं वेद यदिव शिल्पानि। आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते।[9]

These Śilpas are learnt, performed and utilized for the propitiation of deities. 'Just as the wheels of a chariot erected by an able rathakāra are satisfactory and praiseworthy, similarly, the art of music when performed adeptly becomes centre of attraction to all'— says Indra in Ṛv.[10]

During Ṛgvedic period, vocal music was always accompanied by instrumental music. All the four types of musical instruments later mentioned in the Nāṭyaśāstra were known to the Ṛgvedic Āryas :

Head Sanskrit Dept. Daulat Ram College, Delhi University; Visiting Professor of Sanskrit, Ranchi University, Ranchi, Bihar.

ततं तन्त्रीकृतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ।
घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश उच्यते ।।[11]

The four types of musical instruments are :

(i) Stringed instruments or Cordophones (Tata instruments)

(ii) Membranophones (Avanaddha instruments)

(iii) Aerophones (Suṣira instruments), and

(iv) Idiophones (Ghana instruments)

We get the following musical instruments often referred to in Ṛv. :

(1) Vāṇa (2) Āghāṭi (3) Karkari (4) Gargara (5) Kṣoṇī (6) Godhā (7) Piṅga (8) Dundubhi (9) Nāḍī (10) Veṇu

Vāṇa was the foremost stringed instrument of the Ṛgvedic age. It comprised seven strings :

माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याऽभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः।[12]

Marudgaṇas are described as music-lovers in the Ṛv. They express their valour while playing on Vāṇa:

धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे।[13]

Vāṇa produced deep sound as is mentioned in a Ṛk where somarasa is being adored and requested to produce pleasing sounds (mutterings) like that of a vāṇa producing resounding notes while pouring into a vessel like the drops of Parjanya :

उत्तेशुस्मास ईरते.........वाणस्य चोदयापविम्।[14]

The stringed instrument vāṇa was played for the propitiation and adoration of Pavamāna soma :

प्रहंसासः स्तृपत्रं पवमानं सरवायो दुर्भर्षि साकं प्रवदन्ति वाणम्।[15]

The other Tata instruments (cordophones) referred to in the Ṛv. are Karkari, Gargara, Kṣoṇī etc. Kṣoṇī, a type of Vīṇā is mentioned in the following mantra according to commentators Veṅkaṭa and Sāyaṇa :

युवं स्यावायरुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय।[16]

We come across an interesing anecdote regarding Vīṇā in Śāṭyāyana Brāhmaṇa. Once the asuras kept sage Kaṇva in confinement in a dark room covering his eyes too and ordered him to proclaim arrival of dawn without eyes to prove his Brāhmaṇatva. On account of the Brāhmaṇatva of sage Kaṇva, the deity Aśvin presented his morning recital on his Vīṇā and thus gave a clue to sage Kaṇva, who being successful was afterwards rescued by the asuras. This reference of the Śāṭyāyana Brāhmaṇa informs us of the playing of ceremonial instruments like Vīṇā in the dawn.

Cordophones viz, Karkari, Gargara and Godhā are mentioned in the following mantras :

(i) यदुत्पन् वदसि कर्करिः यथा।[17]
अव स्वराति गर्गरी गोधा परि सनिस्यनत् पिङ्गा परि च निष्कद्दिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्।[18]

Karkari is a particular stringed instrument but we do not get details of this instrument. Similarly, details of Gargara stringed instrument are also not available. According to Sāyaṇa, it produces sound like that of a Gargara :

गर्गरो गर्गरध्वनियुक्तो वाद्यविशेषः ।

According to some critics, the cordophone 'Piṅgā', mentioned above is an arrow-shaped stringed instrument which is similar to Rāvaṇāstra or modern violin. They conjecture that its strings were made of piṅgala-coloured antris, hence this name Piṅgā.

Āghāṭi, a cordophone is referred to in the following mantra :

आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ।

The other synonyms of Āghāṭi are Ghāṭalikā and Kāṇḍavīṇā. Aitareya Āraṇyaka clearly mentions playing of Kāṇḍavīṇā and Bhūmi-dundubhi by Yajamāna-wives.[19] Aitareya Āraṇyaka presents complete similarity and resemblance between divine vīṇā and human vīṇā (made of wood) in the following passage :

अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति यथास्याः शिर एवममुष्याः शिरः यथाऽस्या उदरमेवममुष्या अम्भणं यथास्यै जिह्वैवममुष्यै वादनं यथाऽस्यास्तन्त्रय एवममुष्या अङ्गुलयः यथाऽस्याः स्वरा एवममुष्याः स्वराः यथाऽस्याः स्पर्शा एवममुष्या स्पर्शाः यथा ह्येवेयं शब्दवती तर्दमवत्येवमेवाऽसौ शब्दवती तर्दमवती यथा ह्येवेयं लोमशेन चर्मणाऽपिहिता भवत्येवमेवासौ लोमशेन चर्मणाऽपिहिता। लोमशेन ह स्म वै चर्मणा पुरा वीणा अपिदधति।[20]

Thus, just as divine vīṇā i.e. human figure comprises śira, udara, jihvā, aṅgulis, svara, sparśa and carma, similarly the wooden vīṇā prepared by human beings also possesses the same organs. Here, śira of divine vīṇā denotes tumbāphala of wooden vīṇā, the udara, its cavity which helps in the resounding of the notes, jihvā is its act of playing, aṅgulis are its tantrīs (strings), its sound is the sound of the wooden vīṇā and so on. Just as divine Vīṇā (human figure) is made of veins, similarly wooden vīṇā also consists of tantrīs (strings). Originally, there was only one type of Vīṇā which multiplied in different types of Vīṇās with different number of strings in them and also with different ways of playing in due course of time. This fact is brought out by Someśvara in his Mānasollāsa :

तन्त्रीभेदैः क्रियाभेदैर्वीणावाद्यमनेकधा।[21]

Human figure is covered with carma (skin). Vīṇā was also covered with carma which proves that the art of using the hide of animals (bulls etc.) for different purposes was well-known to the people of Ṛgvedic age.[22] That the Ṛgvedic people were adept in the art of making appropriate carma and tantris from hide of bulls and other animals for the cordophones and membranophones is evident from the references found in the Ṛv.

Dundubhi was the foremost Avanaddha instrument (Membranophone) of the Ṛgvedic age. The Ṛgvedic seer requests the ulūkhala to produce deep sound like that of a dundubhi beaten by the triumphant warriors : जयतामिव दुन्दुभिः ।[23] It was the firm belief of the Ṛgvedic Āryas that the sound of dundubhi alone could conquer the enemy as is revealed in the following mantra : स दुन्दुभे सजुरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून्।[24]

We get reference of Bhūmi-dundubhi also in the Aitareya Āraṇyaka being beaten by the Yajamāna-wives : भूमिदुन्दुभि पत्नयश्च काण्डवीणा ।[25] and in Śāṅkhāyana Āraṇyaka too.[26] Bhūmi-dundubhi was made on earth by digging a pit and covering its mukha by animal hide.

Dundubhi is one of the oldest Avanaddha instruments of India. It is played on the auspicious occasions of celebrations and marriages etc. According to Saṅgītaratnākara, dundubhi is made of bronze and its mukha is covered by animal hide. Originally, there was only one drum in dundubhi but in due course of time, there were two drums in dundubhi. The details of dundubhi are found in Saṅgītaratnākara thus :

आम्रद्रुमसमुद्भूतो महागात्रो महाध्वनिः ।।
कांस्यभाजनसम्भारगर्भो वलयवर्जितः ।
चर्मनद्धाननो बद्धो बध्रैर्गाढं समन्ततः ।।
दृढचार्मेण कोणेन वाद्यो वाणेन दुन्दुभिः ।
मेघनिर्घोषगम्भीरघोंकारस्यात्र मुख्यता ।।
मङ्गले विजये चैव वाद्यते देवतालये ।[27]

A beautiful description of the beating of Dundubhi drum is found in the Kumārasambhava of Kālidāsa at the auspicious occasion of the birth of Kumāra Kārtikeya :

गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रणेदुः ।
दिवौकसां व्योम्नि विमानसङ्घा विमुच्य पुष्पप्रचयान्प्रसस्रुः ।।[28]

In Yamasūkta, we come across a reference of the beautiful blend of vocal and instrumental music. The palace of Yama is resounding with the appealing notes of the songs and the symphonies produced by an instrument called Nāḍī :

इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः।[29]

It appears that Nāḍī having resemblance with Nālikā or Nalikā was an aerophone, a Suṣira instrument like veṇu which produced pleasing sound when filled with wind breathed from the mouth of the player. Sāyaṇa also comments :

इयं नाडीः वाद्यविशेषो वेणुः धम्यते वाद्यते यद्वा नाडीति वाङ्नाम इयं स्तुतिरूपा वाक् ।

We do not get any direct reference of Ghana instruments (Idiophones) in the Ṛv. but we may presume that Ghana instruments might have been prevalent amongst the people in those days.

Musical instruments provided accompaniment to singing. Cordophones (Tata instruments) and Aerophones (Suṣira instruments) provided accompaniment to the notes of the song (svara part of the gīta) while Membranophones (Avanaddha instruments) and also Idiophones (Ghana instruments) provided accompaniment to the song in its rhythm (tāla part of the gīta). Musical instruments had a particular role in dance performances also. Art of dancing was always accompanied by playing on a number of instruments. Dancing was prevalent with vocal and instrumental music in Ṛgvedic age. The Ṛgvedic seer is wonder-struck when he glances at the golden lustre of the newly-arisen dawn and mistakes her for a well-attired pretty danseuse who is adorned with charming youth :

अधि पेशांसि वपते नृतुरिवा।[30]

In this paper, an attempt is made to show the prevalence of musical instruments and instrumental music in Ṛgvedic age on the basis of a few selected references found in the Ṛv. we do not get particular information regarding how these instruments were made, how they were played upon or beaten, what was the material to be played upon etc. in the Ṛv. A more careful study collecting all the relevant references of musical instruments and their playing found in the Ṛv. will definitely shed new light on the instrumental music prevalent in Ṛgvedic age and will open novel horizons for the future researchers.

REFERENCES & NOTES

1. Yājñavalkyasmṛti 3.4.115
2. Hunt, H. Earnest; Spirit and Music, quoted on p. 1.
3. Ibid., quoted on p. 20.
4. Mishra, Lal Mani; Bhāratīya Saṅgīta Vādya, Bharatiya Gyanpeeth Prakashan, 1973, quoted on p.2.
5. Saṅgītaratnākara (Śārṅgadeva) 1.30
6. Śaṅkhāyana Brāhmaṇa 29.5
7. Saṅgītaratnākara 1/21
8. Cf. Kathāsaritsāgara एतद्धि दिव्यं शिल्पं न मानुषम् 25/175
9. Aitareya Brāhmaṇa
10. Ṛgveda (R.V.) 7.32.20
11. Nāṭyaśāstra 28/2
12. Ṛv. 10.32.4 (Sāyaṇa comments : वाणस्य वाद्यस्य सप्तधातुः निषादादिसप्तस्वरोपेतो जनः अभिगच्छति तद्वत् तद्गुणोपेतं भावः)
13. Ibid. - 1.85.10
14. Ibid. - 9.51.1
15. Ibid. - 7.97.8
16. Ibid. - 1.117.8 (Sāyaṇa : कण्वाय क्षोणस्य क्षोणः शब्दकारिवीणाविशेषः महामहतः क्षोणस्य श्रवः शब्दम् अध्यधत्तम् उषसो विज्ञानार्थम् ।
17. Ibid. - 2.43.3
18. Ibid. - 8.69.9
19. Aitareya Āraṇyaka 5.1.5
20. Ibid. - 3/25
21. Mānasollāsa - 3/572
22. Ṛv. - 7.63.1
23. Ibid. - 1.28.5
24. Paranjape, S.S.; Bhāratīya Saṅgīta Kā Itihāsa, p. 22
25. Aitareya Āraṇyaka - 5.1.5
26. Śaṅkhāyana Āraṇyaka - 29.45
27. Saṅgītaratnākara - Vādyādhyāya, P. 483.
28. Kumārasambhava - 11/38
29. Ṛv. - 10.135.7
30. Ibid. - 1.92.4

Hymn to 'Śraddhā' (Ṛv.10.141)

Dr. S.G. Kantawala

The Ṛgveda (=Ṛv.) is the oldest Indo-European literary document which is most important from several points of view. It consists not only of prayers and songs to various gods and goddesses, but it has also some secular and philosophical hymns. It has. a rich mythology. These gods and goddesses are mostly apotheosization of natural phenomena; but there are "some deities that have become divine beings out of abstractions, but they nearly all appear in the latest hymns of the tenth book"[1] of the Ṛv. They are for example "Viśvakarman = 'the world master-builder', Prajāpati = 'the lord of creatures', Śraddhā = 'Faith', Manyu = 'anger' and some similar personification"[2], i.e. to say "of what we would consider a concept or entity is represented as a divine being."[3] These "divinities.....exist mainly in their functions and make their influence felt in those special events.....In their hymns their activity is more emphasised than their persons, abodes, or manner of life."[4]

Śraddhā (Faith) is one of those concepts, as noted above, that belongs to this class. The concept of Śraddhā or say the quality of Śraddhā is highly eulogised in ancient Indian literature.[5]

There is a small beautiful hymn in honour of "Śraddhā" in the tenth maṇḍala (Book) of the Ṛv. It consists of five stanzas (ṛcs) in the anuṣṭup metre and its seeress (ṛṣikā) is Śraddhā Kāmāyanī of the Kāma gotra. The vocable Śraddhā occurs 14 times in this small hymn and this statistical figure tends to bring out its importance as implied by the seeress. This vocable and the vocable Śrat occur also elsewhere in the Ṛv. independently and the former occurs also in a compound word as one of its members. Śraddhā is so called on account of being based on truth (Śrat).[6] Durga remarks that Śraddhā means that intuitive attitude which one assumes towards religion and spiritual matters and which does not undergo any change. The tutelary deity of this intuition is called Śraddhā[7] and he explains Śrat as Satya and identifies it with Agni.[8]

Translation :

For ready reference the hymn may be given here in translation :

1. "Our fire is kindled through faith; our oblation is poured through faith. With our hymn, we declare Faith as standing at the top of Fortune.

2. O Faith, make this our speech beloved of him who gives, of him who also desires to give; make it beloved among the patrons and among the sacrificers.

3. Just as the gods developed (lit. deposited) their faith in the fierce Asuras[9] (i.e. about the powers of these latter), so make our words (dearly beloved) among our patrons and sacrificers.

Professor and Head, Dept. of Sanskrit, Pali & Prakrit, Baroda University, Baroda (Ex)

4. The gods led by Vāyu, honour faith, when they sacrifice. A man obtains faith by the strong urge of the heart and then gets wealth by faith.

5. We invoke Śraddhā in the morning, Śraddhā at mid-day, and Śraddhā at the setting of the sun. "O Śraddhā, makes us full of faith"[10] The hymn "stresses the importance of Śraddhā or Faith or depth of feelings etc."[11]

Discussion :

As noted earlier the vocable Śraddhā is derivable from śrat + dhā.[12] The morpheme śrat in the compound word signifies" heart".[13] It is comparable with L. cor, cord, G.K. Kardia and Ker and English cardic.[14] In the context of Indra Gṛtsamada exhorts the people with words 'śrad asmai dhatta (Ṛv. 2.12.5) in the famous sajanīyasūkta, i.e. "place heart for (i.e. in) him", i.e. to say "put faith in him" or "have faith in him", "have trust for him". Note the use of 'śrat + dhā here. The ṛc 4a clearly states that a man obtains faith by the strong urge of the heart as noted earlier. This shows that this feeling is connected with heart, hence the vocable "śraddhā" means "putting trust, depth of feelings, devotion". It is a cardic feeling and "faith" is "trust,.......belief not substantiated by proof; spiritual acceptance of truth or realities not certified by reason."[15] It is also "belief in God."[16] A related word with śrat/hṛd is manas (mind), which is to be distinguished from it. The latter, i.e. manas represents faculty of thinking, of reason, while the former, i.e. śrat/hṛd represents the faculty of feeling, faith, trust. It should be observed that Śraddhā does not represent "blind faith or trust."

In spiritual matters and attainments śraddhā' (faith) plays an important role. It is equally the presiding deity of covetable wealth. It is in the vanguard of prosperity and fortune. Seers of the Upaniṣads, amply sing its significance, when it is spoken of as śiras of Puruṣa (Taittirīya Upaniṣad 2.3) or when they point out that the work is more successful, efficacious, if it is done with faith and knowledge (Chāndogya Upaniṣad 1.1.10).

In the hymn the abstract concept of Śraddhā' (faith) is personified and deified and this is taken as the presiding deity. This apotheosis-aspect is inherited in later literature and it is spoken of as a form of goddess in the famous line "ya devī sarvabhūteṣu śraddhārūpeṇa saṁsthitā" (Saptaśatī 5.50, 51, 52). The hymn brings out Śraddhā's greatness and glory together with its functions. Oblations offered with faith are acceptable to gods and oblations offered without faith are not acceptable to gods according to a text cited by Durga.[17] This suggests that faith and devotion are necessary in the successful achievement of an undertaking whether spiritual or temporal. Even gods are said to offer sacrifice with faith (cf. stanza 4).

Sacrifice was at the centre of the life of the Vedic people and it is quite in the fitness of things that the seeress requests Śraddhā to make her speech so mellifluous that it is loved by the patrons (donors and prospective donors) and sacrificers as well to cause the flow of rich gifts. This brings out the practical significance of priyam uditam (stz. 2). This reminds one of the injunction : 'priyam brūyāt".

In the end it may be observed that the seeress describes and elucidates the powers of Śraddhā', its functions and beneficial and beneficent activities. In this hymn there is hardly any thing of description of qualities or physique or distinctive features or characteristics or characterisation. It is in this respect that this hymn (and also other hymns of this class) differs from hymns to other divinities, e.g. those to Indra, Varuṇa, Agni, Aśvins etc., wherein there is characterisation, mention of associates, etc. The hymn suggests the importance of Śraddhā' in the spiritual and worldly achievements and progress.

REFERENCES & NOTES

1. Wintermitz M., A History of Indian Literature, Vol. I, p. 78.
2. Winternity M., op.cit., p. 78.
3. Gonda J., Vedic Literature, (A History of Indian Literature, Vol. I, Fasc. 1), p. 94.
4. Gonda J., op.cit., p. 94.
5. For its treatment vide Pendse G.S. The vedic concept of Śraddhā, Pune, 1977.
6. Vide Nirukta 9.30.
7. Sarup L., The Niruka, English Translation, p. 149 fn. 4, Vide also Durga on Nirukta 9.30, p. 697, (Bhadakamkan's edition.) It is āstikyabuddhi according to him (p. 697), and Sāyaṇa. According to Śaṅkarācārya it is abhilāsaviśeṣa.
8. Vide Nirukta, p. 996.
9. On the meaning of the word asura vide Dandekar R.N., Vedic Mythological Tracts, pp. 53 ff. The stanza intends to imply that the minor gods expressed their faith in the powers and foreposition of the powerful deities.
10. Velankar H.D., Ṛksūktaśatī, p. 309.
11. Velankar H.D., op.cit., p. 309.
12. Hannes skold would like to derive it thus : 'śrad + dhā' (to put faith in) (The Nirukta, p. 341.)
13. A.A. Macdonell observes that 'śrat means "heart" only with dhā (A Vedic Reader, p. 251).
14. Vide The New Webster's Dictionary of the English language, 1979, pp. 238 ; 698 ; Macdonell A.A., op.cit., p. 251.
15. New Webster's Dictionary of the English Language, p. 554.
16. Vide ibid., p. 554. faith L. fidere, trust. (ibid).
17. Nirukta, p. 697.

अइर्यनम् वएज़्ह् का त्रिधा विस्तार और उपलप्रपात

डॉ० हरि शङ्कर त्रिपाठी

सृष्टि की उषस् बेला थी, सभ्यता-सुन्दरी ने मुस्करा दिया, अँगड़ाइयाँ लीं और तब तूइर्य भूमि ने एक अबोध शिशु को जन्म दिया, किलकारियों से प्रकृति का घर आँगन भर गया, वस्वी रसा सरित् ने शिशु के मुख को, कपोल को चूमा, देखते-देखते कई शिशुओं की किलकारियाँ वातावरण में मधु घोलने लगीं । एक शिशु खेलते-खेलते रसा को पार कर उसके पूर्वी तट पर जा पहुँचा। यह नूतन भूमि अइर्यनम् वएज़्ह के नाम से जानी जाती थी । दिति सरित् के तट पर जनरव सुनाई पड़ने लगा । दिति सरित् पर्यन्त भूमि भी दिति कही गयी, एक शिशु दिति पुत्र होने से दैत्य कहा गया। दानु दिति का अन्य पुत्र हुआ। इसी से दानवों की उत्पत्ति हुई।

तूइर्य जन अइर्यनम् वएज़्ह् की सम्पत्ति को लूटने लगा। अइर्यनम् वएज़्ह् को तूइर्यनम् वएज़्ह् के प्रति घृणा हुई । उसे उसने अनइर्यनम् वएज़्ह् 'अनार्यों का देश' कहा । मूलतः ये दोनों आर्य थे। वोउरुकष ज्रयस् इनका पोषक पिता था। दिति वोउरुकष की पत्नी रूपा थी। आर्यों का एक वर्ग दिति भूमि से हट कर भारत आ पहुँचा। यह नूतन भूमि दिति भिन्ना अदिति कही गयी, दिति और अदिति दोनों ही कश्यप की पत्नियाँ थीं, दिति बड़ी थी और अदिति उससे छोटी।

अइर्यनम् वएज़्ह् की धरती धन्य हो उठी, उसकी प्राकृतिक छटा की निश्छल मुस्कान ने मानवों के मन को सुनहरे-रुपहले स्वप्नों से भर दिया । जिजीविषा जाग उठी, हृदयों में स्वप्नों को सजोता, अंगड़ाइयाँ लेता वह उठ खड़ा हुआ । उन्नत आकाश के आनील वितान तले हरित्तृण-संकुल शय्या पर मानवों ने कुलेलें की । शस्यों की श्यामलता धरती पर तिरने लगी । कहीं वह सद्योऽङ्कुरित शष्प संवलित थी तो कहीं सततताश्वशफसमाक्रान्त; कहीं कलकल छल-छल स्वच्छन्द छन्दोनिनाद सुनाई पड़ता था तो कहीं कलकूजित पक्षिकलरवकलितसंगीत कानों में अमृत घोलता था । मेघ विगलित शीकरतति ने उसे सहलाया। पुष्पगुच्छों के सौरभ से आपूरित वात ने अपने स्पर्श से उसमें अमृत घोला।

पृथ्वी सर्वत्र सघन तरुच्छायावितानमयी सुषमामयी थी, कहीं पर्याप्तपुष्पप्रकरप्रकटितसौन्दर्यप्रकर्षा तो कहीं-कहीं प्रभूत फलगुच्छच्छटाभरभरिता थी । समग्र जीव जीवनदायिनी दिति का तट घूमते-टहलते जुगाली करते पशुओं से समाकुल हो उठा । मानव जीवन सततसमग्रसौविध्यसंयुत था, सौमनस्ययुत था । सभ्यता सुन्दरी ने यहीं आँख-मिचौनी खेली । जीवनपद्धतियों का जन्म हुआ।

धीरे-धीरे सर्वसौन्दर्यसौविध्यप्रदायिनी प्राणरूपिणी दिति सरित् और उसकी पर्यन्तभूमि मानवों और पशुओं के लिए अपर्याप्त होती दीख पड़ी। कृषि सम्पत्ति क्षीणप्राय होने लगी। किन्तु लोगों में उच्छिखजिजीविषा थी, जीवन जीने की उदग्र आकांक्षा थी, साहस था, शौर्य और धैर्य था । साहसी शूर किसी का मुखापेक्षी नहीं होता है। वह जीवन को भरपूर जीने का उपाय खोजने

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लगा। सोमसावी शासक सोष्यान्स् ने प्रजा की सुचारु व्यवस्था के लिए विधिनिर्माण किया । इसीलिए वह परधात 'उत्तम विधि निर्माता' कहा जाने लगा । उसके बाद उसका पुत्र तक्ष्मवर्पस् पुनः द्वितीय पुत्र विवस्वान् का पुत्र यम शासक हुआ । प्रजाओं पर संकट देखकर असुर ने यम को असुरधर्मोपदेश के लिए नियुक्त करना चाहा—''वीसङ्घ मे! यिम सीर वीवङ्हन! मॅरॅतो बॅरॅत च दएननाो।'' यम ने इस कार्य में अपनी असमर्थता व्यक्त की—''नोइत् दातो अह्मि नोइत् चिस्तो मॅरॅतो बॅरॅत च दएनयाो'' (न तो मैं धर्मोपदेश के लिए रचित हूँ और न ही उपदेशक और प्रचारक होने के लिए प्रशिक्षित हूँ)। धर्मोपदेशक का कार्य अत्यन्त दुष्कर होता है। यम द्वारा इस कार्य को अस्वीकार किये जाने पर असुर ने यम पर प्रजापालन का भार सौंपा—''येज़ि मे नोइत् वीवीसे मॅरॅतो बॅरॅत च दएनयाो आअत् मे गएथयाो फ्राधय आअत् मे गएथयाो वॅरॅधय आअत् मे बीसाइ गएथनाम् थ्राता च हरता च अइव्याक्ष्त च।।'' विदएव-दात २.४। (यदि तुम धर्म का उपदेश तथा प्रचार स्वीकार नहीं करते हो तो मेरी सृष्टि का पालन करो, मेरी सृष्टि का संवर्धन करो, मेरी सृष्टि के रक्षक, पालक और निरीक्षक होना स्वीकार करो)।

यम ने असुर के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया—''अज़ॅम् ते गएथयाो फ्राधयेनि अज़ॅम् ते गएथयो वॅरॅधयेनि अज़ॅम् ते वीसाने गएथनाम् थ्राता च हरॅता च अइव्याक्ष्त च नो इत्त् मन क्षथ्रे ब्वत् अओतो वातो नोइत् गरॅमो नोइत् अक्ष्तिश् मह्को''।। वीदएव-दात २.५। (मैं तुम्हारी सृष्टि को प्रवृद्ध करूँ, मैं तुम्हारी सृष्टि को समृद्ध करूँ, मैं तुम्हारी सृष्टि का त्राता, भर्ता और अध्यक्ष होने को सन्नद्ध हूँ । मेरे शासन में न शीतवात हो, न ऊष्णता, न रोग और न ही मृत्यु) असुर को भी यह प्रस्ताव स्वीकार था। उसने यम को हिरण्यमयी शुभ्रा और हिरण्यमयी अश्त्रा नामक दो अस्त्र प्रदान किए । ''आअत् हे ज़य फ्रबरॅम् अज़ॅम् यो अहुरो मज़्दाो सुब्राम् ज़रनएनीम्, अश्त्राम् च ज़रन्योपएसीम्''।। वीदएव-दात २.६।

यम पशुपालक राजा (पास्चौरल किंग) था । शुभ्रा और अस्त्रा इसी के प्रतीक हैं । उसने कुशलतापूर्वक अइर्यनम् वएज़ह् पर शासन किया । प्रजा सुखी एवम् सन्तुष्ट थी। धीरे-धीरे यम के शासन के तीन सौ वर्ष बीत गये। पृथ्वी (भूमि) थोड़ी थी। मनुष्यों, पशुओं तथा पक्षियों के लिए स्थान का अभाव प्रतीत होने लगा । स्थानाभाव के कारण असीविध्य बढ़ने लगा—''आअत् यिमाइ क्षथ्राइ थ्रिसतो-ज़िम हॅन्जसॅन्त । आअत् हे ईम् ज़ाो ब्वत् परने पस्वाम् च स्तओरनाम् च मश्यानाम् च सूनाम् च वयाम् च आथ्राम् च सुख्राम् सओचिन्ताम् नोइत् हीम् गातवो विन्दॅन्। पस्वस्च स्तओरा च मश्या च।'' वीदएव-दात २.८। यम के शासन के तीन सौ वर्ष बीत गये। इसके पश्चात् पृथ्वी लघु पशुओं, विशाल पशुओं, मानवों, श्वानों तथा पक्षियों और सुप्रज्वलित अग्नि से भर गयी । इन सब के लिए स्थान नहीं रह गया। असुर को जीवों के विषय में चिन्ता हुई। उसने पृथ्वी (भूमि) की इस लघुता की सूचना यम को दी और पशुओं, स्तोरों, मर्त्यों, श्वानों व पक्षियों के लिए कम होते हुए स्थान के विषय में निर्देश दिया—''आअत् यिमाइ पइति वएधएम् ! यिम सीर वीवङ्हन ! पॅरॅने ईम् ज़ाो हन्ात पस्वाम् च स्तओरनाम् च मश्यानाम् च सूनाम् च वयाम् च आथ्राम् च सुख्राम् सओचिन्ताम् । नो इत् हीम् गात्वो विन्दन्ति पस्वस्च स्तओरा च मश्या च ।। वीदएव दात २.६। यम के मन में करुणा का सञ्चार हुआ । उसको पृथ्वी (भूमि) की स्वल्पता का आभास हुआ । उसे चिन्ता हुई पृथ्वी (भूमि) की अल्पता की, मानवों के कष्ट की, पशुओं और पक्षियों के कष्ट की । यम ने विचार किया । विचार करने के पश्चात् उसने पृथ्वी को फैलाने (प्रथित करने) की सोची । उसने पृथ्वी को प्रथित किया—''आअत् यिमो फ्रषुसत् रओचाो आ उप रपिथ्वाम् हू पइति अध्वनम्। हो इमाम् ज़ाम् अइविष्वत् सुव्रय ज़रनएन्य अवि दिम् सिफ़त् अश्त्रया उइत्यओजनो-फ्रिथ स्पॅन्त आर्मइते फ्रचष्व वीच नॅमङ्ह बरॅथे पस्वाम् च स्तओरनाम् च मश्यानाम् च''।। वीदएव-दात २.१०। (तब यम सूर्य दक्षिण की ओर बढ़ा। उसने इस पृथ्वी को हिरण्यमयी शुभ्रा से ठोंका । पुनः 'प्रिये ! शिवे अरम्मते! आगे बढ़ो; लघु पशुओं, विशाल पशुओं तथा मानवों को धारण करने के लिए पृथ्वी का विस्तार करो' - यह कहता हुआ अश्त्रा से पृथ्वी का स्पर्श किया) स्पर्श के पश्चात् यम ने पृथ्वी

को एक तिहाई बढ़ा दिया ''आअत् यिमो इमाम् ज़ाम् वीषावयत् अएवोथिष्व अह्यात् मस्येहीम् यथ पर अह्यात् अस् । तॅम् इथ्र फ्रचरॅन्त पस्वस्च स्तओरा च मश्या च ह्वाम् अनु इश्तीम् ज़ओषॅम् च यथ कथ च हे ज़ओषो''।। वीदएव-दात २.११। (तब यम ने इस पृथ्वी को फैला दिया; पहले की अपेक्षा एक तिहाई बड़ी कर दिया । इसके ऊपर पशु, स्तोर, मर्त्य, स्वेच्छानुसार, खुशी से, जैसी इनकी इच्छा हुई विचरण करने लगे।)

धीरे-धीरे पुनः सृष्टि का विकास हुआ। जनसंख्या बढ़ गयी। पशु भी प्रभूत मात्रा में हो गये। खाने की कमी होने लगी । चरागाह कम पड़ गया । लोगों को असुविधा होने लगी थी। यम के शासन के छह सौ वर्ष हो चुके थे । लोगों का जीवन दुर्भर और कठिन हो गया था। कृषि अभी प्रारम्भ नहीं हुई थी । मानव, पशु व पक्षी कठोर जीवन-यापन करने लगे । ''यिमाइ क्षथ्राइ क्ष्वश्-सतो-ज़िम हॅन्जसॅन्त । आअत् हे ईम् ज़ो ब्वत् परने पस्वाम् च स्तओरनाम् च मश्यानाम् च वयनाम् च आथ्राम् च सुख्राम् सओचिन्ताम् । नोइत् हीम् गातबो विन्दन् पस्वस्च स्तओरा च मश्या च।''।।वीदएव-दात २.१२।

यम पुनः दक्षिणगामी मार्ग को चला । उसने हिरण्यमयी शुभ्रा से पृथ्वी को पीटा । आर्मइति अहुर की पत्नी है, पृथ्वी का यजतीकृत रूप है। वैदिक और लौकिक संस्कृत में भी तो पृथ्वी को देवाधिदेव की पत्नी कहा गया है । इसीलिए उसने यह कहते हुए 'प्रिये ! शिवे अरम्-मते ! आगे बढ़ो और पशुओं व मानवों को धारण करने के लिए पृथ्वी का विस्तार करो'। यम ने इस पृथ्वी को पहले की अपेक्षा दो-तिहाई और बढ़ा दिया। तब पशु, स्तोर, मानव स्वेच्छानुसार विचरण करने लगे—''आअत् यिमो इमाम् ज़ाम् विषावयत् द्व-थ्रिष्व अह्यात् मस्येहीम् यथ पर अह्यात् अस् । तॅम् इथ्र फ्रचरॅन्त पस्वस्च स्तओरा च मश्या च ह्वाम् अनु इश्तीम् ज़ओषॅम् च यथ कथ हे ज़ओषषो।। वीदएव-दात २.१५।।

यम को शासन करते हुए नौ सौ साल बीत गये । मानवों की संख्या बढ़ी और पशुओं का प्रभूत प्राचुर्य हुआ । रहने के लिए स्थान न बचा। पुनः तृतीय बार स्थान का अभाव हो गया। ''आअत् यिमाइ क्षथ्राइ नवसतो-ज़िम हॅन्जसॅन्तो । आअत् हे ईम् जो ब्वत् पॅरॅने पस्वाम् च स्तओरनाम् च मश्यानाम् च सूनाम् च वयाम् च आथ्राम् च सुख्राम् सओचिन्ताम् नोइत् हीम् गात्वो विन्दॅन् पस्वस्च स्तओरा च मश्या च।''।। वीदएव-दात २.१६। असुर ने पुनः यम को पृथ्वी की न्यूनता का निर्देश किया । मानवों और पशुओं का संकट बताया । यम के पास कोई उपाय न था। उसने पुनः कुछ करने के लिए विचार किया । वह दक्षिण मार्ग पर कुछ आगे बढ़ा । उसने पुनः तीसरी बार हिरण्यमयी शुभ्रा से पृथ्वी पर आघात किया । हिरण्यपेशी अश्त्रा से स्पर्श किया। उसने अरॅम्-मति से निवेदन किया—''प्रिये ! शिवे अरॅम्-मते ! आगे बढ़ो। मानवों और पशुओं को धारण करने के लिए पृथ्वी को बढ़ा दो ।'' पुनः यम ने स्वयं ही पृथ्वी को तीसरी बार बढ़ा दिया—'' आअत् यिमो इमाम् ज़ाम् विषावयत् थ्रिब्यो थ्रिष्वएइब्यो अह्यात् मस्येहीम् यथ पर अह्यात् अस्तॅम्। इथ्र फ्रचरॅन्त पस्वस्च स्तओरा च मश्या च ह्वाम् अनु उश्तीम् ज़ओषॅम् च यथ कथ च हे ज़ओषो ''।। वीदएव-दात २.१६। (तब यम ने इस पृथ्वी को बढ़ा दिया । उसने इसे पहले की अपेक्षा तीन-तिहाई बड़ी कर दिया । पुनः यहाँ लघु पशु, विशाल पशु तथा मानव स्वेच्छा से, अनुरुचि से, जैसी भी उनकी इच्छा हुई, विचरण करने लगे ।)

पृथ्वी के त्रिधा विस्तार की यह कथा आर्यों के अइर्यनम् वएज़ह् में प्रसार की कथा है। यम पशुपालक ह्वाथ्व शासक था। वह विशाल एवम् अनेकानेक पशु समूहों का स्वामी था। पशु समूह और मानव समूह की शक्ति ही उस समय शक्ति के आकलन का मानदण्ड था। सबसे अधिक शक्तिशाली ही शासक होता था । पशुओं के पालन एवं संरक्षण के लिए कुत्तों को प्रशिक्षित किया जाता था । यम पशुपालक शासक था । यम के दो श्वानों का ऋग्वेद में भी वर्णन है । 'यमं राजानं हविषा दुवस्यत' आदि अनेक प्रसंगों में उसे राजा कहा गया है । यम दक्षिण दिशा में पितरों का स्वामी कहा गया है । उसने दक्षिण में पृथ्वी का

विस्तार किया । 'ऋतेन पुत्रो अदिते ऋता वात त्रिधातु पप्रथद् विभूम' (ऋग्वेद ४.४२.४) में पृथ्वी का यह त्रेधा प्रथन कथित है। ऋग्वेद (७.५५) में यम के नगर में प्रवेश करने वाले पशुचौर के द्वारा श्वानों को सुलाने के मंत्र हैं । ये श्वान पशुरक्षक हैं। मंत्र एवंविध है—"यदर्जुन सारमेय द्रुतः पिशङ्ग यच्छसे। वीव भ्राजन्त ऋष्टय उप स्रक्केषु बप्सतो नि षु स्वप ।। स्तेन राय सारमेय तस्करं वा पुनः सा । स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मादुच्छुनायसे नित्वं सूकरस्यं दद्दहितवे दर्दर्तु सूकरः स्तो०। ऋग्वेद ७.५५. २-३-४।

असुर ने सर्वप्रथम श्रेष्ठ अइर्यनम् वएज़ह् का निर्माण किया। अङ्ग्रोमन्यु, ने इसके विपरीत सर्प और बर्फ का निर्माण किया। अतएव प्रथमतः अइर्यनम् वएज़ह की जलवायु ठीक थी। शीत प्रपात के समय वर्ष में दश मास की शीत ऋतु और दो मास की ग्रीष्म ऋतु होती थी । पह्लवी ग्रंथ के अनुसार वर्ष में सात मास की शीत तथा पांच मास की ग्रीष्म ऋतु होती थी। किन्तु यह ऋतुविभाग ससैनियन कालीन अतएव परवर्ती है । तब तक ऋतु में अन्तर अवश्य आ गया था। इन प्रसंगों से अवेस्तीय जनों के दक्षिण दिशा में त्रिधा प्रसार की घटना प्रमाणित होती है।

अइर्यनम् वएज़ह् की सघन हरितवर्णा भूमि पृथ्वी का स्वर्ग था। असुर ने १३ देशों की रचना की थी । उसने श्रेष्ठ 'अइर्य' जाति को बनाया। उसने अइर्यनम् वएज़ह् (आर्याणाम् व्यचस्) की रचना की। अइर्यनाम् व्यचस् उसकी श्रेष्ठ और प्रथम रचना थी। अहुरमन्यु असुर की सृष्टि का विरोधी था। वह सत्सृष्टिद्विट् था । उसने श्रेष्ठ अइर्यनम् वएज़ह् की सौम्य शान्त सुखी सत्सृष्टि पर कहर ढहाने की ठानी । असुर को उसकी दुर्भावना का ज्ञान हुआ । उसने यम को अपनी सत्सृष्टि की सुरक्षा का आदेश किया। असुर ने उसे वॅरॅप् बनाने की आज्ञा दी—"हन्जमनॅम् फ्रबरत हो यो दध्वो अहुरो मज़्दाो हग्र मइन्यओइब्यो यज़तएइब्यो स्रूतो अइर्येने वएज़हे वङ्हुयाो दाइत्ययाो। हन्जॅमनॅम् फ्रबरत हो यो यिमो क्षएतो ह्वाथ्वो हग्र वहिश्तएइब्यो मश्याकएइब्यो स्रूतो अइर्येने वएज़हे वङ्हुयो दाइतयाो"।। वीदएव-दात २.२०। (जो सृष्टिकृत असुरमेधा है, उसने दिव्य यजनों के साथ प्रसिद्ध अइर्यनम् वएजह् में वस्वी दिति नदी के तट पर संगमन किया, सभा बुलायी, जो यमक्षयत ह्वाथ्व है, उसने श्रेष्ठ मानवों के प्रसिद्ध अइर्यनम् वएज़ह् में वस्वी दिति के तट पर संगमन किया।)

असुर ने यम को अङ्ग्रोमन्यु के प्रकोपकृत उपलप्रपात की सूचना दी । उसने कहा कि पापरूपा उपलवृष्टि सत्सृष्टि को नष्ट करेगी । उपलवृष्टि अतितीक्ष्ण और मारक होगी—"आअत् अओख्त अहुरो मज़्दाो यिमाइ—'यिम स्रीर वीवङ्हन अवि अहूम् अस्त्वन्तम् अघॅम् ज़िमो ज़ङ्हन्तु, यह्मात् ह्य स्तख्रो म्रूरो ज्याो, अवि अहूम्, अस्त्वन्तॅम् अघॅम् ज़िमो जङ्हन्तु यह्मात् हच पउर्वो स्नओधो वफ्र स्नएज़ात् बॅरॅज़िश्तए दिब्यो गइरिब्यो वाष्नुब्यो अरदुयाो"। वीदएव-दात २.२२।

"थ्रिज़त् च इध यिम् गेउश् अपजसत् यत् च अङ्हतॅ थ्वास्तमएषु असङ्हाम् यत् च अङ्हत् बॅरॅष्नुश् पइति गइरिनाम् यत् च ज़ाफ्नुष्व पख्रमएषु न्मानएषु।। वीदएव-दात २.२३। (यहाँ तीनों प्रकार के पशु नष्ट हो जायेंगे, जो भयंकर स्थानों में हैं जो पर्वत शिखरों पर हैं, जो घाटियों में हैं, जो पक्के या छतयुक्त घरों में हैं)। पुनः असुर ने कहा—"परो ज़िमो अएतङ्हो दङ्हेउश् अङ्हत् बॅरॅतो वास्त्रॅम् तॅम् आफ्श् पउर्व वज़इध्याइ पश्च वीतख्तिग्र वफ्रहे अब्द च इध, यिम ! अङ्हे अस्त्वइते सदयात् यत् इध पसेउश् अनुमयेहे पधम् वएनाते"।। वीदएव-दात २.२४। (उपलवृष्टि से पूर्व इस देश में पर्याप्त चरागाह हो सकते हैं । बर्फ पिघलने पर सिंचाई के लिए पर्याप्त जल हो सकता है किन्तु भौतिक जगत् के द्वारा अनाक्रान्त इस भूमि पर केवल मेष के पदचिह्न देखे जा सकते हैं।) "आअत् तॅम् वॅरॅम् करॅनॅव चरॅतु-द्राजो कॅमृचित् पइति चथ्रुषनाम्, हग्र तओख्म उप-बर पश्वाम् च स्तओरनाम् च मश्यानाम् च सूनाम् च वयाम् च आथ्राम् च सुख्राम् सओचिन्ताम् । आअत् तम् वरम् कॅरॅनव चरॅतुद्राजो कमृचित् पइति चथ्रुषनाम् नराम् अइविक्षोइथ्ने चरतुद्राजो कमृचित् पइति चथ्रुषनाम् गवाम् गावयनम्।।" वीदएव-दात २.२५।। (इसके पश्चात् उसको चतुर्दिक चरतु के बराबर की लम्बाई वाला बनाओ। वहाँ लघु पशुओं, विशाल पशुओं, मानवों, स्वानों, पक्षियों कान्त ज्वालायुक्त

अग्नि के बीज को संग्रहीत करो । उस वर को मानवों के रहने के लिए चतुर्दिक् चरतु के बराबर लम्बाई वाला करो । दूसरा चरतु की बराबर लम्बाई वाला पशुओं के लिए पशुस्थान बनाओ। '' हथ्र आपॅम् फ्रातत्चय हाथ्रो-मसङ्हॅम् अध्वनॅम् हथ्र मरघो अवस्तय [अविमत् ज़इरिगओनॅम् मत्क्षइयेइते अज्यम्नॅम्] हथ्र न्मानो अपस्तय कर्तॅम् च फ्रस्कम्बॅम् च फ्रवारम् च पइरिवारम् च''।। वीदएव-दात २.२६।। (वहाँ जल को एक हाथ लम्बाई वाला जलमार्ग से बहाने वाला कर दो, वहीं मैदानों को हरितवर्ण, अक्षय भोज्य युक्त करो, वहाँ गृहों को, लघु गृहों को छतों से युक्त, आँगन तथा चहारदीवारी बनाओ।) ''फ्रतमॅम् दङ्देउश् नव पॅरॅथ्वो कॅरॅनव मर्धमो क्ष्वश्, तितॅमो तिम्रो, फ्रतमॅम् परथ्वो हजङ्रम् नराम् नाइरिनाम् च तओख्म उपबर मधमो क्ष्वश्-सत नितॅमो तिम्रो सत। अइविचते वरफ्ष्व सुव्रय ज़रनएन्य; अपि च तॅम् वरॅम् मरॅज़ द्वरम् रओचनम् ख्वारओक्षॅम् अन्तर-नएमात्''।। वीदएव-दात २.३०। (इस देश के प्रथम भाग में नौ, मध्य में छह तथा निचले भाग में तीन मार्गों का निर्माण कराओ। प्रथम भाग में नर-नारी के हज़ार बीज रखो, मध्य में छह सौ तथा निचले में तीन सौ लोगों के बीज रखो । उन्हें हिरण्यमयी शुभ्रा से बर में हाँकोगो। उस वर को द्वारों और रोशनदानों से सज्जित करो जो स्वतः अन्दर की ओर प्रकाश करें।)

यम विचार करने लगा—''मैं असुर द्वारा निर्दिष्ट वर का निर्माण किस प्रकार करूँगा ?'' तब अहुर ने स्वयं कहा—''यिम स्रीर वीवङ्हन ! अइङ्हाॅ ज़मो प्राष्नाब्य वीस्पर ज़स्तएव्य वीखद मानयन् अहे यथ नू मश्याक क्ष्नस्ति ज़ॅमे वीषावयेइन्ते''।। वीदएव-दात २.३१।

(यम ने वैसा ही किया । तब असुर ने प्रत्युत्तर किया—''ख्वधात च रओचो स्तिधात च हकॅरॅत् ज़ी इरिख्त हे सधय च वएनइते स्तरस्च मोस् च ह्वरच, तएच अयरॅ मइन्येन्ते यत् यार''।। वीदएव-दात २.३२)।। (कृत्रिम प्रकाश तथा प्राकृतिक प्रकाश दोनों वर्ष में एक बार अस्त और उदित होते हैं - चन्द्रमा और सूर्य, वे वर्ष एक दिन के बराबर प्रतीत होते हैं।)

यम का वर वस्तुतः पृथ्वी के भीतर बहुभूमिक व्यवस्थित एक नगर था। दो मील लम्बाई तथा दो मील चौड़ाई में बसा था। नगर तीन भागों में विभक्त था। प्रत्येक में जनसंख्या पृथक्-पृथक् नियत थी । नगर में जल निकास की व्यवस्था थी। उसमें सड़कें भी थीं। कृत्रिम प्रकाश की व्यवस्था थी। बहुभूमिक आवास थे। .....दमान प्रवार 'आँगन' था। उनमें पइरिवर 'चहारदीवारें' थीं। यह प्रथम नगरीय व्यवस्था थी। सिन्धु घाटी की खुदाई से प्राप्त नगर इसी का एक रूप मात्र था। संस्कृत में दृंघ् (दृह, दृंह) से बना पद है द्रन्ग जिसका अर्थ होता है नगर। द्र का ज् हो गया है, पुनः ज और ग में स्थान विपर्यय से गन्ज बना है। गन्ज किले की तरह दीवारों वाले स्थानों का ही वाचक है। द्र के लोप और र के पश्चगमन से यही द्रन्ग 'नगर' हुआ है। इसी से दुर्ग शब्द उद्भूत है। नगरीय सभ्यता के प्रथम प्रणयन का श्रेय यम को जाता है। वह प्रथम नगर निर्माणकृत् है।

भारतीय मनु वैवस्वत् यम का ही नामान्तर है । यम शासक विधि निर्माता परधातकुलीय था । परधात का भी अर्थ विधि निर्माता है । मनुस्मृति यम के नाम पर लिखी परवर्ती रचना है । मनु वैवस्वत पद 'अइर्यनम् वएज़ह् के यम के ही वाचक पद हैं। यह पशुपालक शासक था। पशु की रक्षा व नगर रक्षा कुत्तों से की जाती थी । वैदिक सरमा-पणि संवाद में सरमा शुनी पणियों द्वारा चुराई गई गायों का पता लगाती है। यम के दोनों कुत्ते सारमेय कहे गये हैं। भारतीय श्वा-वाहन भैरव क्षेत्रपाल इसी यम की स्मृति के अवशेष मात्र हैं। मन्वन्तर कल्पना भी इसी यम के नाम पर आधृत है । यम के समय में प्रलय और पुनः सृष्ट्यर्थ वर निर्माण पर ही कल्पान्त की कल्पना का विकास हुआ है।

भारतीय साहित्य में इसी उपल प्रपात कथा का ही विकास जल प्लावन कथा के रूप में हुआ है जो शतपथ ब्राह्मण १.६.३, महाभारत वनपर्व १८७, मत्स्यपुराण १ भाग ८.२४ में वर्णित है । इन कथाओं का मूल उपल प्रपात और यम के वर निर्माण से

ही विकसित है । यह घटना ग्लैसिक पीरियड के अन्त में घटी होगी । (आर्कटिक होम इन वेदाज़, तिलक) यही घटना वीदएव-दात में भी वर्णित है । उस समय जाड़ा दश माह तक व गर्मी दो माह होती थी । यह ग्रन्थ जाड़ा के ७ और गर्मी के ५ माह वाले वर्ष का वर्णन करता है। यह ग्रन्थ ससैनियन कालीन स्थिति का निर्देश करता है। एक दिन एक वर्ष का होता था। नर्यो संघ भी हरावृहती को ही मेरु मानता है।

वैदिक साहित्य में लगभग इसी प्रकार की घटना का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में जल प्लावन के कारण प्रजाओं के विनाश की कथा है। घटना मनु के समय घटित हुई है। कथा इस प्रकार है —"मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजहुर्य्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाऽऽहरन्त्येवं तस्याऽवनेनिजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपेदे ।।१।। स हाऽस्मै व्याचमुवाद । बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्तयौघ ऽइमाः सर्वा प्रजा निर्व्वोढ़ा ततस्त्वा पारयिताऽस्मीति कथं ते भृतिरिति ।।2।। स होवाच । यावद्वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवन्ति उत मत्स्यऽ एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माऽग्रे बिभरासि स यदा तामतिवर्द्धे ऽअथ कर्षूं खात्त्वा तस्यां मा बिभरासि स यदा तामतिवर्द्धे ऽअथ मा समुद्रमभ्यवहरासि तर्हि वा ऽअतिनाष्ट्रोभविताऽस्मीति ।।३।। शश्वद्ध झष ऽआस । स हि ज्येष्ठं वर्द्धतेऽथेतिथी समां तदौघ ऽ आगन्ता तन्मा नावमुपकल्प्योपाऽऽ सासै स ऽऔघ उत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वा पारयिताऽस्मीति।।४।। तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार। स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपाऽऽसाञ्चक्रे सऽऔघ ऽउत्थिते नावमापेदे तम् स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे। तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव्र।।५।। स होवाच । अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीद् यावदुदकं समवायात्तावत्तावदन्वसर्प्पासीति स ह तावत्तावदेवान्ववससर्प तदप्ययेतदुत्तरस्य गिरेर्म्मनोरवसर्प्पणमितिऔघो ह ता सर्वा प्रजा निरुवाहाऽथेह मनुरेवैक परिशिशिषे।।६।। सो ऽर्चन्श्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । तत्राऽपि पाकयज्ञेनेजे स घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्त्यप्सु जुहवाञ्चकार ततः संवत्सरे योषित्सम्बभूव सा ह पिब्द मानेवोदेयाय । तस्यै ह स्म घृतं पदे सन्तिष्ठते तया मित्रावरुणौ सञ्जग्माते।।७।। तां होचतुः काऽसीति। मनोर्दुहितेत्यावयोब्रूष्वेति नेति होवाच यऽएव मामजीजनत तस्यैवाऽहमस्मीति तस्यामपित्वमीषाते तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञावितित्वेयेयाय सा मनुमाजगाम ।।८।। ताम् ह मनुरुवाच काऽसीति। तव दुहितेति कथं भगवति मम दुहितेति या ऽअमूरप्स्वाहुतीरहौषीःगघृतं दधि मस्त्वामिक्षां ततो मामजीजनथाः। साऽऽशीरस्मि तां मा यज्ञेऽवकल्पय यज्ञे चेद्वै माऽवकल्पयिष्यसि बहु प्रजया पशुभिर्भविष्यसि यामु मया काञ्चाऽऽशिषमाशासिष्यसे सा ते सर्वा समर्द्धिष्यतेऽइति तामेतन्नमध्ये यज्ञस्याऽवाह कल्पयन्नमध्य ह्येतद्यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजाऽनुयाजान् ।।९।। तयाऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। तयेमां प्रजातिं प्रजज्ञे येयं मनोः प्रजातिर्य्याम्वेनया काञ्चाऽऽ विषमाशास्त साऽस्मै सर्वा समार्द्धयत्।।१०।। सैषा निदानेन यदिडा।"

कथा का पात्र मनु वस्तुतः यम का विशेषण है । मनु का अर्थ आत्मा, महात्मा है । दोनों घटनाएँ एक हैं। अवेस्तीय यम के समय घटित उपलप्रपात ही शतपथ ब्राह्मण में पुनः रूपान्तर के साथ उल्लिखित हुआ है । मनु पद यम का विशेषण मात्र है 'मनु' का रूपान्तर कुरान और बाइबिल में 'नूह' के रूप में भी हुआ है। सम्भवतः यह घटना खण्डप्रलय के रूप में घटित हुई थी।

यजुर्वेद में यज्ञों की अवधारणा

पं० मूलचन्द अवस्थी

यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान है। वेद का सम्बन्ध ज्ञान से, ज्ञान का सम्बन्ध पदार्थ से तथा पदार्थ का सम्बन्ध विश्व से है। अतः वेद का सीधा सम्बन्ध विश्व से बनता है।

विश्व की सम्पूर्ण रचना, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्र जिस व्यवस्था से चला आ रहा है, चल रहा था और चलेगा, उसे वेद के शब्दों में यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार विश्व में एक विशाल यज्ञ चल रहा है और इस विशाल यज्ञ के अन्दर भी अनेक अवान्तर यज्ञ चल रहे हैं। अतः एक यज्ञ में अनेक यज्ञ चल रहे हैं, चलते रहते हैं और चलते रहेंगे। अणु-परमाणु से महत्तत्त्व तक के समस्त तत्त्वों में पृथक्-पृथक् जो यज्ञ चल रहे हैं, वे इस विश्वरूपी विशाल यज्ञ के अङ्ग बन कर सौन्दर्य, सामञ्जस्य, दिव्य रचना और सृष्टि क्रम की अबाध्य, अविरल, सोद्देश्य और नियमबद्ध गति में सहायक हो रहे हैं।

सृष्टि निर्माण में यज्ञ और उसकी वेदियाँ

वेद विज्ञान का क्रियात्मक दर्शन विश्व के विविध यज्ञों में प्रकट हो रहा है। पृथिवी भी इस दिव्य यज्ञ की एक विशाल वेदी है। पृथ्वी की इस विशाल वेदी में अनेक अवान्तर वेदियाँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी परिधियाँ हैं। इन वेदियों में अग्नि को समृद्ध करने के लिए स्थूल पञ्च महाभूतों का आधान किया जाता है और इस प्रक्रिया से पृथिवीस्थ अग्नि उद्बुद्ध होकर प्राणरूप से वेदी में प्रकट होती है।

यह यज्ञ प्रक्रिया सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व भी अव्यक्त रूप से चल रही थी। इसका प्रत्यक्षीकरण 'विराट्' रूप में सबसे पहले होता है। 'विराट्' में जगत का बीज अंतर्निहित होता है :

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ।[1]

'विराट्' में यज्ञ की प्रक्रिया चल रही है और उसमें 'सर्वहुत' यज्ञ हो रहा है उसमें भी पञ्च की आज्य की आहुतियाँ हो रही हैं और उनसे वायव्य, आरण्य और ग्राम्य पशुओं की अवतारणा और विकास इस विश्व की यज्ञ भूमि में हो रहा है :

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।।[2]

यह 'सर्वहुत' यज्ञ निरन्तर चल रहा है। वायव्य, आरण्य और ग्राम्य जीवधारियों के साथ-साथ समानान्तर रूप से विविध छन्दों में, सृष्टि के ज्ञान एवं व्यवहार हेतु कतिपय ऋषियों की निर्मल, निष्पाप हृदय गुहा में ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मंत्रों एवं ऋचाओं का प्रकाश उद्भासित होता है जो इसी सर्वहुत यज्ञ की प्रक्रिया द्वारा उन ऋषियों के कण्ठ से वैखरी स्थिति को प्राप्त होता है।

प्रबन्धक, आर्य कन्या इण्टर कालेज, इलाहाबाद

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।।[3]

जिस दिव्य सत्ता ने इस सृष्टि यज्ञ का सम्पादन किया, उसने इस यज्ञ के सम्पादन में वसन्त का आज्य (घृत), ग्रीष्म का इध्म और शरत् का हवि के रूप में प्रयोग किया :

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ।।[4]

सृष्टि के आदि ऋषियों और देव पुरुषों ने दिव्य सत्ता द्वारा प्रदत्त इस यज्ञ से ही सृष्टि के कार्यक्रमों को आगे विकसित किया अर्थात् यज्ञ के द्वारा यज्ञों का विकास हुआ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवाः।[5]

यजुर्वेद की उपर्युक्त ऋचाओं द्वारा स्पष्ट है कि सृष्टि में भू-पटल, भूपटल में प्राणियों विशेषकर मानव की अवतारणा यज्ञ द्वारा हुई और मानव से अपेक्षा की गयी कि वह भी यज्ञ-कर्म ही करे और यज्ञों की यह प्रक्रिया अबाध गति से प्रवाहित होती रहे।

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म

शतपथ ब्राह्मण ने यज्ञों को श्रेष्ठतम कर्म माना है। मानव की अनिवार्य आवश्यकता इष् (अन्न) और ऊर्जा है। अन्न से प्राणों को शक्ति प्राप्त होती है और ऊर्जा के द्वारा वह विविध प्रकार के कर्म सम्पादित करता है। मानव को जन्म देकर जन्मदाता ने उससे श्रेष्ठ कर्म करने की अपेक्षा की और श्रेष्ठतम कर्म केवल यज्ञों के द्वारा ही सम्पादित होते हैं। ये यज्ञ कर्म अहिंसक उपायों से ही सम्पादित हों। इन्द्र जैसे ऐश्वर्य की मानव के लिए अपेक्षा की गयी और नीरोग, बलवान् सन्तति का विधान भी यज्ञ द्वारा किया गया। समाज में चोरों का शासन न हो, मानव की प्रत्येक इकाई यजन करती रहे और मानव पृथिवी, पशु और इन्द्रियों का स्वामी बना रहे। इन सब शुभ और आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति यज्ञों द्वारा ही सम्भव है :

।।ओ३म्।। इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्याइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा वस्तेनऽईशत माघशꣳ सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात् वह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ।।[6]

चारों वेदों के प्रथम मन्त्र यज्ञ की प्रेरणा देकर बता रहे हैं कि यज्ञ ही प्रथम एवं प्रधान कर्तव्य है। यजुर्वेद (३१/१६) में बताया गया है कि मानव की प्राथमिक आवश्यकता अन्न और ऊर्जा है और उसकी पूर्ति श्रेष्ठतम कर्म अर्थात् यज्ञ से ही होनी चाहिए। ऋग्वेद में अग्नि को यज्ञ का देवता और ऋत्विक् माना है :

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।[7]

उपर्युक्त मंत्र का देवता अग्नि है और भूलोक का देवता भी अग्नि है। यज्ञ के लिए अग्नि की आवश्यकता है और भौतिक यज्ञ भौतिक अग्नि से सम्पादित होता है तथा अध्यात्म यज्ञ आत्मारूपी अग्नि तथा तदधीन मन चित्तादि अग्नियों द्वारा सम्पादित होते हैं।

सामवेद ने मानव के लिए यज्ञ का फल ''वीतये'' कहा है अर्थात् मानव को प्रकाश, गति, कांति, उत्पत्ति और समृद्धि आदि यज्ञ से ही प्राप्त होती है :

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये निहोता सत्सि बर्हिषि।[8]

यज्ञ मानव का परम धर्म

मानव शरीर परमात्मा ने शुभ एवं श्रेष्ठ कर्म करने के लिए प्रदान किया है। इस शरीर को अत्यन्त पवित्र, श्रेष्ठ, दिव्य एवं शुभ कर्मों से युक्त करना चाहिए। परमात्मा ने यज्ञ कर्म के द्वारा ही जीवात्मा को यह शरीर देकर पृथिवी पर भेजा है और उसके श्रेष्ठ, भद्र एवं शुभ कर्मों की यज्ञ द्वारा ही अपेक्षा की है :

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम् ।
अᳫंहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव ।।[9]

मानव को दिव्य शरीर एवं दिव्य ज्ञान देकर इस भूपटल पर भेजा गया है और उससे अपेक्षा की गयी है कि वह अपने सञ्चित और क्रियमाण फलों को भोगता हुआ अपने लिए अपवर्ग का मार्ग प्रशस्त करता चले। मानव के पास तद् हेतु साधन के रूप में आयु, प्राण, चक्षु, श्रोत्र इत्यादि उपलब्ध हैं। मानव का कर्तव्य है कि वह इन साधनों को योग यज्ञ द्वारा ही सबल एवं समर्थ बनावे :

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां ,
चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां ।
पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ,
प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम ।।[10]

हम अपने प्राण, मन, नेत्र, श्रोत्र, बुद्धि, मन, चित्त इत्यादि समस्त अंगों से यज्ञ कर्म अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म ही करते रहें अर्थात् कानों से भद्र सुनें, आँखों से भद्र को देखें और अपने सुदृढ़ एवं स्थिर अंगों से इस धरा और इस पर बसने वाले दिव्य मानव का हित यज्ञ अथवा श्रेष्ठतम कर्म द्वारा करते रहें :

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ।।[11] (यजु० २५/२१)

जीवन को यज्ञमय बनायें

मानव को आठ चक्र, नवद्वारों वाली देवताओं की पुरी अयोध्यारूपी यह देह यज्ञ द्वारा प्राप्त हुई है। अतः उससे अपेक्षा की गयी है कि वह इससे यज्ञ कर्म करे और अपने सम्पूर्ण जीवन को निष्काम कर्म करते हुए ''इदं न मम'' की भावना से पूरित हो लोक कल्याण की भावनापूर्वक दिव्य बनाता चले।

यज्ञों के अंग

वेदों की ऋचाओं के अनुसार ऋषियों ने यज्ञों को तीन अंगों में विभक्त किया है : देवपूजा, सङ्गतिकरण, दान। पूजा श्रद्धापूर्वक सत्कार एवं सेवा के भाव में निहित है। देवता जड़ एवं चेतन दोनों प्रकार के हैं। जड़ देवताओं में पञ्चमहाभूत - आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा चेतन देवताओं में माता, पिता इत्यादि वृद्ध जन एवं गुरु, आचार्य आते हैं। जड़ देवताओं की पूजा अग्निहोत्र द्वारा प्रतिदिन होनी चाहिए। ऋचाओं एवं मंत्रों के उच्चारण द्वारा आज्य एवं हवि द्वारा आहुतियाँ देकर जड़ देवताओं की पूजा होती है तथा उत्तम अन्न एवं मधुर वचनों के द्वारा चेतन देवताओं की। सङ्गतिकरण में मानव की एकता

द्वारा ऊर्जा के नये नये आयाम प्रकाश में आते हैं और उनके द्वारा मानव जीवन उत्तरोत्तर उन्नति पथ पर अग्रसर होता रहता है। समाज में सामञ्जस्य, एकरसता, भ्रातृभावना तथा परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति कर्तव्य निष्ठा की भावना का उदय मानस मंदिर में सङ्गतिकरण द्वारा होता रहता है। देवपूजा और सङ्गतिकरण में मानव जो अपने हव्य का उपयोग करता है उसे दान कहते हैं । यज्ञ कर्म के पश्चात् जो यज्ञ शेष बचता है वही मानव का भोग्य पदार्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव के तीन प्रकार के कर्तव्य हैं : १. अपने से बड़ों के प्रति, २. समान व्यक्तियों के प्रति और ३. अपने से छोटों के प्रति। यज्ञ का पहिला अंग देवपूजा अपने से बड़ों के प्रति है, दूसरा संगतिकरण समान व्यक्तियों के प्रति तथा तीसरा दान अपने से छोटों के प्रति है।

यज्ञों द्वारा तीनों प्रकार के पापों की हानि

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है : 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः, अर्थात् यज्ञ द्वारा मेघ बनते हैं और मेघों से वर्षा के पश्चात् अन्न की उत्पत्ति होती है जिससे मानव प्राण चलते हैं। वातावरण में प्रदूषण के कारण मेघ प्रदूषित हो जाते हैं। और प्रदूषित जल यदि पृथिवी पर आता है तो मानव का अन्न भी प्रदूषित हो जाता है। प्रदूषित अन्न के सेवन से मानव का शरीर मन और बुद्धि भी प्रदूषित हो जाती है। प्रदूषण से बचने के लिए यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ की आहुतियों का प्रभाव भूमण्डल एवं उससे ऊपर अंतरिक्ष में भी होता है। यज्ञों में प्रदत्त एक-एक आहुति सूक्ष्म रूप में अंतरिक्ष और द्युलोक तक गमन करती है। इस प्रकार यज्ञ विष्णु रूप होकर त्रिलोक में व्याप्त हो जाते हैं।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्[12]

अतः यह निश्चित है कि यज्ञ के द्वारा हमारे आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःख दूर होते हैं और हम इस पृथिवी पर ही स्वर्ग के सुखों के भागीदार बनते हैं । अतः वेदवाणी सत्य है —स्वर्गकामो यजेत्।

सन्दर्भ सङ्केत

1. यजुर्वेद 31/5
2. यजुर्वेद 31/6
3. यजुर्वेद 31/7
4. यजुर्वेद 31/14
5. यजुर्वेद 31/16
6. यजुर्वेद 1/1
7. ऋग्वेद 1/1/1
8. सामवेद 1/1
9. यजुर्वेद 4/13
10. यजुर्वेद 9/21
11. यजुर्वेद 25/21
12. यजुर्वेद 5/15

सामवेद के विषय में कुछ प्रचलित भ्रम और उनका निवारण

डॉ० ओम प्रकाश पाण्डेय

वेदों में, सामवेद का गौरव असन्दिग्ध रूप से सर्वोपरि है । भगवद्‌गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहकर इसकी पुष्टि की है। वेणुनाद से सम्पूर्ण चराचर जगत् को सम्मोहित करने वाले गीतागायक का सामवेद के सन्दर्भ में प्रदर्शित यह समादरभाव अत्यन्त स्वाभाविक ही है।

पश्चिमी विचार-सरणि पर चलने के कारण, विद्वानों में, सामवेद के सन्दर्भ में अनेक भ्रम व्याप्त हैं, जिनका अपनयन आवश्यक है । इनमें से, सर्वाधिक विचारणीय विषय यह है कि सामवेद का स्वरूप क्या है ? जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में, 'गीतिषु सामाख्या' कहकर गीति अथवा गानमात्र में सामवेद के अभिधान को पर्यवसित कर दिया है। इसके आधार पर अनेक विद्वान् मात्र गान ग्रन्थों को ही सामवेद मानते हैं । सत्य इसके विपरीत है । वास्तव में, आर्चिक और गान ग्रन्थ दोनों ही सामवेद हैं । 'साम' की जो व्युत्पत्ति की जाती है, उसमें 'सा' ऋक् का वाचक है और 'अम' गान का । इसीलिए 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते' की मान्यता सर्वत्र प्रचलित है। ये ऋचाएँ ऋग्वेद से नहीं ली गई हैं, स्वयं सामवेद के ही आर्चिक ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। महर्षि जैमिनि का पूर्वोद्‌धृत अभिमत केवल गान के प्राधान्य पर बल देता है, आर्चिक भाग का अपलाप नहीं करता है।

पश्चिमी विद्वानों ने ऋग्वेद और सामवेद की मन्त्र संहिताओं का तुलनात्मक अनुशीलन कर यह मत व्यक्त किया कि सामवेद संहिता में प्रायः ६० मन्त्रों को छोड़कर, अन्य सभी ऋग्वेद संहिता से अवतरित हैं । ये ६० मन्त्र वे स्वतन्त्र मन्त्र हैं, जो ऋग्वेद की प्रलित शाकल संहिता में उपलब्ध नहीं होते । इसका समाधान, सामान्यतः यह कहकर कर दिया जाता है कि ये ऋग्वेद की उन शखाओं से लिये गये हैं, जो आज उपलब्ध नहीं होतीं। शैशिरीया, बाष्कल, आश्वलायनी अथवा माण्डूकायनी शाखाओं में ये मन्त्रभी रहे होंगे । अन्य सभी सामवेदीय मन्त्र ऋग्वेद संहिता से ले लिये गये हैं । मैक्डॉनेल, विण्टरनित्स और कतिपय अन्य पश्चिमीविद्वानों ने अपनी कृतियों में इस तथ्य पर विशेष बल दिया है । इनके अनुकर्त्ता भारतीय विद्‌वानों ने भी इस मत को प्रायः नेत्रनिमीलन पूर्वक ही स्वीकार कर लिया है। किन्तु सामवेद के परम्परागत अध्येता इससे पूर्णतया असहमत हैं । उनकी सुदृढ़ धाणा है कि सामवेद का आर्चिक भाग ऋग्वेद संहिता से अवतरित न होकर स्वतन्त्र है। इन सामनिष्ठ विद्वानों का प्रमुख तर्क, इसन्दर्भ में, यह है कि महत्, रथन्तर, बृहत् प्रभृति बहुसंख्यक सामों के नाम स्वयं ऋग्वेद में हैं ।[1] अभिप्राय यह कि सामों का अस्ति स्वयं मन्त्र दर्शन के प्राचीनतम काल में भी था। इसी कारण ऋग्वेद के संकलन के समय, उसमें भी वे सभी मन्त्र स्वाभाविकरूप से सम्मिलित हो गये, जिनमें सामों का स्पष्ट रूप से, नाम्ना उल्लेख है । फिर यह कैसे स्वीकार किया जाये कि ऋग्वेद के नन्तर उसी सामग्री के आधार पर सामवेद संहिता का संकलन सम्पन्न हुआ । वास्तव में, जिस समय सभी संहिताएँ संकलित हुउसी समय समानान्तर रूप से, सामवेद का आर्चिक ग्रन्थ भी सम्पन्न हुआ । दूसरी बात यह कि सामवेद संहिता की स्वराङ्कन-प्रक्रिया ऋग्वेद संहिता से भिन्न है । सामवेद में उदात्तादि स्वरों का अंकन क्रमशः १, २, ३ से किया जाता है। सामवेद

रीडसंस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय , लखनऊ

संहिता की स्वतन्त्र सत्ता का प्रबल प्रमाण यह भी है कि भाष्यकार उस पर पृथक् रूप से भाष्य-रचना करते हैं । सायणाचार्य प्रभृति परिनिष्ठित भाष्यकार ऋग्वेद संहिता पर व्याख्या करने से यह नहीं मान लेते कि इससे सामवेद संहिता पर भाष्य-प्रणयन की आवश्यकता नहीं है । वे ऋग्वेद और सामवेद की मन्त्र-संहिताओं पर पृथक्-पृथक् भाष्य-प्रणयन करते हैं । इस प्रकार 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते' का मात्र इतना ही अभिप्राय है कि सामगान ऋचा पर आधृत होता है, न कि ऋग्वेद संहिता के मन्त्र पर।

सामवेद के विषय में, एक अन्य भ्रम उसकी शाखाओं के सन्दर्भ में प्रचलित है । व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि के 'एकविंशतिधा बाहवृच्यम्' और 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' प्रभृति वचनों को आधार मानकर विद्वानों ने प्रायः यह विचार प्रकट किया है कि महाभाष्यकार के समय ऋग्वेद की इक्कीस और सामवेद की हजार शाखाएँ प्रचलित थीं । वास्तव में पतञ्जलि के वचनों का यह यथार्थ नहीं है। ऋग्वेद के मन्त्रों के २१ प्रकार छन्दों के त्रिविध (छन्द, अतिच्छन्द इत्यादि) सप्तकों पर आधृत हैं । इसी प्रकार सामगान के बहुसंख्यक प्रकार हैं - पतञ्जलि के कथन का यही वस्तुतः अभिप्राय है। 'सहस्र' शब्द 'सहस्रशीर्षा' के सदृश बहुसंख्यकता अथवा अनन्तता का द्योतक है । शाखाएँ तो सामवेद की प्रमुखतया तीन ही है - जैमिनीया, कौथुमीया और राणायनीया। इनमें भी जैमिनीया प्राचीनतम शाखा है । कौथुमीया और राणायनीया में बहुत अन्तर नहीं है - कुछ उच्चारण भेदमात्र है । दोनों शाखाओं में परस्पर आदान प्रदान का कार्य बहुत बड़े परिमाण में हुआ है । यहाँ तक कि, कौथुमीय श्रौतानुष्ठानों का संपादन लाट्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर कम, और द्राह्यायण श्रौतसूत्र के आधार पर अधिक होता है । ताण्ड्य ब्राह्मण में विष्टुति-वैशिष्ट्य-प्रदर्शन के सन्दर्भ में, भाल्लवि, त्रिखर्व्वा, अभिप्रतारी, करद्विष, प्रावाहण्य प्रभृति जिन लुप्त शाखाओं का उल्लेख हुआ है, वे वास्तव में, गान प्रभेदों पर ही निर्भर थीं।

आर्चिक और गानग्रन्थों के सदृश, सामवेदीय ब्राह्मणों के स्वरूप के विषय में भी कुछ भ्रान्त धारणाएँ व्याप्त हैं । ऐतरेय ब्राह्मण के सदृश ताण्ड्य महाब्राह्मण का परिमाण भी ४० अध्यायात्मक है । २५ अध्याय तक प्रौढ़ अथवा पञ्चविंश, २ से ३०वें अध्याय तक षड्विंश, तदनन्तर आठ अध्याय छान्दोग्योपनिषद् और अन्तिम दो अध्याय केनोपनिषद् के रूप में प्रचलित हैं। इन सभी की सम्मिलित संज्ञा ताण्ड्य ब्राह्मण है । जिस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है, इसी प्रकार छान्दोग्य और केन उपनिषदें ताण्ड्य के अन्त्यांश हैं । प्रथम तीस अध्याय कर्मकाण्ड से सम्बद्ध हैं, छान्दोग्य उपासनाविषयक है, और केनोपनिषद् ज्ञानपरक । सामवेदीय सामविधान ब्राह्मण की विषयवस्तुगत विविधता और व्यापकता को देखकर, कुछ विद्वानों ने, जिनमें आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित विद्वानों की संख्या अधिक है, सामविधान ब्राह्मण को परवर्ती काल में प्रणीत ऋग्विधानादि ग्रन्थों की श्रेणी में रख दिया है, जो अनौचित्यपूर्ण प्रतीत होता है । अन्य विधानपरक ग्रन्थ जहां लौकिक संस्कृत भाषा में और अनुष्टुप् छन्दों में निबद्ध हैं, वहीं सामविधान ब्राह्मण का प्रवचन, ब्राह्मणग्रन्थों की परम्परा में गद्य में है। अन्य ब्राह्मणग्रन्थों के सदृश, उसमें भी सृष्टि-मीमांसा है, आख्यायिकाएँ और निर्वचन हैं । उपर्युक्त विद्वानों की विचार-सरणि केवल इस अंश में ग्राह्य हो सकती है कि सामविधान ब्राह्मण को आदर्श मानकर परवर्ती विधानकारों ने भी कुछ दिशा-दृष्टि प्राप्त की हो। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् की आधार-सामग्री ७५ प्रतिशत एक ही है । हाँ, जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में, कुछ सामग्री अवश्य ऐसी है, जो छान्दोग्य में अनुपलब्ध होने पर भी अनेक प्राचीन आस्थाओं और विश्वासों पर प्रकाश डालती है। यहाँ तक कि तान्त्रिक प्रणाली की श्मशान-साधना भी जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में दिखलाई दे जाती है।

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में उत्तर वैदिक काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति के अध्ययन की पुष्कल सामग्री सर्वाधिक परिमाण में संचित है । वह है वेद के तन्त्रीकरण और तन्त्र के वैदिकीकरण की प्रवृत्ति । वेद के प्रति अभिजातवर्ग की विशेष श्रद्धा होने पर भी, समाज के उन वर्गों में इसका प्रचलन कम था, जो अल्पशिक्षित और अशिक्षित थे। इनमें तांत्रिक प्रणालियाँ अधिक प्रचलित थीं । इन वर्गों में भी सामवेद को लोकप्रियता प्राप्त कराने के लिए उत्तर वैदिक काल में, वैदिक साहित्य में, तांत्रिक साधनाओं को स्थान दिया गया है । इसी के समानान्तर अभिजात वर्ग में, प्रतिष्ठित करने के लिए तन्त्र के भी वैदिकीकरण का समानान्तर प्रयत्न इस युग में परिलक्षित होता है । दुर्गासप्तशती के अध्यायारम्भ में, ऋषि, देवता और वैदिक छन्दों के उल्लेख की पृष्ठभूमि में यही प्रवृत्ति निहित है । सामविधानादि में तांत्रिक अनुष्ठानों की, वैदिक मन्त्रों के विनियोग-विधान पूर्वक प्रस्तुति के अन्त में, साम-गान

की लोकप्रियता का उद्देश्य ही सन्निहित प्रतीत होता है । इस सन्दर्भ में, वेद के तन्त्रीकरण और तन्त्र के वैदिकीकरण की प्रवृत्ति उत्तरवैदिक काल में प्रमुखतया प्राप्त होती है और इसकी अध्ययन-सामग्री के लिए सामवेदीय ब्राह्मण आकर ग्रन्थ हैं।

सामवेदीय-साहित्य में विशेष रूप से इसके ब्राह्मणों और उपनिषदों में धर्म के त्रिविध स्वरूप दिखलाई देते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (२.२३) ने 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' कहकर इसी की पुष्टि की है। धर्म का प्रथम स्कन्ध यागात्मक है, जिसका प्रतिपादन ताण्ड्य और षड्विंश में है। धर्म का द्वितीय रूप कुछ अंश तक तान्त्रिक उपासना एवं विकृत लोकरुचियों से प्रभावित हो गया प्रतीत होता है। धर्म के तृतीयस्कन्ध की रूपरेखा का निर्माण सदाचार, सन्ध्या, अग्निहोत्र, ओङ्कार, महाव्याहृतियों, स्वाध्याय, तपस्या, दान, तीर्थ-स्नान और बहुविध उपासनाओं से हुआ है । इन तीनों स्कन्धों की समता सरस्वती, यमुना और गंगा की त्रिवेणी से की जा सकती है । तात्पर्य यह है कि सामवेदीय-साहित्य के द्रष्टाओं और प्रवचनकर्त्ताओं ने सभी वर्गों और व्यक्तियों की रुचियों को ध्यान में रखकर देश, काल और पात्र के अनुरूप धर्म-स्वरूप का सर्वाङ्गीण प्रतिपादन किया है।[1]

सन्दर्भ सङ्केत

1. इस सन्दर्भ में, विस्तृत अध्ययन के लिए लेखक का 'सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन' संज्ञक ग्रन्थ अवलोकनीय है।

अथर्ववेद

(कुछ स्फुट विचार)

आचार्य प्रभुदयालु अग्निहोत्री

अथर्ववेदकाल तक आते-आते वैदिक संस्कृति अपना पूर्व दायाद सम्हाले रखने के साथ दूर दक्षिण-पूर्व तक फैल चुकी थी। इस बीच विशाल भारत के विभिन्न क्षेत्रों के आरण्यक और गिरिजनों के साथ भी वैदिकजनों का निकट सम्पर्क स्थापित हो गया था, फिर चाहे वह सहज रूप से हुआ हो या संघर्ष के द्वारा या जादू-टोनों, जल-चिकित्सा, वन्य त्वक्-मल, पुष्प-पत्र आदि के द्वारा । रोग-निवारण आदि की प्रथा यद्यपि ऋग्वेद काल में भी थी फिर भी इनका अतिशय प्रचार और प्रसार अथर्ववेद काल में ही हुआ। दुर्निमित्तों और दैवी आपदाओं एवं व्याधियों के शमन के लिये पुरोहितों का एक अलग वर्ग ही बन गया और स्वतन्त्र आथर्वण विद्या भी पूर्ण विकास को प्राप्त कर गयी, जिसे जानने वाले अथर्वाङ्गिरोविद कहलाते थे। ये लोग यज्ञानुष्ठान आदि ऋग्वैदिक क्रियाओं के साथ मणिबन्ध (गण्डे-ताबीज बाँधना) आदि, वानस्पतिक औषधियों के प्रयोग, वशीकरण, सम्मोहन, मारण, उच्चाटन आदि, क्रियाओं का उपयोग करते थे। इनमें आथर्वण विद्या शान्ति-पुष्टि अर्थात् दैहिक, भौतिक आदि सुख-समृद्धि और स्वास्थ्य-लाभ के लिये प्रयुक्त होती थी तथा आङ्गिरस् कर्मों का प्रयोग विपत्ति-निवारण और शत्रुविनाशन के लिये किया जाता था। बहुत समय तक ऋग्वेद परम्परा के लोगों ने इन्हें वेद-विद्या का अंग स्वीकार नहीं किया और अथर्वाङ्गिरोवेद को वेद नहीं माना। वे वेदों को त्रयी विद्या ही कहते रहे। तीन वर्ण, तीन वेद और तीन आश्रम यही मान्यता उच्च वर्ग में प्रचलित रही किन्तु धीरे-धीरे जब अन्य जातियों के साथ अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ता गया और एक-दूसरे में आदान-प्रदान की क्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती गयी तो अभिजातवर्ग ने अथर्वाङ्गिरस विश्वासों, आस्थाओं, विधियों और कर्मकाण्डों को भी अपने आँचल में समेटकर अथर्वसंहिता को भी चतुर्थवेद के रूप में स्वीकार कर लिया और तब ''चत्वारो वर्णाः '' तथा ''चत्वारः आश्रमाः'' इन पदों का भी व्यवहार होने लगा । धीरे-धीरे ऋग्वेद के ऋत्विजों का स्थान आथर्वण पुरोहितों ने ले लिया और न केवल राजपरिवारों अपितु मध्यमवर्गीय गृहस्थ परिवारों में भी आथर्वण पुरोहितों की नियुक्ति अनिवार्य बन गई। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (१-४-८) में कहा ''पुरोहितमुदितोदित-कुल-शीलं षडङ्गे वेदे दैवेनिमित्ते दण्डनीत्यां चाभिविनीतं आपदां दैवीनां मानुषीणामथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्त्तारं कुर्वीत'' अर्थात् राजा को चाहिये कि वह ऐसे उच्चातिउच्च कुल और शील वाले पुरोहित को नियुक्त करे जो षडङ्गों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्दशास्त्र और ज्योतिष) के साथ वेद-विद्या में, दैवविद्या में, नीति-विज्ञान और राजनीति में सब प्रकार प्रशिक्षित हो तथा आथर्वणिक उपायों के द्वारा दैवी और मानुषी विपत्तियों का प्रतिकार करना जानता हो । कालिदास ने ऐसे राजपुरोहितों का बार-बार उल्लेख किया है । रघुवंश (१-६०) में दिलीप अपने गुरु वशिष्ठ से कहते हैं—भला जब आप हमारी दैवी और मानुषी आपदाओं के निवारक के रूप में विद्यमान हैं तो मेरे राज्य के सब अंगों में शान्ति और कल्याण रहेंगे ही —

कुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (भू० पू०)

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ।।
रघु के विषय में भी उन्होंने कहा है—
स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृत-क्रियः । रघुवंश-८-४)

अर्थात् अथर्वविद् गुरु के द्वारा जंब उसके लिये आवश्यक शान्ति-पुष्टि क्रियाएँ सम्पन्न कर दी गयी तो वह शत्रुओं की पहुँच के बाहर अत्यन्त समर्थ बन गया।

अथर्ववेद को अथर्वाङ्गिरोवेद या ब्रह्मवेद भी कहते थे। इसकी ९ शाखाएँ थीं किन्तु आजकल दो ही उपलब्ध हैं । पिप्पलाद की पैप्पलाद और शौनक की अर्थात् शौनकीय संहिता। इनमें पैप्पलाद का कोई प्रामाणिक संस्करण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । एक काश्मीरी प्रति के आधार पर डॉ० रघुवीर ने इसका एक संदिग्ध पाठों वाला त्रुटित-खण्डित संस्करण प्रकाशित किया था। कुछ वर्षों पूर्व उड़ीसा में भी इसकी एक हस्तप्रति प्राप्त हुई जिसके केवल दो काण्ड प्रकाशित हुए हैं । अथर्ववेद की शौनकीय संहिता २० काण्डों में मिलती हैं, जिसमें ७३० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं । मन्त्रों का लगभग षष्ठांश ऋग्वेद में भी थोड़े-बहुत अन्तर से मिलता है । अथर्ववेद के कुछ मन्त्र ऋग्वेद के प्राचीनतम मन्त्रों के समकालीन हैं, किन्तु कुछ भाग काफी अर्वाचीन भी है । इसके अन्तिम दो काण्ड पूरे के पूरे ऋग्वेद से मेल खाते हैं और शायद बाद में जोड़े गये हैं। १५वाँ और १६वाँ काण्ड गद्य में है और शेष छन्दोबद्ध। अथर्व को विराट का मुख कहा है—सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।

अथर्वों का गोत्र नाम भृगु था । ये लोग शल्य चिकित्सक भी थे, कहा है अथर्वा ने किसी पुरुष के मूर्धा अर्थात् मस्तिष्क और हृदय को खोलकर उसे फिर से सिलकर ठीक कर दिया था—

मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च तत्।

अथर्वों और अङ्गिरसों के कुल, अग्नि के प्रथम आविष्कारक और यज्ञों के आदि प्रवर्तक थे। इसके कई सन्दर्भ मिलते हैं, यथा—

यामाहुतिं प्रथमामथर्वा या जाता या हव्यमकृणोज्ञातवेदाः ।(१९-४-१)
यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते । (२०-२५-५)

ऐसे बहुत से उल्लेख यत्र-तत्र संहिताओं में मिलते हैं। इसीलिये अग्नि को प्रज्वलित करते समय कहा जाता है—''भृगूणामङ्गिरसां च तपसा तप्यध्वम्।'' अग्नि और औषधियों की सहायता से ही ये लोग राक्षसों और दस्युओं का दमन करते थे । आगे चलकर यह बात सामाजिक विश्वास में बद्धमूल हो गयी। कहा है—त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्यौषधे (अथर्व ४-३७-१)। अथर्वन् और अंगिरस के वंशों में पारम्परिक मैत्री थी । अथर्वा के पुत्र दधीचि और अंगिरस के पुत्र बृहस्पति क्रमशः शान्ति-पुष्टि कर्मों और अभिचार क्रियाओं में दक्ष हुये।

प्रथम तीनों वेदों की क्रियाओं और आथर्वणिक विधियों में अन्तर है । उनमें सोम की प्रधानता है और इनमें अग्नि की । भैषज्य और यातु सम्बन्धी कर्म अग्नि पर आश्रित हैं । इनमें कुछ बातें और क्रियायें ऋग्वेद से भी पुरानी जान पड़ती हैं । कुछ प्रागैतिहासिक हैं । यत्र-तत्र वनवासी सभ्यता की झलक है इनमें । हाँ, संहिता रूप में इनका निबन्धन बहुत पीछे अवश्य हुआ। इस वेद में यमुना और वारणावती नदियों एवं अंग, मगध जैसे पूर्वी जनपदों का उल्लेख है। व्याघ्र की चर्चा ऋग्वेद में नहीं है किन्तु इसमें बार-बार मिलती है । इसमें वर्णत्रयी और दस्यु शूद्र वर्ग तथा जात्यध्यक्ष और सामान्यजन इन सबके बीच रेखा अधिक स्पष्ट है । अथर्ववेद को मनुष्य और पशु के शरीर की रचना का काफी सूक्ष्म ज्ञान है । पश्चात्कालीन धर्मग्रन्थों के समान ही

इसमें पापवर्णन और प्रायश्चित्त-विधान पाया जाता है । इसके ब्राह्मण का नाम गोपथ है । कौशिक सूत्र वैतान सूत्र, इसके सहायक ग्रंथ हैं । अथर्व के उपनिषदों की संख्या २८ है, जिनमें मुण्डक, माण्डूक्य और प्रश्नोपनिषद् प्रमुख हैं।

अथर्ववेद का भैषज्य (चिकित्सा) भाग बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसीलिए आयुर्वेद इसका उपवेद माना जाता है । ये लोग जल और वीरुधों (वृक्ष-वनस्पतियों) के द्वारा चिकित्सा करते थे । कहा है —आपो विश्वस्य भैषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भैषजम् (अथर्व—६-६२-२)। अर्थात् सब रोगों की औषधि है जल । उन्हीं से तुम्हारी चिकित्सा करें और वीरुध के लिए कहा है—इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्च यन्मधुला मधु । इस वेद में ३२ रोगों का इलाज २१ वनस्पतियों के द्वारा बतलाया गया है । ये लोग मूत्राशय में मूत्र के रुक जाने पर अयः शलाका (लोहे की सलाई) या शरनलिका डालकर मूत्र बाहर निकाल देते थे।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम् ।
एवाते मूत्रं मुच्यताम् वहिर्वालिति सर्वकम् ।। वही १-३-६

कई मन्त्रों में इसका उल्लेख है । कहा है कि उदर के भीतर पुरीततों में, दोनों पार्श्वों की गवीनियों (नाड़ियों) में और धनुराकार वस्ति में निरुद्ध मूत्र इस उपाय के द्वारा बाहर निकल आता था । ऐसे ही प्रसव में बाधा उपस्थित होने पर वे प्रजनन मार्ग को चौड़ा कर अर्थात् उसका भेदन कर जरायुपिण्ड को बाहर निकालना जानते थे, जो कई सूक्तों से स्पष्ट है।

प्रते भिनद्मि मेहनं वियोनि वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं चाव जरायुपद्यताम् ।।
यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पत्रिणः ।
एवात्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावजरायु पद्यताम् ।।

अर्थात् मैं तुम्हारे इस मेहन मार्ग योनि और दोनों गवीनिका नाड़ियों का भेदन (शल्य क्रिया) करता हूँ, इससे माता और पुत्र को अलग-अलग करता हूँ जिससे जरायु नीचे गिर जाया करे । लाक्षा जिसे शिलाची और रोहणी भी कहते थे, रुधिर प्रवाह और अस्थिभंग की चिकित्सा के काम आती थी । अथर्व में उल्लिखित जंगिड आदि कई वृक्ष-वनस्पतियों की पहचान अभी तक नहीं हो पायी है । सर्वविद्या में आथर्वण लोग बहुत निपुण जान पड़ते हैं । सर्पविष को दूर करने के मन्त्र और औषधियाँ दोनों अथर्ववेद में हैं । इन लोगों के क्षेत्र में विविध प्रकार के सर्पों की बहुलता थी । खैरात, प्रश्नि, उपतृण्य, वभ्रु, असित, तैमात, अपोदक, सात्रासाह, कसर्णील, श्वित्र, रथर्वी, अलीक, उरुगूला, असिक्नी, कर्णा, स्वावित, पृदाकू, तिरश्चिराजी, आलिगी विलिगी और अनेकों सर्वजातियों के नाम अथर्ववेद में आए हैं। जिनमें कई नाम वैदिक भाषा के न होकर वन्य बोलियों या मध्य एशिया के हैं। विष उतारने के मन्त्र भी मनोरंजक हैं, जैसे—

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ।।

मैं तुम्हारी आँख फोड़ता हूँ और विष से तुम्हारे विष का नाश करता हूँ । तुम मरो, जीवित मत रहो । तुम्हारा विष इधर-उधर बिखर जाय । यह साँप को बाँधने का मन्त्र था। विष उतारने के मन्त्रों का एक नमूना—

तावुवं न तावुवं न घेत् त्वमसि तावुवम्। तावुवेनारसं विषम्।।
तस्तवं न तस्तवं न घेत् त्वमसि तस्तवम्। तस्तवेनारसं विषम्।।

बिच्छू तथा अन्य विषैले कीड़ों का, जो काटकर पीड़ा पहुँचाते थे, या विविध प्रकार के रोग उत्पन्न करते थे, विस्तृत उल्लेख इस वेद में है । यह कृमि या कीटाणु इन लोगों के पर्वतीय निवास स्थलों, वनग्रामों, तृण लताओं और वनस्पतियों, जलों और पशुओं में पाये जाते थे। अथर्व में इनके मूल उत्पत्ति-स्थानों को नष्ट कर देने की बात कही गई है। जिससे वे मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न न कर सके—

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वस्वन्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशु सर्व तद्धिन्मि जनिम क्रिमीणाम् ।।

इन लोगों को उन क्रिमियों के नाम भी विदित थे । जैसे—अलगण्डु, छलिन आदि। और ये नाम भी संस्कृतमूलक नहीं है। क्रिमियों (छुद्र रोग-कीटों) की आकृति का भी वर्णन मन्त्रों में मिलता है—

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।
वभ्रुश्च वभ्रुः कर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ।।

अर्थात् कुछ दिखाई पड़ते हैं, कुछ नहीं दिखते, कुछ काले, कुछ लाल, कुछ भूरे कान वाले इन सबको हमने मार दिया है।

रोग फैलाने वाले क्रिमियों एवं बृकों, सर्पों और वृश्चिकों आदि से लोग जो इतना अधिक पीड़ित थे इससे अनुमान होता है कि इस काल में ये लोग प्रयाग से नीचे अंग, दक्षिण महाकौसल और दण्डकारण्य प्रदेश में पहुँच गए थे क्योंकि अथर्व के बहुत से वर्णन आन्ध्र प्रदेश के बस्तर क्षेत्र से मिले वन्य प्रदेश और बस्तर से लेकर छोटा नागपुर और संथाल परगना तक की भौगोलिक और पुरानी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हैं। इसमें भाँति-भाँति की मणियाँ (ताबीज) बाँधने और उनके द्वारा अमीवा (रोग कीटाणु) और राक्षसों तथा यातुधानों को दूर भगाने का प्रयत्न है। जिन वीरुधों के काष्ठ से मणियाँ बनाई जाती थीं, वे भूरे, सफेद, लाल, बहुरंगी, नीले और काले सब रंगों की होती थीं और इन्हें औषधि कहते थे—

या वभ्रवो याश्च शुक्राः रोहिणीरुत प्रश्नयः ।
असिक्नी कृष्णा औषधीः सर्वा अच्छावदामसि ।।
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्वभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ।।
यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथ्वी नो दधातु ।।
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी ।
वैश्वानरी बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र-ऋषभा द्रविणे नो दधातु ।।
माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या-माता पृथ्वी द्यौष्पिता नः ।

यह माँ पृथ्वी है जिसमें जल हैं, नदियाँ हैं, समुद्र हैं, जिसमें खेती होती है, अन्न उत्पन्न होता है, जिसमें सब चलते-फिरते प्राणी प्राण-वायु प्राप्त करते हैं, वह भूमि हमें श्रेष्ठ पेय प्रदान करे । जिसमें पहले-पहले हमारे पूर्वजों ने विचरण किया । जिस पर देवों ने असुरों को पराजित किया, जो गायों, बैलों, अश्वों और पक्षियों का निवास स्थान है वह हमें तेज और सौभाग्य प्रदान करे। विश्व का भरण करने वाली, वन-सम्पत्तियों की आगार सुवर्ण जैसे वक्षस् वाली (पीतवर्णा) और सारे जगत को अपने भीतर समेटे हुए समस्त जनों को धारण करती हुई इन्द्र जैसे महाशक्तिशाली से संरक्षित यह पृथ्वी हमें समृद्ध बनाये । द्यौ (आकाश) हमारा पिता है। पृथ्वी हमारी माता है और मैं पृथ्वी माता का पुत्र हूँ।

एक सूक्त सांमनस्य सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है उसकी चर्चा किये बिना अथर्ववेद की चर्चा अधूरी रह जायगी। इसमें कहा है कि मैं तुम्हें समान हृदय वाले और द्वेषहीन, समान मन वाले बना रहा हूँ आपस में एक-दूसरे को देखकर ऐसे हर्ष का अनुभव करो जैसे गाय बछड़े को देखकर करती है। पुत्र पिता का अनुगामी बने, माता के अनुकूल रहे, पत्नी-पति के लिये मीठी और शुभ वाणी बोले। भाई-भाई से और बहिन-बहिन से शत्रुता न करे। सब लोग श्रेष्ठ आचरण वाले समान व्यवहार वाले होकर परस्पर भद्र वाणी बोलें —

सहृदयं सांमनस्यमविद्वषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातिमिवाघ्न्य ।।
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुतस्वासां ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।

अथर्ववेद में द्यावापृथिवी की अवधारणा समष्टितत्त्व के रूप में

डॉ० शशि तिवारी

वेद सर्वज्ञानमय हैं। उनमें ऋषियों ने विश्व के व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्ततम—समग्र तत्वों से सम्बद्ध ज्ञान को अपने प्रातिभ चक्षुओं से साक्षात्कार करके देवताओं के रूप में अभिव्यक्त किया है । इसीलिए देवता तत्त्व ही मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य है।[1] लगभग सभी देवताओं का रूप व्यक्त या प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है । कई विद्वानों द्वारा वे प्राकृतिक या भौतिक पदार्थों, दृश्यों या शक्तियों के वाचक माने भी गए हैं ।[2] दूसरी ओर वेद के अथाह ज्ञान सागर में गोते लगाने वाले तत्त्वज्ञ वैदिक विद्वानों ने उन देवताओं से अभिप्रेत अव्यक्त या परोक्ष तत्त्वों को भी सम्यक् रूप से समझा और समझाया है। देवता तत्त्व के परोक्ष सांकेतिक अर्थों की गवेषणा अल्पश्रुत द्वारा सम्भव नहीं है, यह स्वीकार करते हुए यहाँ द्यावापृथिवी के अथर्ववेदीय मन्त्रों के आलोचनात्मक अध्ययन के आधार पर अथर्ववेद में द्यावापृथिवी विषयक अवधारणा को अपनी दृष्टि से समझने का प्रयास किया जा रहा है।

अथर्ववेद की संहिता में द्यौ और पृथिवी का पृथक्-पृथक् उल्लेख अनेक बार हुआ है । यहाँ 'द्यावापृथिवी' नामक युग्म देवता के रूप में इनका स्तवन लगभग ४८ मन्त्रों में है । कुछ अन्य मन्त्रों में भी इनका वर्णन है । यह देवताद्वन्द्व 'द्यौ' और 'पृथिवी' के अविभाज्य रूप को दर्शाता है । इसका ही पर्याय 'द्यावाभूमी' (१८।२।३१) अथर्ववेद में एक बार प्रयुक्त हुआ है। द्यावापृथिवी के सभी सन्दर्भों की विवेचना से प्राप्त जानकारी को मुख्यतः तीन शीर्षकों में बाँटा जा सकता है—

(१) द्यावापृथिवी की प्रार्थनाओं के लक्ष्य

द्यावापृथिवी देवता युग्म से स्तुतियों में अधिकतर शिल एवं पापमोचन (२।१०।१-८, ४।२६।१-७), दीर्घायुष्य (२।२६।४-५, २।२८।३-५), यक्ष्मनाशन (३।३१।४), रक्षा (५।२४।३, ६।३।२, १६।२०।४०), निर्भयता (६।४०।१), १६।१५।५०), सुख (४।२६।२-६), शान्ति (१६।१०।५), पवित्रता (६।६२।१-३) और यश (६।५८।१-२) आदि की कामनाएँ की गई हैं। स्पष्ट है कि ये सब एक सुखी और सरल जीवन-यापन के लिए आवश्यक तत्वों की प्रार्थनाएँ हैं । दूसरे शब्दों में द्यावापृथिवी से वह सब कुछ चाहा गया है, जो जीवन में 'शिव के लिए अपेक्षित है । 'शिवे'[3] और 'स्योने'[4] द्यावापृथिवी उपासक का परम अभीप्सित हैं । प्रार्थित फलों को प्रदान करने की सामर्थ्य की परिकल्पना से उनकी परम शक्तिमत्ता द्योतित होती है। अतिशय आदरणीया होने से उनके लिए 'यज्ञियो' विशेषण[5] व्यवहृत हुआ है।

(२) द्यावापृथिवी के स्वरूप की विशेषताएँ

मन्त्रों में उनके स्वरूप से सम्बद्ध दो प्रमुख विशेषताएँ उभर कर सामने आती हैं।

रीडर, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली

१. उनका जलों से सम्बन्ध

२. उनकी महानता या विस्तार (अतएव धारणशक्ति)

द्यावापृथिवी को 'पयस्वती' विशेषण द्वारा जलवती या सारवती और 'ऋतावरी' विशेषण द्वारा सत्य या जल से युक्त बताया गया है ।[6] क्षुधा और तृषा से व्याकुल व्यक्ति को वे 'ऊर्ज' और 'पय' देती हैं ।[7] ऊर्ज यदि बल या अन्न है, तो 'पय' जल या दूध ही है। रोदसी द्यावापृथिवी से जल की उत्पत्ति हुई है और वही आजतक आर्द्र गुण युक्त है। एक मन्त्र में कहा गया है कि जिस जल को 'रेजमाने' द्यावापृथिवी और भूमि ने उत्पन्न किया वही जल आज भी समुद्र की स्रोतस्विनी नदियों के समान प्रवहणशील और रसमय है।[8] उसी जल ने भूमि को चारों ओर से घेर लिया है, वही जल अन्य वस्तुओं में भी स्थिर है । आकाश और विश्वाधार भूता पृथिवी को नमस्कार है।[9] इसीलिए द्यावापृथिवी के गौरवगान में अमृत (अमरता या जल) और हविष् (अन्न) धारण करने के साथ नदियों आदि प्रवाहों को धारण करने का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है ।[10] द्यावापृथिवी कीलाल (अन्न) और धृत (पेय) से लोगों को तृप्त करती हैं।[11]

भृगार, ऋषि के द्वारा दृष्ट द्यावापृथिवी के सूक्त में पापमोचन की प्रार्थना के साथ द्यावापृथिवी के स्वरूप का जो वर्णन हुआ है, उसमें उनको सबका आधार और सबको धारण करने वाली दर्शाया गया है—'आप दोनों नदियों, मनुष्यों, गायों, वनस्पतियों आदि को धारण करती हैं। आप दोनों के बीच में ही सब भुवन हैं ।[12] आप दोनों वस्तुओं की प्रतिष्ठा अर्थात् निवास करने वालों की आश्रयभूता हैं ।[13] इसका कारण हैं उनका विस्तृत और महान् स्वरूप। वे तो अपरिचित योजनों तक विस्तृत बताई गई हैं।[14] वे विस्तीर्ण होने से 'उर्वी'[15] बड़ा कार्य करने वाली होने से 'माईव्रते'[16] विशाल होने से 'प्रवृद्धे' और व्यापक होने से 'उरूची' हैं।[17] द्यावापृथिवी के विस्तार का विष निवारण के प्रसंग में उपमान के रूप में प्रयोग [18] उनके स्वरूप में इस गुण के प्रामुख्य का द्योतक है । एक मन्त्र के अनुसार द्यावापृथिवी छह हैं, जिनको छह 'उर्वी कहते हैं ।[19] इसकी व्याख्या में ऋग्वैदिक सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं, जहाँ तीन भूमि और तीन द्यौ की चर्चा की गई है।[20] द्यावापृथिवी की निहितार्थ वैज्ञानिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि में कुछ भी हो इससे उनके स्वरूप की व्यापकता का संकेत तो सुस्पष्ट है ही।

(३) द्यावापृथिवी में स्वरूपगत द्वैत और ऐक्य

द्यावापृथिवी की संयुक्त स्तुति करते हुए मन्त्र द्रष्टाओं ने उन दोनों को स्पष्टतः पृथक्-पृथक् तत्त्व स्वीकार किया है। वेदों में 'द्यौ' और 'पृथिवी' की स्वतन्त्र स्तुतियों के अतिरिक्त द्यावापृथिवी सूक्तों में भी उनको स्वरूपतः अलग-अलग मानने के संकेत यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं । एक द्यावापृथिवी सूक्त में नामतः द्युलोक और विश्ववेदस् पृथिवी को नमस्कार किया गया है ।[21] दूसरे में द्यौ को पिता और पृथिवी को माता बताया गया है।[22] पाप और यक्ष्मा से स्वयं को दूर रखने की प्रार्थना में द्यावापृथिवी के द्वैत को दृष्टान्त के रूप में रखा गया है 'जिस प्रकार द्युलोक और पृथिवी अलग हैं, उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगों से दूर रहूँ।[23]

द्यावापृथिवी के साथ 'उभे' पद का विशेष के रूप में प्रयोग[24] 'ये दोनों द्यावापृथिवी' अर्थ को देता हुआ उनके पार्थक्य को ही ध्वनित करता है। कुछ सन्दर्भों में द्यावापृथिवी के साथ 'अन्तरिक्ष' का मध्यवर्ती के रूप में उल्लेख 'द्यु' और 'पृथिवी' की पृथक् सत्ता प्रकट करता है।[25]

विचारणीय है कि द्यावापृथिवी के युग्म से ऋषि का क्या अभिप्राय रहा है ? स्पष्ट ही ये दोनों जब संयुक्त होकर एक हो जाती हैं तब द्यावापृथिवी कहलाती हैं । द्वैत का अद्वैत होना ही द्यु और पृथिवी का 'द्यावापृथिवी' होना है । यह पद दो तत्त्वों की परस्पर सम्बद्धता पर आश्रित एकरूपता का वाचक है। अतः आधिभौतिक दृष्टि से यह दो लोकों को नहीं, अपितु सब लोकों के समष्टि रूप विराट् विश्व को अभिहित करता है। 'जिन तुम दोनों के बीच में सब भुवन हैं,[26] जिनमें सूर्य का प्रकाश तत्काल फैलता है,[27] सूर्य द्यावापृथिवीवान् है,[28] जिस प्रकार इन्द्र द्यावापृथिवी के बीच यशस्वी है,[29] इत्यादि मन्त्रों में द्यावापृथिवी विस्तीर्ण, अखण्ड, अखिल और व्यक्त ब्रह्माण्ड प्रतीत होती हैं । इस ब्रह्माण्ड को नाना लोकों के समष्टि तत्व के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। ओदन पुरुष की कल्पना करने वाले ओदन-सूक्त में अन्न का विश्व रूप में वर्णन करते हुए जब 'द्यावापृथिवी' को श्रोत्र कहा गया है[30] तब भी सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने वाली उस मूर्ति का संकेत ग्रहणीय है, जिसका गुण कान का विषय अर्थात् शब्द है । अपरिमित विस्तार द्यावापृथिवी के स्वरूप की महती विशेषता मानी गई है, जो इस दृष्टि से सुसंगत बैठ जाती है । उसकी दूसरी विशेषता - जल से सम्बद्धता भी इस दृष्टिकोण से समीचीन प्रतीत होती है, क्योंकि जल ही अनन्त पञ्च भौतिक जगत् सृष्टि का आदि तत्त्व है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त का वह 'इदम्' तत्त्व जो अप्रकेतम् बताया गया है[31] यदि सृष्टि की अव्यक्तावस्था है तो 'इमे' रूप द्यावापृथिवी[32] सृष्टि की व्यक्तावस्था का एकत्व है, जो दोनों तत्वों के पृथक् होते हुए भी संयुक्त रूप में इस भांति पहचाना जाता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से द्यावापृथिवी मानवजीवन का वह समष्टितत्व प्रतीत होता है, जो किसी भी मनुष्य के जीवन की समग्रता के लिए अनिवार्य है । ऋषि शम्भु ने जरिमा और आयु देवता का स्तवन करते हुए एक अथर्ववेदीय सूक्त में द्यावापृथिवी के 'प्राणापानी' स्वरूप का संकेत किया है - द्यौ पिता और पृथिवी माता मिलकर तुमको वृद्धावस्था के पश्चात् मरने वाला करें। जिससे अदिति की गोद में प्राण और अपान से सुरक्षित होकर सौ वर्ष तक जीवित रहो।[33] इससे पहले के मन्त्र में प्राण और अपान द्वारा न छोड़े जाने की प्रार्थना है ।[34] प्राण से ऊर्ध्व चेष्टा होती है और अपान से नीचे की चेष्टा होती है अथवा प्राण दीर्घ जीवन है, तो अपान दुःखों और क्लेशों का नाश है।[35] इस प्रकार यदि द्यावापृथिवी को प्राण और अपान के रूप में समझा जाए तब वह जीवों के जीवनतत्त्व का ही वाचक बन जाता है । इस सन्दर्भ में यदि उनसे की गई प्रार्थनाओं और उनके स्वरूप की विशेषताओं की समीक्षा करें, तो हम देखते हैं कि सुखी और कल्याणमय जीवन की सभी अपेक्षाएँ उनसे की गई हैं; मानो जीवन का सर्वस्व ही उनसे चाहा गया है । ऊर्जस् और पयस् जीवन के आधार ही हैं, द्यावापृथिवी इनसे सुसम्पन्न है। जिस प्रकार वे सबको धारण करने वाली और अपरिमित विस्तार वाली है, उसी प्रकार जीवन ही जीव का धारक है और उसका विस्तार अज्ञात होने से अपरिमित ही है । यह प्राण और अपान रूप दो तत्त्वों का समुच्चित रूप ही है । 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' नियम से भी द्यावापृथिवी आध्यात्मिक रूप में समग्र जीवन का प्रतिरूप हो जाती हैं । पुरुष सूक्त में पुरुष के सिर से द्यौ और गति परायण पादों से भूमि की उत्पत्ति बताकर[36] शरीर में सिर या मस्तिष्क को द्यौ का और पैरों को पृथिवी का उपलक्षण बताया गया है । एक मन्त्र में पृथिवी को स्थूल शरीर से समीकृत किया गया है,[37] तो दूसरे मन्त्र में उद्घोष है कि द्यौ ब्रह्मद्विषु, को बहुत तपाता है ।[38] ब्रह्मद्विष् यदि ज्ञान का विरोध करने वाला व्यक्ति है, तो द्यौ 'मस्तिष्क' है, जो उसको सन्तप्त रखता है। इस प्रकार अथर्ववेद में मनुष्य की बौद्धिक क्षमता और स्थूल शरीर का सम्यक् समीकरण ही द्यौ और पृथिवी के युग्म के रूप में उपस्थापित हुआ है । अतएव ऋषि की प्रार्थना है कि 'द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होने के लिए मैं अपने आप को निःशेष देता हूँ ।[39] यहाँ द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होने की चर्चा (गोपीथाय) प्राणापान द्वारा सुरक्षित (गुपितः) होने के विवरण के समकक्ष है । 'द्यावापृथिवी तेज का संग्रह करने वाली है, (उनसे) तेज लेकर हम पृथिवी पर संचार करेंगे,[40] प्रार्थना तेजमयी द्यावापृथिवी रूप समष्टि तत्त्व से जीवन को तेजस्वी करने की कामना है। 'हे द्यावापृथिवी ! आपके पास रहने वाला यह व्यक्ति क्षुधा और तृषा से पीड़त न हो[41] प्रार्थना में द्यावापृथिवी रूप समष्टि तत्त्व से जीवन को सुखमय बनाने की इच्छा की गई है । द्यावापृथिवी चाहे ब्रह्माण्ड के रूप में हो या जीवन की सम्पूर्णता के रूप में—वे द्वन्द्व में अन्तर्निहित समष्टि की एकात्मकता का प्रतिरूप हैं । उनके रूप में परस्पर पूरक तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। जगत् रूप में उनकी शिवरूपता जीवन की शिवरूपता से कथमपि भिन्न नहीं है । इसीलिए 'द्यावापृथिवी, मेरे अनुकूल होकर प्रकाशित हों, जैसी प्रार्थनाएँ उभयविध व्याख्येय हैं।

इस प्रकार अथर्ववेद में द्यावापृथिवी की अवधारणा के पीछे ऋषिचिन्तन की एक व्यापक दृष्टि है, जो एक साथ कई तथ्यों को प्रकाशित करती है । उनमें से एक दृष्टिकोण उपर्युक्त प्रकार से उपन्यस्त किया गया है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता। अनुक्रमणी 2/4-5।
2. Macdonell, Vedic Mythology; Hillebrandt, Vediche Mythology; Bergaigne, Vedic Religion.
3. शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्। अथर्व० 2/10/1
   शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।. अथर्व० 19/14/1
4. द्यावापृथिवी भवतं में स्योने। अथर्व० 4/26/2-6
5. ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम्। अथर्व० 6/62/1
6. द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी । अथर्व० 6/62/1
7. ऊर्जमस्या ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् । अथर्व० 2/29/5
8. यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्।
   आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः । अथर्व० 1/32/3
9. विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधि श्रितम्।
   दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः।। अथर्व० 1/32/4
10. ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्याय। अथर्व० 4/26/4
11. ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन । अथर्व० 4/26/6
12. अथर्व० 4/26/4 (पूर्वोल्लिखित)।
    ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन्ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः । अथर्व० 4/26/5.
13. प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनामृद्ध। अथर्व० 4/26/1,2.
14. ये अप्रथेथाममिता योजनानि । अथर्व० 4/26/1
15. अथर्व० 4/26/3;
16. अथर्व० 7/117/1;
17. अथर्व० 4/26/2
18. यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा । अथर्व० 4/6/2
19. षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः । अथर्व० 8/9/16
20. ऋ० 1/34/8, 1/35/6, 2/27/8, 7/87/5
21. अथर्व० 1/32/4 (पूर्वोल्लिखित)
22. द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता । अथर्व० 2/28/4
    द्यौः पिता पृथिवी माता । अथर्व० 3/9/1
23. वी इमे द्यावापृथिवी इतः । अथर्व० 3/31/4
24. अथर्व० 2/10/1-8, 6/58/1
25. अथर्व० 2/12/1, 7/107/1
26. ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः । अथर्व० 4/26/5
27. यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः । अथर्व० 6/8/3
28. सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तम् । अथर्व० 19/18/5
29. यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् । अथर्व० 6/58/2

30. द्यावापृथिवी श्रोत्रे । अथर्व० 11/3/2
31. अग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वथा इदम् 10/129/3
32. इमे वै हरी निपक्षसा। अथर्व० 3/31/4;

    इमे वै द्यावापृथिवी रोदसी। तै०सं० 3/9/4/2, शत० ब्रा० 6/4/4/2
33. द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने।

    यथा जीवा अदितेरूपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः।। अथर्व० 2/28/4
34. मेमं प्राणो हासीन्मो अपानः। अथर्व० 2/28/3
35. दयानन्द वैदिक कोष, राजवीर शास्त्री, अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। पृ० 664
36. शीर्ष्णों द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिः.......। अथर्व० 19/6/8
37. पृथिवी शरीरम् । अथर्व० 5/9/7, 19/6/8
38. ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति। अथर्व० 2/12/6
39. स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय। अथर्व० 5/9/7
40. वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्वर्चो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम । अथर्व० 19/58/3
41. द्यावापृथिवी अनुमा दीधीथाम्। अथर्व० 2/12/5

वैदिक कुन्तापसूक्त : एक परिचय

डॉ० राजेश मिश्रा

अथर्ववेद की शौनक संहिता के २०वें काण्ड में विद्यमान १२७ से १३६ संख्या तक के सूक्त कुन्तापसूक्त कहे जाते हैं । इन सूक्तों के प्रारम्भ में ''अथ कुन्तापसूक्तानि'' तथा अन्त में ''इति कुन्तापसूक्तानि'' लिखा गया है । जिस से स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तापसूक्तों की संख्या दश है। इसी प्रकार ऋग्वेद परिशिष्ट गोपथ ब्राह्मण तथा शांखायन श्रौत सूत्र में भी कुन्ताप मन्त्रों का उल्लेख हुआ है।

आखिर ये कुन्ताप सूक्त हैं क्या ? इस सन्दर्भ में अनेक रोचक व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं कुछ महत्वपूर्ण व्याख्यायें इस प्रकार हैं—

१. कुम् का अर्थ है पृथ्वी, अतएव पृथ्वी के विकारों को, पाप, ताप, दुःख दोष और दुरित आदि को जो सन्तप्त करते हैं, जला देते हैं, उन्हीं मन्त्रसमूहों को कुन्ताप कहा जाता है।

२. अमरकोश में 'कु' का अर्थ है पाप, कुत्सा तथा ईषदर्थ, इस प्रकार कुन्ताप का अर्थ है जो कुत्सित वस्तुओं को अर्थात् पाप, ताप एवं दुरित दुर्गुण आदि को विनष्ट कर दे।

३. गोपथ ब्राह्मण में लिखा गया है कि 'कुयम ह्वैनाम कुत्सितम् भवति । तद्यत् तपति तस्मात् कुन्तापाः।' अर्थात् पाप विनष्ट करने वाले मन्त्र।

इस प्रकार 'कुन्ताप मन्त्र' पापों को विनष्ट करने वाले मन्त्रों का नाम है। इन कुन्ताप मन्त्रों की व्याख्या अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में की गई है और अथर्ववेद के ही विभिन्न श्रौत सूत्रों में उन मन्त्रों का विविध कर्मों में विनियोग भी बताया गया है। अथर्ववेद की अनुक्रमणी में इन सूक्तों को खिल भाग के रूप में रखा गया है। सम्भवतः यही कारण था कि वेद विद्या के महान् उन्नायक महर्षि दयानन्द ने भी कुन्तापसूक्तों को अथर्ववेद में प्रक्षिप्त मान लिया । पाश्चात्य वेदभाष्यकार रॉथ, ग्रिफिथ और व्हिटिनी आदि ने भी इन सूक्तों को अश्लील निरर्थक तथा अनर्गल मान लिया है । परन्तु ऐसा नहीं है । यदि ऐसा होता तो तापत्रय का हरण करने वाले इन सूक्तों का ऐतरेय ब्राह्मण में व्याख्यान न किया जाता । वर्तमान युग में अनेक भारतीय वेदमर्मज्ञों की दृष्टि इन कुन्ताप सूक्तों की ओर गयी। फलतः इन सूक्तों की व्याख्या अनेक विद्वानों ने समय-समय पर की है । नासिक स्थित महामण्डलेश्वर स्वामी गंगेश्वरानन्द ने इन सूक्तों की एक विशद व्याख्या प्रकाशित की । उन्हीं की प्रेरणा से १६७४ ई० में अरविन्दाश्रम के आचार्य जगन्नाथ वेदालंकार ने इन सूक्तों का एक अद्भुत आध्यात्मिक भाष्य प्रणीत किया जो कि महर्षि अरविन्द की योग दृष्टि से संवलित है । राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी श्री राजाराम शास्त्री, श्री जयदेव विद्यालंकार, महामहोपाध्याय सातवलेकर

संस्कृत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

तथा पण्डित विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने भी इन सूक्तों की व्याख्यायें लिखीं जो अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण कहीं-कहीं रहस्यमय ही बनी रह गई हैं।

यद्यपि आचार्य जगन्नाथ वेदालंकार ने कुन्ताप मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या करके उनकी उपयोगिता को सुस्पष्ट कर दिया है । परन्तु आपाततः ये मन्त्र पहेलियों की तरह प्रतीत होते हैं। यथा—

उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तोद्विर्दश ।
वर्ष्मा रथस्य निजिहीऽते दिवईषमाणा उपस्पृशः ।।[1]

कुन्तापमन्त्रों को पढ़ते ही ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई पहेली बुझाई जा रही हो । हिन्दी के कवि सन्त कबीरदास की उलटवासियों जैसी कुन्तापसूक्त की पंक्तियाँ पहेली जैसी प्रतीत होती हैं । परन्तु उनका सांकेतिक तथा आध्यात्मिक अर्थ बड़े महत्व का है। कहीं-कहीं इन मन्त्रों के भाव अत्यन्त स्पष्ट हैं। जैसे - इन्द्र विषयक यह मन्त्र—

यः पर्वतान् व्यदधात यो अपो व्यगाहथाः ।
इन्द्रो यो वृत्रहान्महं तस्मादिन्द्र नमोऽस्तुते ।।[2]

कुन्तापसूक्तों की यह जटिलता हमें अन्यान्य वेदमन्त्रों में भी मिलती है। ऋग्वेद के ही एक प्रसिद्ध मन्त्र—"चत्वारि श्रृंगाः त्रयोऽस्य पादाः" आदि की भी अनेक प्रकार की व्याख्यायें भाष्यकारों द्वारा की गई हैं। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भी "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" आदि में भी गूढ़ रूप से जीव और आत्मा का भाव निरूपित किया गया है। ठीक उसी प्रकार का एक कुन्तापमन्त्र यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

यः कुमारी पिङ्गलिका वसन्तं पीवरी लभेत् ।
तैल कुण्डमिमाङ्गुष्ठं रोदन्तं शुदमुद्धरेत् ।।[3]

सामान्यतः इस मन्त्र का कोई भी स्पष्ट वाच्यार्थ नहीं है । परन्तु यदि मन्त्र में प्रयुक्त शब्दों का सांकेतिक अर्थ देखा जाए तो यह मन्त्र अत्यन्त सार्थक प्रतीत होता है । इस मन्त्र का सांकेतिक शब्दार्थ एक कुण्डलिनी साधना करने वाले साधक का चित्र उपस्थित करता है। आचार्य जगन्नाथ वेदालंकार ने इस मन्त्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'यः' अर्थात् जो उत्तम साधक कुमारी पिङ्गलिका अर्थात् ईडा और पिङ्गला नाड़ियों द्वारा प्रकाशमान ब्रह्म रन्ध्र को प्राप्त कर लेता है । वह 'तैलकुण्ड' अर्थात् अमृत कलश के समान शुनःशेप के तरह अपनी मुक्ति के लिए रोते हुए आंगुष्ठ अर्थात् अँगुष्ठ प्रमाण जीव को उद्धृत कर देता है । कुन्ताप सूक्तों के समस्त मन्त्र इसी प्रकार के गूढ़ एवं रहस्यमयी शैली में लिखे गये हैं । आज आवश्यकता इस बात की है कि इन मन्त्रों का सरल अभिप्राय राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित किया जाए ताकि सामान्य जन भी इनसे लाभान्वित हो सके । कुन्ताप मन्त्रों की प्रकृति निश्चय ही अन्य वैदिक मन्त्रों के समान नहीं है क्योंकि इन मन्त्रों की न तो देवताओं की स्तुतियाँ संग्रहीत हैं और न ही यज्ञ विषयक सूचनायें। इन मन्त्रों की भाषा और शब्द योजना भी अत्यन्त गूढ़ एवं असम्बद्ध सी है । यही कारण है कि अब तक ये रहस्यमय मन्त्र दैहिक, दैविक और भौतिक तापों के विनाशक होते हुए भी जनसामान्य के लिए सुलभ नहीं हो सके।

सन्दर्भ सङ्केत

1. अथर्ववेद 20.127.2
2. वही 20.128.14
3. वही 20.128.16

वेदों का रचना-काल

डॉ० बी० एन० पाण्डेय

प्राचीन काल के अन्य सभ्य देशों की तरह वैदिक काल के आर्यों को भी वर्ष-गणना की रीति का स्पष्ट और ठीक ठीक ज्ञान था । गर्मी, वर्षा और जाड़े की ऋतुओं के नियमित चक्र ने संसार के लगभग समस्त प्राचीन निवासियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था । वे इस बात से परिचित हो गये थे कि ये ऋतुएं क्रमानुसार बारह-बारह महीनों के बाद आती हैं । शुरू-शुरू में उन्होंने चान्द्र तिथियों के हिसाब से बारह महीनों या ३५४ दिन के वर्ष की कल्पना की होगी । किन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार थोड़े काल के उपरान्त ही उन्हें ऋतुओं का ठीक-ठीक समय निर्धारित कर सकना बहुत कठिन जान पड़ा होगा । इस बात के लिये किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है कि समस्त कृषि प्रधान जातियों को ऋतुओं के शुरू और अन्त होने की निश्चित जानकारी आवश्यक है । जिस किसी ने ऋग्वेद का थोड़ा सा अंश भी पढ़ा है, उनको इसमें जरा भी सन्देह नहीं हो सकता कि कृषि वैदिक कालीन आर्यों का एक महत्त्वपूर्ण धन्धा था और पूर्णिमा और शुक्ल दूज के दिन यज्ञ करना वैदिक कालीन आर्यों के लिये नितान्त धार्मिक अनुष्ठान था । यह बहुत सम्भव है कि शुरू-शुरू में अपने कृषि के हित में ऋतुओं के ठीक-ठीक और यज्ञ आदि के लिये पूर्णिमा आदि तिथियों का निश्चित बोध करने में वैदिक ऋषियों को बहुत परेशानी हुई होगी। सौर वर्ष के स्थान पर चान्द्र वर्ष के कारण जो गड़बड़ी हुई, उसके सम्बन्ध में ''शतपथ ब्राह्मण'' (काण्ड ६, १, ४) में लिखा है—

''ऋतुओं को इच्छा हुई कि वे भी देवताओं के समान यज्ञ में हिस्सा पावें और उन्होंने कहा, हमें भी यज्ञ में हिस्सा दो । हमें यज्ञ के अंश से वंचित न करो । हमें भी यज्ञ में हिस्सा दो ।'' किन्तु देवताओं ने इसे स्वीकार न किया । जब देवताओं ने इसे स्वीकार न किया तो ऋतुएँ देवताओं के ईर्ष्यालु और नृशंस शत्रु असुरों के पास गईं। तब वे असुर धनधान्य से इतने पूर्ण हुए कि देवताओं ने ईर्ष्या से उसे सुना । जबकि सुरों में प्रधान अभी जोत बो रहे थे, असुर कटाई और मड़ाई कर रहे थे। उनके लिये बगैर जोते हुए ही फसलें पकने लगीं।[1]''

इस उद्धरण से यही अर्थ निकलता है कि देव और असुर, चाहे वे आक्रामक आर्य रहे हों या भारत की आदि जातियाँ रही हों; ऋतुओं के सम्बन्ध में उनका ज्ञान अधूरा था, जबकि एक वर्ग उसे बोने की ऋतु समझता तो दूसरे के लिये वही काटने की ऋतु होती थी।

यजुर्वेद में इस तरह के वाक्य बहुधा आते हैं—''ऋतुओं में गड़बड़ी हो सकती है'' (६, ५, ३), और ''यदि उचित रूप से निश्चित तिथियों पर यज्ञ किये जायं, तो ऋतुएँ अपनी जगह निश्चित रहती हैं।''[2]

इसका अर्थ यह है कि वैदिक ऋषियों ने अनुभव से चान्द्र तिथियों के वर्ष के अनुसार ऋतुओं का समय निर्धारित करने की निरर्थकता देख ली और वे चार तरह की वर्ष गणना का आविष्कार करने में सफल हुए। वे वर्ष थे ३५४ दिन का चान्द्र वर्ष,

---

महामहिम राज्यपाल, उड़ीसा (भू० पू०)

३६० दिन का सावन वर्ष, ३६५ १/४ दिन का सौर वर्ष और ३६६ दिन का नक्षत्र गणना के अनुसार वर्ष। चान्द्र वर्ष और नक्षत्रों की गणना के अनुसार निश्चित किये वर्ष के अन्तर को ठीक करने के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण[3] में निम्नलिखित वाक्य आते हैं—

''वास्तव में जो लोग पूर्णिमा और शुक्र दूज के दिन यज्ञ करते हैं, वे (समय के साथ) दौड़ लगाते हैं । यह १५ वर्षों की अवधि में करना चाहिये। इन १५ वर्षों में ३६० पूर्णिमा और शुक्र दूज होती हैं और एक वर्ष में ३६० रात्रियाँ होती हैं । वह इन रात्रियों को प्राप्त करता है । फिर उसे अगले 15 वर्षो तक यज्ञ करना चाहिये । इन १५ वर्षों में ३६० पूर्णिमा और शुक्र दूज होती हैं और एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस तरह वह इन दिनों को प्राप्त करता है।''

भगवद्गीता[4] के पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि सूर्य जब तक छः महीने दक्षिणायन में रहता है, हिन्दू उसे रात्रि समझते हैं और जब सूर्य छः महीने उत्तरायण में रहता है तो उसे दिन समझते हैं। इसके अनुसार उपर्युक्त वाक्य का यह अर्थ होता है कि १५ नक्षत्र-वर्षों में यज्ञ करने वाले को प्रत्येक २४ घंटों के १८० दिन मिलेंगे या प्रत्येक १२ घण्टों की ३६० रातें मिलेंगी । दक्षिणायन में प्रति १२ घंटों के १८० दिन रात्रि में सम्मिलित किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में ३६६ दिन के १५ नक्षत्र वर्षों में 6 मलमास या अधिक मास पड़ते हैं।

इसलिए वे कहते हैं—(गाय) जिसे वे वर्ष में तीन बार दुहते हैं, अगले दो बार दुहने में बहुत थोड़ा दूध देगी । फिर वह गाय कैसे दूध देगी, जिसे वे १२ बार दुहने बैठते हैं। इस तरह वर्ष पूरा होने पर अन्तिम मास के अन्त में वे छः ''पृष्ठ दिवस'' मनाते हैं। इस तरह यज्ञ करने वाले अपनी बलि (वर्ष) और बिना दुही हुई गायों को बचा रखते हैं । इस तरह यज्ञ करने वाले मलमास युक्त वर्ष लेकर ऐसी स्थिति में होते हैं, जैसे किसी असीम समुद्र में तैर रहे हों।

वर्ष को तीन बार दुहने का अर्थ है बारह मलमास । ''पृष्ठ'' शब्द छः दिन के समय के लिये प्रयुक्त होता है, जो शायद यजुर्वैदिक काल में सप्ताह के लिये इस्तेमाल होता था।

मलमास जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय इस विषय को लेकर मालूम होता है कि वैदिक काल के ज्योतिषियों में खासी चखचख और गरमा-गरमी रही । यजुर्वेद में इस सम्बन्ध में नीचे लिखा उद्धरण आता है—

''ब्रह्मवादी इस पर बहस करते हैं कि इसे छोड़ें या न छोड़ें। वे कहते हैं कि इसे अवश्य छोड़ना चाहिये। ये कहते हैं कि इसे नये चान्द्र दिवस पर और पूर्णिमा पर छोड़ना चाहिए, क्योंकि वही दिन यज्ञ के दिन हैं। किन्तु जो लोग कहते हैं उसे नहीं छोड़ना चाहिये ; वे इसलिये कहते हैं कि नया चान्द्र दिवस और पूर्णिमा विशेष यज्ञों के दिन हैं।''

किन्तु यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि दिनों या महीनों या चार महीनों में मलमास जोड़ने या न जोड़ने का प्रश्न सौरवर्ष के सम्बन्ध में था या नक्षत्र वर्ष के सम्बन्ध में। ऊपर की बहस यज्ञों के सम्बन्ध में है । ये यज्ञ ''गवामू आयनम्'' या गोपथ कहलाते थे और गोपथ चूँकि मलमास के दिन मिला कर बनाया जाता था इसलिये उपर्युक्त उद्धरण ३६६ दिन के मलमास के सम्बन्ध में ही होगा । उपर्युक्त उद्धरण में मलमास के चाहे जिस रूप की बहस हो, चाहे वह सौरवर्ष नक्षत्रवर्ष या चान्द्र वर्ष के अन्तर को दूर करने के लिये हो या सौर वर्ष में दिन का हिस्सा जोड़ने के लिये हो, यह बात बिलकुल निश्चित है कि वैदिक ऋषि मलमास की समस्या से पूरी तरह परिचित थे। यह स्वतः प्रमाणित वास्तविकता है कि जब तक किसी जाति को वर्ष, मास और दिन गिनने न आयें और उस समय-गणना में उसे कोई गलती दिखाई न दे, तब तक वह जाति स्वप्न में भी मलमास जोड़ने की बात नहीं सोच

सकती । इसलिये यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों ने वर्ष, मास और दिन गिनने का कोई तरीका निकाल रखा होगा । किन्तु यह भी एक मानी हुई बात है कि वैदिककाल में, चाहे उसका समय कुछ हो, लिखने की कला के अभाव के कारण किसी भी बात की याद स्मृति में रखनी पड़ती थी । इस बात के कहने की जरूरत नहीं कि वैदिक ऋषि स्मरणशक्ति के बढ़ाने को बहुत महत्त्व देते थे । कितने वर्ष बीतते जाते हैं, इस बात का हिसाब कैसे रखा जाय, इसके लिये वैदिक ऋषि प्रति वर्ष किसी न किसी छन्द में ऐसे नए-नए मंत्र रचते थे, जिनके अक्षरों की संख्या ३६० होती थी । चूँकि ''सावन'' वर्ष में ३६० दिन ही होते थे, इस हिसाब से मंत्रों के अक्षर उतने दिनों की अवधि व्यक्त करते थे । शतपथ ब्राह्मण में पारिप्लवोपाख्यान में इस विचार की पुष्टि मिलती है।[5] होत्री द्वारा दस प्राचीन राजाओं और उनके अवश्मेघ यज्ञों के क्रिया-कलापों को व्यक्त करने वाले मंत्रों पर टीका करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

इन चक्राकार कहानियों में, राजाओं की कहानी, समस्त धर्म, समस्त वेद, समस्त देवता, समस्त प्राणियों और सच पूछा जाय तो होत्री जो कुछ भी जानता है, इन कहानियों में हमें बताता है । जो भी इसे (सुन लेता है) जान लेता है, वह राजस्व और जनता के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करता है । वह वेदों का ज्ञाता बनता है और देवताओं को सन्तुष्ट करके सब प्राणियों के ऊपर अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करता है। यह क्रम बार-बार पूरे वर्ष तक चलता रहता है और फिर भी समाप्त नहीं होता; चलता ही रहता है, इसलिये इसे चक्राकार या क्रमागत (कहानी) कहा जाता है । ३६x१० दिन तक होत्री इसे कहता है—बृहती छन्द में ३६ मात्राएँ हैं और पशुओं का सम्बन्ध बृहती छन्द से है। बृहती के द्वारा वह अपने लिये पशुओं का आयोजन करता है।[6]

ऐतरेय आरण्यक[7] में इस बात को और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक दिन मंत्र के प्रत्येक अक्षर को स्पष्ट करता है—

''एक हजार बृहती छन्दों से यह सम्पूर्ण होता है और वह मन्त्र पूर्ण है जिसमें एक हजार बृहती छन्द हों, जिनके ३६,००० अक्षर हों। एक सौ वर्ष में इतने ही (३६,०००) दिन होते हैं। व्यंजनों से रातें बनती हैं और स्वरों से दिन।''

इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि ३६० दिन के सावन वर्ष को ३६-३६ दिन के दस हिस्सों में बाँटते थे और इन दस हिस्सों को विविध पशुओं का नाम देते थे और ३६ अक्षरों के १० बृहती छन्दों में भी प्रत्येक वर्ष के दिनों का हिसाब रखते थे जिनकी वे एक वर्ष में या एक नियुक्त अवधि में रचना करते थे । प्राचीन मिस्री भी वर्ष को ३६ हिस्सों में बाँटते थे।[8] मिस्रियों को यह ज्ञान ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व था। चूँकि ये दोनों देश एक दूसरे से स्वाधीन समय-गणना प्रणाली ईजाद नहीं कर सकते थे इसलिए यही सम्भव है कि मिस्रियों ने यह वर्ष-गणना भारत से सीखी। इस बात के प्रमाण हैं कि आर्यों को यह ज्ञान बहुत पहले से था । दलील यह है कि प्रति वर्ष वैदिक मंत्रों में ३६ के १०-१० छन्द जुड़ते जाते थे।

''वेद'' शब्द से भी यही तात्पर्य है । वेद शब्द का दो अर्थों में उपयोग होता है—(१) कुश (घास) की संख्या और (२) पवित्र मन्त्रों की संख्या। वेद का शाब्दिक अर्थ है ''ज्ञान''। इससे स्पष्ट है कि वैदिक कवि वेद से कुश (घास) की संख्या और पवित्र मन्त्रों के अक्षरों की संख्या (जिनसे उनके युग को प्रारम्भ हुए कितने दिन बीते) — इन दो बातों का हिसाब रखते थे । हिन्दुओं में अब भी यह प्रथा है कि वे समस्त यज्ञों में ''वेद'' यानी कुश की ग्रन्थियाँ बनाते हैं और यज्ञ के बाद उन्हें हवन कुण्ड में डाल देते हैं । प्राचीन मैक्सिको के निवासी दिनों या रातों का हिसाब रखने के लिये उतनी ही बेतों के टुकड़ों का बण्डल बनाते थे। प्रेस्काट अपनी ''हिस्ट्री आफ मैक्सिको'' में लिखता है कि ''मैक्सिको वाले ५२ वर्षों का एक युग शुमार करते थे और उसे

वे ''गट्ठा'' या बण्डल कहते थे और इसके लिये वे उतनी ही बेतों को रस्सी से बाँधकर एक साथ रखते थे ।'' इसलिए यह बहुत सम्भव है कि मैक्सिकोवासियों का जो काम बेतों के बण्डल से पूरा होता था वही वैदिक ऋषि कुश से पूरा करते थे । वैदिक मन्त्र दिमाग और कान को मधुर लगते थे तो वैदिक कुश आँखों को सन्तोष देते थे । इस तरह ये दो प्रकार के वेद वर्ष और दिनों का हिसाब रखने और उनमें किसी तरह की गलती न होने देने के सच्चे उपाय थे । जबकि वैदिक ऋषि कुश को ४ अथवा ५२ वर्षों के युग के बाद यज्ञ में आहुति की तरह छोड़ देते थे, वैदिक मन्त्रों को जिनमें नई से नई और बिल्कुल प्रारम्भ से पुरानी ऋचाएँ शामिल होती थीं, इतनी सावधानी के साथ कण्ठस्थ कर लिया जाता था कि उनका एक भी अक्षर घट-बढ़ नहीं सकता था । सभी प्राच्य विशारद इस बात को जानते हैं कि ब्राह्मण लोग वैदिक मन्त्रों की रक्षा पर बेहद जोर देते थे और अब भी देते हैं। किन्तु यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि वैदिक मन्त्रों के अक्षरों में बाद में कुछ भी हेर फेर नहीं किये गये या मन्त्रों के क्रम में भी कोई परिवर्तन नहीं किये गये । हमें यजुर्वेद के ही मन्त्रों के विभाजन में तीन क्रम मिलते हैं जो ''कृष्ण यजुर्वेद '', ''शुक्ल यजुर्वेद'' और ''मैत्रायणीय यजुर्वेद'' कहलाते हैं । उनके क्रम और उनके पाठों में यत्र-तत्र इतना अन्तर मिलता है कि यह मानने के लिये विवश होना पड़ता है कि वेदों के क्रम और विषय-तत्त्व में भी थोड़े बहुत हेर-फेर अवश्य हुए होंगे। फिर भी एक लम्बे काल तक वेदों से दो मतलब सिद्ध हुए—(१) देवताओं की उपासना और (२) दिनों और वर्ष की गणना। हमारे इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद के इतने अधिक मन्त्रों से होती है कि उन सबको यहाँ उद्‌धृत कर सकना असम्भव है। उनमें से हम यहाँ कुछ दे रहे हैं—

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः । ऋग्वेद १. ६७. ३

बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि ।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य१स्तस्यदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति । ऋ० १. ८३. ६

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत् । ऋ० १. १०३. ४

इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः । ऋ० ३. ६०. ६

युगे युगे विदथ्यं गृणद्भ्यो ऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम् । ऋ० ६. ८. ५

वीळु चिदृळहा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण ।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतमुस्राः ।। ऋ० १. ७१. २

ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासोः अत्याः ।
ताँ आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामह त्वा सुत इन्द्र सोमे । ऋ० १. १७७. २

धेनुं न त्वा सूयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः ।
त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहा न इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ ।।
युजे रथं गवेषणं हरीभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः । ऋ० ७. १८. ४

आ नक्ता बर्हिः सदतामुषासोशन्ता मित्रावरुणा यजेह । ऋ० ७. ४२. ५

स त्वं न इन्द्र धियसानो अर्कैर्हरीणां वृषन्योक्त्रमश्रेः । ऋ० ५. ३६. २

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः । ऋ० ४. ४४. १

अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः । नियुद्भिश्चर्षणीनाम् । ऋ० ४. ३१. ४

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद । वीहि शूर पुरोळाशम् । ऋ० ३. ४१. ३

सहज बुद्धि हमें यही मानने के लिए विवश करती है कि वैदिक ऋषि दिनों की गणना मंत्रों के अक्षरों और कुश आदि से करते थे । इन चीजों का कोई पौराणिक या धार्मिक तात्पर्य नहीं हो सकता । ऋग्वेद की उपरोक्त और अन्य ऋचाओं से मुख्य आशय यह निकलता है कि इन्द्र और अग्नि शुक्ल दूज और पूर्णिमा की विशेष तिथियों के नाम थे और इनके आने का जिक्र बार-बार आता है । यह समझ लेने पर हम उस कथा को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिसके अनुसार किसी पक्षी या गाय द्वारा शुक्ल दूज के लाने का जिक्र मिलता है । ''जगती'' और ''त्रिष्टुभ्'' छन्दों में दो या तीन अक्षरों की कमी हो जाने की कहानी प्रचलित है। उस समय मंत्र के अक्षरों से दिनों की गणना होती थी। यदि नया चन्द्रमा या पूर्णिमा का चन्द्रमा छन्द के अक्षरों की संख्या से दो या तीन दिन बाद निकलता तो उस समय के प्रचलित तरीके से लोग कहते कि नये चन्द्रमा को लाने में यह छन्द दो या तीन अक्षरों से घट गया। उस काल में एक प्रथा यह भी थी कि यज्ञ मंडप के बीच में अलग-अलग सूखी और हरी दूर्वा बिछा देते थे। सूखी दूर्वा दिन की प्रतीक थी और हरी दूर्वा रात्रि की प्रतीक थी । इन्हीं दूर्वाओं को देखकर लोग प्रार्थना मंत्र कहते रहते थे।

इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक युग की समाप्ति पर उस युग में जितने दिन होते थे उतने ही अक्षरों के मंत्र रचे जाते थे । इस तरीके से वैदिक ऋषि बीते हुए दिनों का हिसाब रखते थे और इसी हिसाब से वे दूज और पूर्णिमा की तिथियों को ठीक-ठीक अनुमान कर सकते थे । इसी तरीके से वे मलमास के दिनों और यज्ञ के विशेष दिनों का भी हिसाब रखते थे। इसी सिद्धान्त को सामने रखकर शतपथ ब्राह्मण के रचयिता ने ऋग्वेद के समस्त अक्षरों को जोड़ डाला है और हिसाब लगाया है कि पूरा ऋग्वेद कितने वर्षों में लिखा गया— ''प्रजापति ने अपने मन में सोचा कि सृष्टि की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब त्रिगुणों में आ जाती हैं तो मैं अपने लिए एक ऐसी देह बनाऊँ जो इन त्रिगुणों को अपने अन्दर रख सके।''

''उसने ऋग्वेद के मंत्रों को १२ हजार बृहती छन्दों (हर बृहती छन्दों में ३६ अक्षर होते हैं) में बाँटा इसलिए कि प्रजापति ने इतने ही मंत्रों की रचना की थी। तीसवें भाग में पंक्ति (पंक्ति में ४० अक्षर होते हैं) को रखा चूँकि ३० भागों में बृहती रखा गया इसलिये महीने में ३० रातें होती हैं। इसके बाद प्रजापति ने पंक्ति की रचना की। पंक्ति छन्द में मन्त्राक्षर १०,८०० हैं।''

''फिर उसने अन्य दो वेदों को १२ हजार बृहती छन्द में लिखा । ८ हजार यजु में और ४,००० साम में। इन दोनों वेदों में (भी) प्रजापति ने इतने मंत्रों की रचना की।''[11]

यहाँ पर प्रजापति से तात्पर्य वर्ष से है। ऊपर के उद्धरण में प्रजापति का प्रयोग वर्ष के अर्थ में ही किया गया है। प्रजापति की देह से तात्पर्य एक युग या कुछ वर्षों के एक काल से है। वैदिक आर्य ३६० दिन के सावन वर्ष को मानते थे और ३६५ १/४ और सौर वर्ष के अन्तर को वे हर चौथे सावन वर्ष के बाद २१ दिन जोड़कर पूरा करते थे । इस तरह ऋग्वेद के ३६ अक्षरों के १२,००० बृहती मंत्रों के ४,३२,००० दिन या १२०० सावन वर्ष होते हैं। इस तरह शतपथ ब्राह्मण के रचयिता के

अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद १२०० वर्षों में लिखा गया। शतपथ ब्राह्मण का रचयिता यजुर्वेद का और सामवेद का रचना काल भी १२०० वर्ष मानता है। इस हिसाब से समस्त वेद २४०० वर्षों में लिखे गये, किन्तु अन्य बातों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेद और सामवेद के मंत्रों की रचना ऋग्वेद के मंत्रों की तरह दिनों की गणना को ध्यान में रखते हुए नहीं हुई।

सन्दर्भ सङ्केत

1. Prof. Eggelling's Translation.
2. यजुर्वेद : 6, 3, 3, 18 और 7, 1, 10
3. शतपथ ब्राह्मण : 11, 1, 2, 10
4. भगवद्गीता 8, 24, 25
5. शतपथ ब्राह्मण : 13, 4, 3, 1-15
6. वही 13, 4, 4, 15
7. Prof. Eggeling's Translation.
8. Prof. Muller's Translation.
9. देखें, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में ''जोडियाक''
10. देखें, हॉग द्वारा अनूदित ऐतरेय ब्राह्मण के पृष्ठ 42 और 76।

वैदिक देवमण्डल का उद्भव और परवर्ती विकास : एक विहंगम दृष्टि

डा० गयाचरण त्रिपाठी

भारत का धार्मिक इतिहास ऋग्वेद से भी पूर्ववर्ती है। भाषावैज्ञानिक अन्वेषणों से सिद्ध है कि यूरोप एवं भारत में बसी विभिन्न आर्यजातियाँ किसी अज्ञात प्रागैतिहासिक युग में अवश्य ही एक स्थान पर रहती थीं। विभिन्न आर्य जातियों के धार्मिक इतिहास में अनेक ऐसे देवता पाये जाते हैं जिनके नाम एवं स्वरूप में परस्पर घनिष्ठ साम्य है।

भारोपीय उद्गम

प्राचीनतम काल में इन आर्य देवों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस विषय में दो मत हैं। प्रथम जडात्मवाद पर आधारित है और द्वितीय जडचेतनावाद पर। प्रथम मत के प्रतिष्ठापक उज़ेनर तथा श्रोडर आदि जर्मन विद्वान् हैं। इनके अनुसार प्राचीन आर्य अपने जीवन अथवा संस्कृति के सभी प्रमुख क्षेत्रों के लिये एक-एक देवता की उद्भावना कर लेते थे । उदाहरणार्थ भारत में कृषि से सम्बन्धित **क्षेत्रपति,** रोमन धर्म में कृषि के विभिन कार्यों से सम्बन्धित **सिरीज** तथा **फ्लोरा** और लिथुआनियन धर्म में पशुओं से सम्बन्धित **सुत्वरस** तथा **गोथा** आदि । इन विद्वानों ने इन्हें विशिष्ट अथवा विभागीय देवता कहा है । इनके मत के अनुसार धीरे-धीरे ऐसे कई विभागीय देवताओं ने मिलकर इन्द्र तथा वरुण जैसे महत्त्वपूर्ण देवों का रूप धारण किया । जेम्स फ्रेजर का भी यही मत है कि द्यौः तथा अग्नि जैसे महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक देवों की उपासना से पूर्व आर्य तत्तत् प्राकृतिक दृश्यों के छोटे-छोटे अंशों को भी दैवी शक्ति से पूर्ण समझते थे । किन्तु ये मत अधिक तर्कसंगत नहीं हैं । वस्तुतः भारोपीय आर्य विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों को चेतन समझकर अथवा उसके पीछे किसी अज्ञात सर्वशक्तिमान् शक्ति के दर्शन पाकर, प्रकृति की उस महत्त्वपूर्ण शक्ति की ही उपासना करते थे । यह प्रक्रिया जडचेतनावाद कहलाती है क्योंकि उसमें जड तत्वों में चेतना की उद्भावना की जाती है। प्रथम मत जड़ वस्तुओं में उनसे पृथक् एक स्वतंत्र आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है, अतः उसे जडात्मवाद नाम से अभिहित किया जाता है। आर्य देवों के उद्भव में जडचेतनावाद के तत्त्व विद्यमान हैं।

भारोपीय देवों में द्येउस् सर्वप्रथम उल्लेखनीय है । यह शब्द भारतीय **द्यौस्** तथा ग्रीक **ज़्येउस्** का पुनर्निर्मित भारोपीय रूप है। यह शब्द **'द्यु'** जैसी किसी धातु से बना है और आकाश के भासमान पक्ष को सूचित करता है । वैदिक **द्यौः** का व्यक्तित्व अत्यन्त अस्पष्ट है किन्तु ग्रीक देवमंडल में **ज़्येउस्** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा परम शक्तिशाली देवता है । वह ग्रीक देवमण्डल का अधिपति है। रोमन **जु-पिटर** भी ज़्येयुस् का ही प्रतिरूप है और इसका नाम वैदिक **द्यौः**-पितर से साक्षात् सम्बन्धित है । वैदिक **वरुण** की ग्रीक देवमंडल के **'ऊरानॅस्'** से तुलना की जा सकती है । इसका भारोपीय रूप **'उओरुएनॅस'** है। आच्छादन करने के अर्थ वाली 'वृ' धातु से बने होने से प्रतीत होता है कि यह देवता भारोपीयकाल में आकाश के व्यापनशील पक्ष को द्योतित करता

प्राचार्य, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद

था। ग्रीक देवमण्डल में ऊरानॅस् एक अति साधारण देवता है । इसे ज़्येउस् का पितामह माना गया है । किन्तु ऋग्वेद में वरुण एक अत्यन्त सामर्थ्यशाली देवता है। नैतिक नियमों तथा 'ऋत' का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है । वह पापियों का शास्ता है। यह भावना संभवतः आकाश के सर्वत्र परिदृश्यमान एवं सर्वत्र व्याप्त भौतिक स्वरूप से उत्पन्न हुई है। ईरानी धर्म में वरुण का प्रतिरूप **'अहुर'** (वै० असुर) है जो पारसी देवमंडल की सर्वोच्च दैवी शक्ति है । इसमें भी अनेक नैतिक विशेषताएँ हैं । पृथ्वी से सम्बन्धित शब्दों का भी अनेक आर्य भाषाओं में साम्य है । पर इसका सशक्त मानवीकरण कभी नहीं हुआ । वैदिक **पर्जन्य,** लिथुआनियन, **पैकुर्नस्** तथा स्लेवानिक **पेरुन्** शब्दों की तुलना से प्राचीन आर्य जाति में एक वर्षा के देवता का भी अस्तित्व सिद्ध होता है । लिथुआनियन पैकुर्नस् अत्यन्त शक्तिशाली देवता है । सूर्य (लै० **सोल्,** ग्री० **हैलियोस्**), चन्द्रमा तथा उषस् (लै० **औरोरा**) से सम्बन्धित देवता भी प्राचीन आर्य देवमंडलों में प्राप्त होते हैं । अश्विनौ के स्वरूप का ग्रीक **'दियोस्कोरॉई** नामक युग्म देवताओं के स्वरूप से घनिष्ठ साम्य है । अग्नि शब्द के भी लैटिन में **इग्निस्,** लिथु० में **उग्निस्** तथा स्लेवानिक में **ओग्नि** आदि रूप मिलते हैं। गार्हपत्य अग्नि की ग्रीस में **हैस्तिया** तथा रोम में **वेस्ता** नामक दो प्रसिद्ध देवियाँ थीं । ईरान में **आतर** (आतश) नाम से उसकी पूजा होती थी। वायु तथा जल से सम्बन्धित देवता भी कुछ आर्य देवमंडलों में प्राप्य है।

प्राचीन आर्य अपने देवों की मूर्तियाँ नहीं बनाते थे । उनमें पितर पूजा प्रचलित थी । पौरोहित्य कर्मकाण्ड का संभवतः अभाव था।

अवेस्ता के वैदिक देवता

अब हम वैदिक आर्यों की ईरानी शाखा पर आते हैं। इनकी धर्म पुस्तक अवेस्ता है जो अब अत्यन्त खंडित रूप में प्राप्य है । यस्न (गाथा), विस्परेद, वेन्दिदाद तथा यश्त आदि इसके विविध अंश हैं । अवेस्ता की भाषा प्राचीन फारसी है जो वैदिक संस्कृत से बहुत अधिक साम्य रखती है और प्रतीत होता है इसके बोलने वाली जाति भी आर्यों की एक शाखा थी। तुर्किस्तान (प्राचीन एशियामाइनर) में प्राप्त १५वीं शताब्दी ई० पू० के एक मृत्फलक पर **इन्द्र, मित्र, वरुण** तथा **अश्विनौ** (नासत्या) इन चार वैदिक देवों के नाम प्राप्त होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक आर्यों की कुछ शाखाएँ पश्चिम की ओर गई, क्योंकि यह सोचना असंभव है कि १५००ई० पू० तक भी आर्य भारत में नहीं आये थे और मध्य एशिया में ही रहते थे । ईरानी जाति भी वैदिक आर्यों की ही एक शाखा प्रतीत होती है । ज्योतिष सम्बन्धी एक सबल प्रमाण से इसकी पुष्टि होती है। ८वें यश्त में **तिश्त्र्य** द्वारा वृष्ट्याच्छादक दैत्य **अपाओषा** का वध कर के वर्षा कराने का वर्णन है । यह तिश्त्र्य लुब्धक नक्षत्र का मानवीकरण है । इसका उदय लगभग जुलाई के मध्य में होता है। किन्तु ईरान में जुलाई तथा अगले मासों में भीषण गर्मी पड़ती है । वहाँ वर्षा का काल नवम्बर से जनवरी तक रहता है । इसके विपरीत जुलाई एवं अगस्त के मासों में भारत में, विशेषतः उत्तरी भारत में पर्याप्त वर्षा होती है । अतः प्रतीत होता है कि यह कथा मूलतः भारतीय है । ईरानी आर्य भारत से ही वहाँ जाकर बस गये थे और यह कथा परम्परा से उनकी स्मृति में सुरक्षित थी । हो सकता है ये वे ही **'अर्य'** हों जो ऋग्वेद में प्रायशः उल्लिखित हैं। आर्य जाति के ईरान में प्रवेश से पूर्व वहाँ जो आदिवासी रहते थे उनके पुरोहितों का नाम था **मागी** । ये जादू टोने आदि में बड़े कुशल थे और इनका धर्म कुछ निम्न कोटि का था। आर्यों और मागियों के धार्मिक विश्वासों का सम्मिश्रण होने पर वहाँ एक विचित्र प्रकार के धर्म का सूत्रपात हुआ जो अत्यन्त जटिल तथा दुष्पाल्य था । अतः लगभग १००० ई० पू० ईरान में ज़रथुस्त्र नामक एक महान् धार्मिक क्रान्तिकारी का जन्म हुआ जिसने प्राचीन ईरानी धर्म को संशोधित करके उसे एक नया रूप प्रदान किया । प्रकृति पर आधारित देवों की उपासना का बहिष्कार करके उसने नैतिक तत्त्वों की मान्यता पर विशेष बल दिया। किन्तु फिर भी जनता के हृदय में प्राचीन देवों के प्रति विश्वास बना रहा और ज़रथुस्त्र के आन्दोलन के शिथिल होने पर वह फिर उभरा । परवर्ती अवेस्ता (यश्त-भाग) में ऐसे अनेक देवों का उल्लेख और वर्णन है जो वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होते हैं । देव (ई० दएव = दैत्य) और

असुर (ई० अहुर = देवता) शब्दों के ईरान तथा भारत में विरुद्ध अर्थों का कारण कुछ ने पारस्परिक विरोध माना है। पर इसका कारण दोनों के धार्मिक इतिहास में इनकी अवधारणा का पृथक्-पृथक् विकास है।

'अहुर' शब्द वैदिक 'असुर' का प्रतिरूप है। ऋग्वेद में यह प्रमुखतः वरुण का विशेषण है। वरुण और अहुर के स्वरूप में अत्यधिक साम्य है। दोनों अत्यन्त उत्कृष्ट नैतिक देवता है। 'ऋत' या 'अश' की धारणा का उनसे सम्बन्ध है। यद्यपि इनकी उत्पत्ति का भौतिक आधार आकाश को माना जाता है किन्तु कुछ विद्वानों ने व्रत (नियम) आदि शब्दों में निहित धातु अथवा ऋ धातु के आधार पर इसकी अमूर्त या भावात्मक उत्पत्ति मानी है। ओल्डेवेर्ग आदि **वरुण, मित्र** एवं **आदित्यों** को देवमंडल से बाहर की वस्तु मानकर उनका सेमेटिक उद्गम मानने के पक्ष में है। उनके मत से ये देवता मूलतः क्रमशः **चन्द्र, सूर्य** एवं **ग्रहों** को सूचित करते हैं । पर ये मत प्रतिष्ठित नहीं हो सके हैं । मिथ्र का वैदिक मित्र के साम्य है। यह देवता मूलतः सूर्य से सम्बन्धित है। अवेस्ता में इसका यह रूप और स्पष्ट है। साथ ही मैत्री तथा प्रतिज्ञा की सुरक्षा के लिये भी उसका आह्वान किया गया है । मिथ्र को परलोक में आत्मा को स्वर्ग या नरक प्रदान करने वाला समझा जाता है । अवेस्ता में मिथ्र को प्राचीनकाल का सर्वश्रेष्ठ वीर देवता माना गया है एवं अनेक देवकथाएँ उससे सम्बन्धित हैं। ईसवी सन् के आसपास मिथ्र की उपासना ईरान से रोम में भी सर्वत्र व्याप्त हो गई थी । वैदिक सोम की भाँति ईरान में **'हओम'** नामक एक अत्यन्त पवित्र पेय का उल्लेख मिलता है । सोम की भाँति इसका दिव्य रूप भी है इसका नाम **'गओकरन'** है और एक पक्षी इसे पृथ्वी पर लाता है । वैदिक सोम में वर्णित प्रायः सभी गुण 'हओम' में प्राप्त होते हैं। **आतर** अग्नि का पारसी नाम है । जरथुस्त्र ने इसे अहुर के तेज का प्रतीत मानकर अपने धर्म में इसकी उपासना निश्चित की थी । प्रत्येक धार्मिक पारसी के घर में यह उपास्य थी और सदा प्रज्जवलित रहती थी । वैदिक यम का भी 'यिम' के रूप में अवेस्ता में उल्लेख प्राप्त होता है । इसे प्राचीनकाल का एक अत्यन्त पराक्रमी राजा माना गया है । स्वर्ग में प्रजा का संयमन करने वाले यम की भांति अवेस्ता के यिम का भी एक 'वर' या बाड़ा है जिसमें सब प्राणी निवास करते हैं । यह **वीवङ्ह्वन्त** या विवस्वान् का पुत्र है । वीवङ्ह्वन्त को अवेस्ता में प्रथम सोमसावक कहा गया है । ऋग्वेद में भी वह सोम से सम्बन्धित है। इन्द्र का वृत्रघ्न (वृत्रहन्) विशेषण **'वेरेथ्रेग्न'** नामक एक शक्तिशाली देवता के रूप में अवेस्ता में प्राप्य है । इन्द्र का सहायक त्रित-आस्त्य, **थ्रित आथ्व्य** के रूप में उपलब्ध होता है । स्वर् (या सूर्य) का **ह्वर** के रूप में तथा वायु का **'वयु'** के रूप में उल्लेख है । **ऐर्यमन्** मुख्यतः विवाह से सम्बन्धित है और वैदिक अर्यमा का प्रतिरूप है । अपानंपात् का भी इसी नाम (**अपामुनपत्**) से अवेस्ता में उल्लेख है । कुछ अन्य अवर वैदिक देवता भी अवेस्ता में प्राप्त होते हैं पर **इन्द्र** तथा **नाओङ्हैथ्या** (नासत्या) का राक्षसों के रूप में उल्लेख है।

सामान्य विशेषताएँ

वैदिक देवों के मूलस्वरूप के विषय में विभिन्न विद्वानों के अनेक मत हैं। स्वामी दयानन्द उन सबको एक परमेश्वर के वाची विभिन्न नाम मानते हैं । ऋषि अरविन्द का मत है कि वेदों में उन गूढ़ मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक सत्यों का वर्णन है जिन्हें ऋषियों ने समाधि की दशा में प्राप्त किया था । वी० जी० रेले का विचार है कि वे स्नायु संस्थान की संरचना का वर्णन करते हैं। परमशिव अय्यर के मत के अनुसार वे कुछ भौगोलिक दृश्यों के प्रतीक हैं । लोकमान्य तिलक ने अनेक देवों एवं देवकथाओं को उत्तरी ध्रुव के विभिन्न दृश्यों से सम्बन्धित करने की चेष्टा की है तो डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की व्याख्या प्रणाली आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक है । यास्क के निरुक्त में उस मत के बीज हैं जिनके आधार पर पाश्चात्य विद्वान् देवों को विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण समझते हैं । पर वैदिक ऋषि इन प्राकृतिक शक्तियों की नहीं अपितु इनके पीछे समान रूप से प्रतिबिम्बित किसी अव्यक्त चेतन शक्ति की उपासना करते थे । वैदिक संहिताओं के अनेक मंत्रों से इसकी पुष्टि होती है । इसी साम्य के

कारण प्रायः सभी प्रमुख देवों में कुछ सर्वनिष्ठ विशेषताएँ प्राप्त होती हैं । ऋग्वेद के देवता सर्वशक्तिमान्, उदार तथा दयालु हैं । वे उपासक को अभीष्ट फल प्रदान करते हैं । अथर्ववेद में उनका आभिचारिक रूप प्रधान है और छोटे-छोटे कृत्यों में सफलता के लिये उनका आह्वान किया गया है। यहाँ मंत्रशक्ति प्रमुख है । ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ सर्वोच्च शक्ति है और देवता भी उसी के आधार पर जीवित रहते हैं । गृह्यसूत्रों में उनकी प्राचीन विशेषताओं के आधार पर विभिन्न गार्हस्थिक कृत्यों के लिये उनका आह्वान किया गया है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में देवों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास प्राप्त होता है किन्तु अब उनमें पहले जैसी शक्ति नहीं। मानव की दुर्बलताएँ एवं आकांक्षाएँ देवों में भी प्राप्त होती हैं । अनेक प्रकार के रोचक आख्यान भी यहाँ उनके सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं जिनमें से कुछ का वैदिक आधार है।

वैदिक देवों को कई प्रकार से वर्गीकृत किया गया है । उज़ेनर ने उनके विकास की तीन अवस्थाएँ मानी है । क्षणिक देवता, विशेष-देवता तथा व्यक्तित्वपूर्ण देवता । ब्लूमफील्ड ने उनकी प्रकृति के आधार पर उन्हें, भारोपीय, स्पष्ट, अल्प-स्पष्ट, अस्पष्ट तथा अमूर्त इन पाँच वर्गों में विभक्त किया है । दोनों ही विभाजन दोषग्रस्त है। निरुक्तकार के ही मत को अपनाना उचित जान पड़ता है जो ऋग्वेद से समर्थित है । इसमें देवों के उद्‌गम के प्राकृतिक आधार पर उन्हें पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युस्थानीय इन तीन वर्गों में बाँटा गया है।

आकाशस्थानीय देवता

यद्यपि पुराणों में बारह आदित्यों का उल्लेख मिला है किन्तु ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग में इनकी संख्या केवल छः है । इस सूची में क्रमशः अन्य देवता सम्मिलित होते गये हैं । वैदिक आदित्यों का स्वरूप अनिश्चित है । रोठ ने उन्हें अदिति अथवा अनन्तता का पुत्र मानते हुए उनकी पूर्णतः भावात्मक व्याख्या की है। ग्रिसवोल्ड ने उन्हें प्राचीन उत्कृष्ट वैदिक देव वरुण के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को द्योतित करने वाले विशेषणों से उद्‌भूत देवता माना है । शतपथ ब्राह्मण में उनका द्वादश मासों से तादात्म्य किया गया है और पुराणों में वे सूर्य के विविध रूप हैं । ब्राह्मण ग्रंथों में उनकी ऋषियों के रूप में भी अवधारणा प्राप्त होती है। वैदिक सूर्य का मानवीकरण अत्यधिक अपूर्ण है । वे प्रकाश प्रदान करने के कारण प्राणियों के नेत्र हैं । वे राक्षसों को नष्ट करते हैं। उन्हें समस्त स्थावर जंगम जगत् की आत्मा कहा गया है। **वस्** धातु से स्पष्ट है कि विवस्वान् भी मूलतः प्रकाश से सम्बन्धित है। पर उन्हें मनुष्यों का आदिजनक माना गया है। सोमरस के सवन से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है । **सविता** का अर्थ है प्रेरणा देने वाला। यह सूर्य के प्रातःकाल समस्त प्राणियों को अपने-अपने कार्यों में प्रेरित करने और सद्‌विचारों को पुष्ट करने के रूप को व्यक्त करता है । पहले यह संभवतः सूर्य का विशेषण था । 'सू' धातु का अर्थ उत्पन्न करना भी होता है । इस प्रकार सविता प्रजापति भी है। ब्राह्मण ग्रंथों में सत्कर्म के संपादयिता के रूप में इनका पर्याप्त महत्त्व है। **पूषा** मुख्यतः ऋग्वेद में पशुओं के अभिरक्षक के रूप में प्रसिद्ध है, 'पुष्' धातु से इनका सम्बन्ध भी यही प्रकट करता है। ब्राह्मण ग्रंथों में एक अमेध्य वस्तु के भक्षण से पूषा के दन्तभंग का उल्लेख है । पुराणों में रुद्र या उनके गणेश्वर वीरभद्र द्वारा पूषा के दाँत तोड़े जाने का उल्लेख है । **अर्यमा** का अर्थ है सुहृद्। ये भावात्मक देवता हैं एवं आर्य जाति के आदि उपास्य देव माने जाते हैं। पुराणों में इनकी पितरों के अधिपति के रूप में प्रतिष्ठा है । ऋग्वेद में मित्र की लगभग वे ही विशेषताएँ हैं जो वरुण की । ये भी नैतिकता से पूर्ण हैं। उपर्युक्त सभी देवता पौराणिक काल में आकर लुप्त हो गये हैं और उन सभी के नाम सूर्य देवता के वाची हैं । पुराणों में सूर्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देव हैं। सूर्य की **संज्ञा** एवं **छाया** नामक दो पत्नियाँ हैं । यम, यमुना (यमी), मनु तथा शनैश्चर आदि पुत्र। संज्ञा से उनके अश्विनी नामक दो पुत्रों की उत्पत्ति की कथा पुराणों में विस्तार से दी गई है । ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में यह कथा केवल दो मंत्रों में संक्षिप्त रूप से उल्लिखित है और विवस्वान् से सम्बन्धित है । सूर्य देवता विद्या एवं ज्ञान के अधिष्ठाता हैं ।

सप्त छन्द रूपी उनके रथ के सात अश्व हैं । जल से निकलने और जल में ही लीन होने जाने के कारण वे 'नारायण' हैं । पौराणिक काल में उनको जगत् के आदि कारण तथा प्राणधारक मानकर जगत् की सर्वोत्कृष्ट शक्ति की रूप में उनकी उपासना करने वाला एक पृथक् धार्मिक सम्प्रदाय व्यापक रूप से प्रचलित रहा है।

ऋग्वेद में **वरुण** एक उत्कृष्ट नैतिक शासक हैं। देवता तक उनके बनाए नियमों का पालन करते हैं । वे जागतिक नियम 'ऋत' के पोषक हैं एवं पापियों को दण्ड देते हैं। वे राजा हैं और असुर (शक्तिशाली) शब्द उनका प्रमुख विशेषण है। आकाश में निवास करने के कारण उनका दिव्य जल या आपस् से घनिष्ठ सम्बन्धित है। **मित्र** के साथ उनका युग्म है। ब्राह्मण ग्रंथों में वरुण का रात्रि से तथा मित्र का दिन से सम्बन्ध वर्णित है । ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेप तथा हरिश्चन्द्र की कथा में उनका मानवरूप भी परिलक्षित होता है । पुराणों में वरुण केवल जल के स्वामी हैं, उसी में उनका भवन है । जलचर जीव उनके गण हैं । उनका महत्त्व अत्यधिक क्षीण हो चुका है। उन्हें अश्वों का विशेष रूप से अधिपति बताया गया है । और उनका चित्रण पीताम्बरधारी प्रौढ़ क्षत्रिय के रूप में किया गया है। मित्रवरुणी का युग्म पुराणों में भग्न हो गया है केवल रामायण में एक बार उसका उल्लेख है।

अश्विनौ ऋग्वेद में दो सदा साथ रहने वाले दयालु एवं सुन्दर युवकों के रूप में चित्रित किये गये हैं । पीड़ित एवं संकटग्रस्त मनुष्यों की सहायता करने की इनकी अनेक गाथाएँ प्रसिद्ध हैं । इन्हें देवों का वैद्य माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में आई इनके द्वारा वृद्ध ऋषि च्यवन को युवा बना देने की कथा पुराणादिकों में विस्तार से प्राप्त होती है। इन्हें प्रवर्ग्य या मधुविद्या में कुशल बताया गया है । पुराणों में विवस्वान् से इनकी उत्पत्ति की कथा भी विस्तार से वर्णित है। यास्क ने अश्विनौ के मूलस्वरूप के विषय में चार मत दिये हैं। कुछ इन्हें संध्या एवं भोर का तारा मानते हैं । तथापि इनके उद्‌गम के विषय में अभी तक कोई सर्वमान्य मत नहीं है।

वेदों में विष्णु

विष्णु शब्द का अर्थ है सर्वत्र प्रवेश करने वाला, तथा सबको व्याप्त कर लेने वाला । वृहद्देवताकार ने इन्हें सूर्य का एक रूप माना है जो उपयुक्त है। पृथ्वी अन्तरिक्ष एवं आकाश में सूर्य की किरणों की स्थिति को ध्यान में रखकर वेदों में विष्णु के तीन पदक्रमों का उल्लेख मिलता है जो पुराणों में वामन अवतार की कथा के रूप में विकसित हुआ है । ब्राह्मण काल में यज्ञ को भी समस्त संसार एवं वस्तुओं का व्यापक समझा जाता था। अतः विष्णु का यज्ञ से तादात्म्य हुआ । विष्णु के यज्ञमय वामन रूप का भी ब्राह्मणों में उल्लेख है । विष्णु के यज्ञ से तादात्म्य के कारण शतपथ ब्राह्मण की एक रहस्यात्मक कथा में कहा गया है कि एक बार विष्णु (यज्ञ) का सिर कटकर आकाश में जाकर सूर्य बन गया । प्रवर्ग्य का कृत्य ही यज्ञ में सर्वप्रमुख होने के कारण यज्ञ का सिर है। प्रवर्ग्य क्रिया में उपयुक्त मिट्टी का प्रतप्त पात्र ही आदित्य है । पुराणों में भी विष्णु का यज्ञ से सम्बन्ध है। उनके 'यज्ञमय' वाराह रूप का विशेष वर्णन किया गया है। वराह की कथा के बीज ऋग्वेद में ही प्राप्त होते हैं । पर यहाँ वराह वृत्रासुर का नाम है । ब्राह्मणों में यह कथा एक रहस्यात्मक रूप धारण करती हैं । श० ब्रा० में प्रजापति द्वारा वराह रूप धारण करके पृथ्वी के उद्धार का उल्लेख है । रामायण में भी ब्रह्मा जलमग्न पृथ्वी को ऊपर लाते हैं पर बाद में यह कृत्य विष्णु से सम्बन्धित कर दिया गया है । सम्बन्ध का सूत्र है संभवतः नारायण शब्द, जो पहले पुरुष या प्रजापति का विशेषण था पर बाद में विष्णु से सम्बन्धित हो गया । विष्णु के मत्स्य अवतार की कथा का श० ब्रा० में वर्णित जलप्लावन की कथा से सम्बन्ध है । यहाँ वह मछली प्रजापति का रूप है । महाभारत में भी प्रजापति ब्रह्मा मत्स्य रूप में मनु को बचाते हैं किन्तु बाद में यह कार्य विष्णु से सम्बन्धित हो जाता है और इसका उद्देश्य वेदों का पाताल से उद्धार वर्णित किया जाता है। ब्राह्मणों में कूर्मरूप भी प्रजापति का ही है विष्णु का नहीं । महाभारत आदि में अमृतमंथन के समय मंदराचल को धारण करने वाला कर्म लोकविश्वास के अनुसार

पृथ्वी का धारक कूर्म है। बाद में इसे विष्णु का अवतर बना दिया गया है । पुराणों में उनके अन्य कई अवतारों का उल्लेख है जिसमें नृसिंह पर्याप्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण है। इस अवतार के मूल तत्त्व आध्यात्मिक हैं। इस प्रकार विष्णु के अनेक रूपों के कारण और सर्वत्र उनकी व्यापनशीलता से उनके विराट रूप की धारणा उद्‌बुद्ध हुई है । वेदों में इन्द्र से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पशुओं से भी उनका सम्बन्ध वर्णित है । गो शब्द किरण का भी वाची है । ऋग्वेद में विष्णु के लोक में अनेक 'भूरिशृंगा' गायों की स्थिति मानी गई है जो बाद में उनके गोलोक की कल्पना के रूप में विकसित हुई है। प्रकाश का समुद्र ही क्षीर सागर है।

वैदिक 'श्री' का अर्थ है शोभा या समृद्धि । यजुर्वेद में यह उल्लिखित है। संभवतः इसका भौतिकरूप सूर्योदय से पूर्व की छटा या उषस् से सम्बन्धित रहा होगा। ऐश्वर्य एवं समृद्धि का विष्णु से सम्बन्ध होने के कारण ही वे श्रीपति हो गये । अग्नि ही गरुड है जो यज्ञ रूपी विष्णु का वहन करता है । यजुर्वेद एवं श० ब्रा० से गरुड का यह रूप स्पष्ट है । सुदर्शन चक्र संभवतः वैदिक काल-चक्र की धारणा का विकसित रूप है।

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता :

इन्द्र वेदों में बल एवं वीरता के देवता हैं। इनके नाम का अर्थ और व्युत्पत्ति अनिश्चित है। वे अत्यधिक सोम-प्रेमी हैं और उसके मद में वृष्टि के अवरोधक दैत्य **वृत्र** का वध करके आकाशीय जल को विमुक्त करते हैं । वे बल आदि दैत्यों द्वारा बद्ध गायों (गावः) को भी मुक्त करते हैं, जो सूर्य की किरणों की प्रतीक है । वे अत्यन्त सामर्थ्यशाली हैं। ब्राह्मणों में यज्ञ एवं वाक् से उनकी उत्पत्ति वर्णित की गई है । ब्राह्मणों में आई कथाओं में वृत्र को त्वष्टा ऋषि द्वारा आहुति के माध्यम से यज्ञ कुंड से उत्पादित बताया गया है जो इन्द्र से इसलिये क्रुद्ध हो गये थे कि उसने उनके विश्वरूप नामक पुत्र का वध कर दिया था। पुराणों में यह कथा अत्यन्त विस्तार से वर्णित है । पर वृत्र का चरित्र अत्यन्त ऊँचा है। वृत्र वध के लिये इन्द्र को दधीचि की अस्थियों की आवश्यकता पड़ती है । नमुचि के वध की कथा महाभारत में पुनः विस्तार से प्राप्त होती है। इन्द्र के चरित्र का उत्तरोत्तर पतन होता गया है । जैमिनीय ब्राह्मण में इन्द्र को अहल्या का जार कहा गया है जो सूर्य द्वारा रात्रिक्षय का प्रतीत है । रामायण एवं ब्रह्म पुराण में यह कथा विशेष रूप से पल्लवित की गई है। पुराणों में इन्द्र को अत्यन्त निर्बल, ईर्ष्यालु तथा निकृष्ट चित्रित किया गया है। वह नाममात्र का देवराज है और पार्थिव वीरों से ही हार जाता है। उसका कार्य केवल वर्षा करना है।

मरुत् झंझावात के देवता हैं । इनका एक गुण है जिसकी संख्या प्राचीन वैदिक ग्रंथों में निश्चित नहीं है। इन्हें रुद्र एवं पृश्नि का पुत्र कहा गया है। इन्द्र के ये विशेष सहायक हैं। पुराणों में मरुत् के जन्म के विषय में कहा गया है कि दिति ने इन्द्र के विनाशक पुत्र की प्राप्ति के लिये बहुत समय तक व्रत किया । इन्द्र ने वज्र से उसके गर्भ को नष्ट कर डाला किन्तु वे बालक मरे नहीं और ४९ मरुत् बन गये । मरुतों के सात गण हैं जो वायु के एक-एक स्कन्ध में विचरण करते हैं । **वायु** का वेदों में तनिक भी मानवीकरण नहीं है पर पुराणों में वे एक व्यक्तित्वपूर्ण और अपरिमित शक्तिशाली देवता के रूप में उभरते हैं । वे देवों के दूत और वाणी के अधिष्ठाता हैं। रामायण में हनुमान् तथा महाभारत में भीम उनके पुत्र वर्णित किये गये हैं।

वेदों में रुद्र

रुद्र या शिव के व्यक्तित्व में विविध प्रकार के तत्त्वों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। ऋग्वेद में उनका चित्रण एक तेजस्वी, पराक्रमी तथा क्रोधी नवयुवक के रूप में किया गया है । संभवतः ये अग्नि के घोर या तडित् रूप से सम्बन्धित हैं । इसीलिये इनका झंझावात एवं वर्षा तथा तदनन्तर उत्पन्न होने वाली औषधियों से भी सम्बन्ध है। धूमयुक्त अग्नि को दृष्टि में रखकर रुद्र को नीलशिखंड या 'असितग्रीव' उपाधि दी गई है जो पुराणों में शिव के द्वारा हलाहल पान की कथा के रूप में विकसित हुई है। इस कथा के बीच ऋग्वेद में निहित हैं जहाँ केशी या सूर्य को विष (जल) पान करने वाला कहा गया है। वेदों में रुद्र को मरुतों का पिता माना गया है पर पुराणों में यह धारणा प्रलुप्त हो गई है। रुद्र के उग्र, भीम तथा ईशान आदि विशेषण भी वैदिक संहिताओं

में प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद में रुद्र को त्र्यम्बक भी कहा गया है जो अग्नि के तीन रूपों की ओर संकेत करता है । कुछ विद्वान् शिव को एक आर्येतर या द्रविड़ देवता मानते हैं जिनका बाद में रुद्र से तादात्म्य हो गया किन्तु ऋग्वेद में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रुद्र को शिव कहा गया है । हाँ, रुद्र के स्वरूप में आर्यों के ही कुछ लोकविश्वास के देवों की विशेषताओं का सम्मिश्रण हुआ है। लोक-विश्वास के देवताओं में मांगलिक एवं अमांगलिक दोनों प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। रुद्र का वैदिक स्वरूप भी ऐसा ही था। अतः रुद्र ने लोक विश्वास के अनेक देवों को आत्मसात् किया। कुछ विद्वानों का मत है कि सिन्धु घाटी की खुदाई से जो लिंग मिले हैं वे वैदिक रुद्र से पूर्व एक शिव जैसा देवता का अस्तित्व सिद्ध करते हैं । किन्तु लोथल आदि स्थानों के उत्खनन से सिद्ध है कि सिन्धु की सभ्यता आर्य संभ्यता है और वह ऋग्वेद से परवर्ती है। अथर्ववेद में **भव** और **शर्व** नामक दो पृथक् देवों का उललेख है जिनका बाद में शिव से तादात्म्य हो गया । लौकिक क्षेत्र में शिव के महत्त्व का पता श० ब्रा० में वर्णित त्र्यम्बक होम से चलता है। इसमें उनकी **अंबिका** नामक एक बहन भी बताई गई है जो लोक विश्वास की मंगलमयी देवी हैं और बाद में शिव की पत्नी बन गई हैं। यजुर्वेद के शतरुद्रिय सूक्त में रुद्र को अगणित उपाधियों से विभूषित किया गया है। यहाँ अनेक 'रुद्रों' का उल्लेख है । ये रुद्राः बाद में रुद्र के गणों के रूप में विकसित हुए हैं। ऋग्वेद में 'रुद्रासः' शब्द रुद्र के पुत्रों या मरुतों का वाची है । ब्राह्मण ग्रंथों में रुद्र की भव, शर्व, पशुपति, उग्र, ईशान, और भीम आदि अष्टमूर्तियों का भी विस्तार से वर्णन है। और उन्हें प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों (जल, पृथ्वी आदि) से सम्बन्धित किया गया है । प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री के प्रति बुरी भावना रखने पर रुद्र उन्हें दण्ड देते हैं । रुद्र के विशेष व्यक्तित्व के कारण उन्हें यज्ञ से सदा पृथक् रखा गया किन्तु दक्षयज्ञ विध्वंस की कथा से स्पष्ट है कि उन्हें बाद में उचित सम्मान मिला । यह कथा यह भी बताती है कि रुद्र या शिव मुख्यतः निवृत्तिमार्गी ज्ञानी या योगी व्यक्तियों के उपास्य थे । इसके विपरीत विष्णु वैदिक कर्मकाण्ड के अनुयायियों के। रुद्र द्वारा त्रिपुर विध्वंस की कथा के बीज भी ब्राह्मणों में हैं। लिंग पूजा बाद में शिवोपासना का प्रमुख अंग बन गई है पर इसका प्रतीकात्मक रूप ही प्रधान रहा। शिव पौराणिक युग के अत्यन्त उत्कृष्ट देवता हैं । अंबिका एक ऐसी देवी हैं जो लोकविश्वास से धीरे-धीरे हिन्दू देवमंडल में आई । इनके अनेक रूप थे। बाद में परब्रह्म की शक्ति के रूप में इनकी धारणा अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँच गई । गणेश का उल्लेख विनायकों के रूप में गृह्यसूत्रों में मिलता है। स्कन्द भी लोक विश्वास से भारतीय देवमंडल में प्रविष्ट हुए हैं।

पृथ्वी स्थानीय देवता

अग्नि विशेष रूप से यज्ञिय देवता हैं । इनकी मानवीय विशेषताएँ इनके भौतिक रूप पर ही आधारित है । इनके दिव्य (सूर्य), अन्तरिक्षगण (तडित्) तथा पृथ्वीगत (अग्नि) ये तीन रूप माने जाते हैं । यज्ञों को देवों तक ले जाने वाले ये सुपर्ण पक्ष हैं और राक्षसों को विनष्ट करते हैं । पुराणों में इनका चित्रण लंबकूर्चयुक्त वृद्ध ब्राह्मण के रूप में मिलता है जो इन्द्र के विशेष सहायक हैं । इनके व्यक्तित्व में भौतिक तथा दैवी तत्त्वों का समिश्रण है जो महाभारत की खांडव दाह कथा में सर्वाधिक स्पष्ट है। **यम** ऋग्वेद में सर्वप्रथम मरने वाले मर्त्य हैं जिन्होंने मृतात्माओं के लिये स्वर्ग के मार्ग की खोज की। वहाँ वे पितरों के साथ निवास करते हैं । बाद में उन्हें मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों का विवेचक बनाकर नरक का अधिपति बताया गया है जहाँ वे पापियों को दण्ड देते हैं। उनकी आकृति कठोर तथा वर्ण कृष्ण है । उन्हें अनेकशः 'धर्मराज' की भी पदवी दी गई है। **सोम** एक यज्ञिय मादक पेय है किन्तु इसका दिव्य रूप भी है । वहाँ से यह एक श्येन द्वारा नीचे लाया जाता है । महाभारत में यह उल्लेख एक विस्तृत कथा के रूप में विकसित हुआ है जिसमें गरुड़ अपनी माता विनता को दास्यभाव से छुड़ाने के लिए स्वर्ग से अमृत लाते हैं। कथा का आधार ब्राह्मण ग्रंथों में है । बाद में सोम शब्द सामान्यतः चन्द्रमा का वाची है । इसे नक्षत्र रूपी स्त्रियों का पति बताकर एक सुन्दर युवक के रूप में चित्रित किया गया है।

भावात्मक देवता

ऋग्वेद में ऐसे भी अनेक देवता प्राप्त होते हैं जिनकी उत्पत्ति भाव विशेषों से हुई है । उदाहरण के लिये **प्रजापति** एक अमूर्त देवता हैं । ऋग्वेद के ऋषियों ने समस्त सृष्टि के उत्पादक एवं देवों के भी अधिपति के रूप में इस महान् देवता की उद्‌भावना की थी । इन्हीं की **हिरण्यगर्भ** तथा **ब्रह्मन्** (ब्रह्मा) आदि संज्ञाएँ हैं । ब्रह्म विशाल अथवा महान् को कहते हैं। यह शब्द स्तुति अथवा रहस्यात्मक आध्यात्मिक ज्ञान का वाची था। ज्ञानरूपी अथवा चैतन्यमय परमात्मा सृष्टि का आदिकारण है। इस दृष्टि से ब्रह्मन् शब्द अपने पुल्लिंग रूप (ब्रह्मा) में सृष्टि का जनक है। प्रजापति एवं उनकी पुत्री के परस्पर शारीरिक संयोग की कथा के बीज ऋग्वेद में हैं जिसमें प्रजापति सूर्य हैं और पुत्री उषस्। ऐतरेय ब्राह्मण में आई यह कथा रोहिणी एवं आर्द्रा आदि नक्षत्रों की स्थिति पर आधारित है । ब्रह्मा की पत्नी **सरस्वती** है जो वाक् की प्रतीक है । ब्रह्मा वैदिक ज्ञान को सूचित करते हैं । पुराणों में उनका एक वृद्ध चतुर्मुख व्यक्ति के रूप में चित्रण है। वे सृष्टि के उत्पादक हैं और देवों तथा असुरों से समान रूप में पूज्य हैं। **बृहस्पति** स्तोत्रों के अधिष्ठाता अमूर्त देवता हैं। इसी से इनकी संज्ञा **ब्रह्मणस्पति** भी है। बाद में ये एक विद्वान् तथा बुद्धिमान् ब्राह्मण के रूप में देवराज इन्द्र के पुरोहित बन गये हैं। इनके स्वरूप में अनेक मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं। **अदिति** भी एक अमूर्त देवी है और आनन्त्य या अनश्वरता की प्रतीत है। भावात्मक दृष्टि से यह ऋग्वेद की अत्यन्त उच्च शक्ति है। कुछ इसे आकाश की अपरिमितता या पृथ्वी की प्रतीक भी मानते हैं। पुराणों में यह महर्षि कश्यप की १३ पत्नियों में सर्वप्रमुख हैं और आदित्यों तथा विष्णु की जननी होने के कारण पौराणिक देवशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

भारतीय देवशास्त्र के उद्‌भव और विकास की यह कथा अत्यन्त रोचक है। विश्व की किसी भी संस्कृति में देवों के व्यक्तित्व के विकास का इतना लम्बा और ऐसा वैविध्यपूर्ण इतिहास प्राप्त नहीं होता । यह विकास धार्मिक एवं सांस्कृतिक कारणों से ही नहीं अपितु सामाजिक एवं भौगोलिक कारणों से भी हुआ है। सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं में आये अन्तर के कारण किसी भी जाति के उपास्य देवों के चरित्र एवं व्यक्तित्व में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होता जाता है, यद्यपि उसकी मूल अवधारणा प्रायः वही रहती है । हमारे धार्मिक इतिहास की यह लम्बी, अविच्छिन्न परम्परा, भारतीय जाति के लिये गौरव की वस्तु है।

अथाह ज्ञान के सागर वेद

स्व० डॉ० प्रज्ञा देवी

भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत वेद है। अतः वैदिक संस्कृति, भारतीय संस्कृति ये एक ही वस्तु के दो नाम हैं। ऋषि महर्षियों से लेकर समस्त भारतीय चिन्तकों-विचारकों ने वेद को ही निर्भ्रान्त प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है तथा उन्हें समस्त विद्याओं का मूल आधार माना है । इन समस्त विद्याओं को ही उपनिषद्कार[1] ने दो भागों में विभक्त किया है, प्रथम है - अपरा विद्या, द्वितीय है - परा विद्या । अपरा विद्या वह है जिससे पृथिवी तथा तिनके से लेकर समस्त प्राकृतिक पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं उपयोग ज्ञात हो तथा परा विद्या वह है जिससे सर्वशक्तिमान् उस अदृश्य विभु ब्रह्म का बोध हो। ये दोनों प्रकार की विद्यायें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में विद्यमान हैं । ऋषि महर्षियों ने एक दूसरे विभाग के अनुसार ज्ञान, कर्म एवं उपासना के रूप में समस्त विद्याओं को तीन[2] भागों में विभक्त किया है और इसीलिये चारों वेदों को त्रयी विद्या के नाम से पुकारा गया है । इस प्रकार उपनिषद् एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्याओं के किये गये दोनों प्रकार के विभाग के अनुसार चारों वेद अथाह ज्ञान के सागर सिद्ध हो जाते हैं । ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, धर्मशास्त्र, स्मृतिग्रन्थ - इन सबकी रचनायें वेद पर ही अवलम्बित हैं । इतना ही नहीं, उपवेदों[3] एवं वेदाङ्गों[4] की रचनायें तो हुई ही वेदों के अर्थों के विस्तार एवं सुरक्षार्थ हैं इससे वेदों का सर्वोपरि महत्त्व आँका जा सकता है।

अब प्रत्येक वेद को उनके मुख्य विषय की दृष्टि से देखा जाये तो ऋग्वेद में ज्ञानकाण्ड मुख्य विषय है, यजुर्वेद में कर्म-क्रियाकाण्ड एवं सामवेद में उपासना काण्ड तथा अथर्ववेद में विज्ञान काण्ड[5] अर्थात् उपर्युक्त तीनों वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना – इन तीनों विषयों का यथावत् उपयोग लेना एवं उससे संशय की निवृत्ति करना, यह अथर्ववेद का मुख्य विषय है । चारों वेदों के ये मुख्य विषय हैं जिनमें अपरा एवं परा दोनों विद्याओं का पूरा-पूरा समावेश हो जाता है।

वस्तुतः ज्ञान की दृष्टि से वेद वह अपूर्व कोष हैं कि जिनमें भूगोल = पृथिवी, वन, नदियां, पर्वत, खगोल = सूर्य, नक्षत्र, तारे, चन्द्रमा, उषा तथा सृष्टिविद्या[6] = सृष्टि की रचना, प्रलय, उत्पत्ति आदि सभी कुछ वर्णित हैं जो अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं। वेद में जहाँ '' अग्नि'' शब्द आया है वहाँ वह शब्द केवल पार्थिव अग्नि का बोध नहीं कराता अपितु अग्नि[7] शब्द से ईश्वर, राजा, सेनापति, अग्रणी, विद्युत् आदि अनेक अर्थ लिये जाते हैं । वेदमन्त्रगत ''इन्द्र'' शब्द परमात्मा, जीवात्मा, विद्युत्, राजा, सूर्य आदि अनेक अर्थों को कहेगा । वेद में जहाँ ''उषा'' शब्द आया है वहाँ वह केवल प्राकृतिक उषा का बोधक नहीं अपितु वह तेजस्विनी नारी का भी वाचक है । वेद में ''आप'' शब्द से केवल प्राकृतिक जल ही अर्थ नहीं होगा अपितु प्राण, गुणवती कन्याएँ, विदुषी माताएँ तथा परमेश्वर अर्थ भी होगा, इस प्रकार प्रसंगानुसार एक मन्त्र के अनेकों अर्थ - आधिभौतिक, आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक क्रम से हो जाते हैं। वैदिक शब्दों का यह गूढार्थ उन्हीं शब्दों के अन्दर निहित है जिसे वेदाङ्ग = व्याकरण निरुक्तादि बनाते हैं। वैदिक शब्दों के अर्थों की इस महत्ता को '' अनन्ता वै वेदाः''[8] कहकर ऋषि-महर्षियों ने प्रकट किया है।

प्राचार्या , पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी (भू ० पू ०)

इतना ही नहीं वेद को अवलम्ब बनाकर जीवन की प्रत्येक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है । 'इन्द्र' शब्द का सम्राट् अर्थ मानकर राजा एवं प्रजा के कर्त्तव्य, राजा का चुनाव, राजा के वैयक्तिक गुण, प्रजापति की दो बेटियाँ, सभा और समिति,[9] राज्याभिषेक, न्यायाधीश, वीरपुरुष की महिमा आदि का समुचित वर्णन वेद में उपलब्ध होता है, जो प्रत्येक युग एवं राष्ट्र के लिये बड़ी अनुपम सामाजिक व्यवस्था है। विशेषणों को देखते हुए प्रसंगानुसार इन्द्र शब्द का परमात्मा अर्थ करने पर उन्हीं मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक एवं सूर्य मानकर आधिदैविक भी होगा।

राष्ट्र एवं समाज की सबसे लघु इकाई परिवार के आदर्शों एवं कर्त्तव्यों का जितना सुन्दर प्रकाश हमें वेद से प्राप्त होता है वह अन्यत्र कहीं से प्राप्त नहीं हो सकता । ''अश्विनौ'' शब्द का स्त्री-पुरुष अर्थ मानकर तथा 'दम्पती' शब्द को लेकर वेद में पति-पत्नी के लिये मनोहारी शिक्षायें हैं तथा सन्तानों को सुशिक्षित करने की एवं पुत्रियों को गुणवती बनाने की सुललित चर्चा है।

''अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः'' (अथर्व० ३।३०।२) कहकर पुत्र माता-पिता के अनुकूल आज्ञाकारी हों, पत्नी मधुर-भाषी हो, इत्यादि सुन्दर शिक्षायें वेद में हैं। ''सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु'' (ऋ० १०।८५।४६) कहकर परिवार में नववधू का सुन्दर सम्मान आदर हो यह वेद से प्रकट होता है । हमें सुखी बनाने के लिये, दीर्घायुष्य प्राप्त कराने के लिये वेद में अनेक औषधियों के वर्णन विद्यमान हैं जो अथर्ववेद[10] में विशेष रूप से देखे जा सकते हैं।

इतना ही नहीं वेदों में दुष्टों के दलन के लिये भी बड़ा उच्च घोष किया गया है तथा यह कहा गया है - यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह''(यजु० २०।२५) अर्थात् जिस राष्ट्र में ब्राह्म एवं क्षात्र शक्ति दोनों का विस्तार रहता है वही राष्ट्र सुन्दर और सुरक्षित होता है। हमारे कर्तव्याकर्तव्यों को बताते हुए वेद शिक्षा देता है कि ''अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व '' (ऋ० १०।३४।१३) हे मानव ! तू द्यूत क्रीडा मत कर, उत्तम कृषि कर्म कर । वेद में मांसाहार एवं मद्यपान का पूर्ण निषेध प्राप्त होता है - ''अजीजन औषधीर्भोजनाय कम्'' (ऋ० ५।८३।१०) कहकर वेद में यह बताया गया कि मनुष्य का भोजन ओषधि वनस्पतियाँ हैं जो द्यौलोक की किरणों एवं अन्तरिक्ष लोक के मेघरूपी रस से पोषित तथा पृथिवी माता के गर्भ से उत्पन्न होती हैं। अतः हमें जीवहत्या का अपराध कदापि नहीं करना चाहिये एवं बुद्धि को लुप्त करने वाले पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए । वेद में गोहत्या करने वाले को अत्यन्त पातकी माना गया है तथा यह कहा गया है कि --''अन्तकाय गोघातम्''[11] अर्थात् राजा को चाहिये कि गौ की हत्या करने वाले को फाँसी पर लटका दे। पाश्चात्त्य लेखकों के अनुसार वेद में आये ''सोम'' शब्द का अर्थ ''शराब'' नहीं है अपितु शान्तिदायक परमात्मा, आह्लादक चन्द्रमा, सोमौषधि, गिलोय, आचार्य आदि हैं। प्राचीन ऋषि मुनि सोम ओषधि का सेवन किया करते थे जिससे उनके मन और हृदय पुलकित एवं रोमाञ्चित रहते थे । वे प्रभुभक्ति के रस से सिक्त होते थे न कि मद्यपानादि कर सुध-बुध खोते थे। इस प्रकार यह सत्य है कि वेद सब प्रकार की विद्याओं से ओत-प्रोत, अपूर्व एवं अथाह ज्ञान के भण्डार हैं । भक्तिरस का पान करना हो या सामाजिक-नीति को जानना हो, इस संसार के तत्त्वों को समझना हो या इसके निमित्त कारण ईश्वर को जानना हो सभी प्रकार का बोध एवं प्रकाश हमें वेद ही दे सकते हैं । वेद का कोई भी मन्त्र चाहे सूर्य का वर्णन करे या चन्द्र का, अप्रत्यक्ष रूप से तो उसी की महिमा का गान है जो इसका रचयिता परम प्रभु है। अतः कहा जा सकता है कि वेद में सभी विषयों के साथ-साथ परमप्रभु का गान भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रीति से समाया है। वेदरूपी ऐसा अनूठा काव्य क्वचित् मिल नहीं सकता है । तभी तो स्वयं वेद में कहा है -- ''देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति''[12] अर्थात् ऐ लोगों ! वेद के काव्य को देखो जो कभी न मरता है न पुराना होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की ओर अग्रसर होकर ही हमारी संस्कृति सुरक्षित हो सकती है, उसे हमें पूर्ण निष्ठा से अपनाना चाहिये।

सन्दर्भ-सङ्केत

1. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। (मुण्डकोपनिषद् 1/4)
2. स्तोमश्च यजुश्च ऋक्च साम च बृहच्च रथन्तरं चेति त्रयी हैषा विद्यान्न वै त्रयी (श० ब्रा० 9/3/3/14) सैषा त्रयी विद्या सौम्येऽध्वरे प्रयुज्यते। (श० ब्रा० 4/6/7/1)
3. उपवेद - आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अथर्ववेद
4. वेदाङ्ग - शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष कल्प
5. वैसे ज्ञान और विज्ञान में मोटे तौर पर भेद यह है कि इन्द्रियातीत पदार्थों के वर्णन का नाम ज्ञान और व्यक्त पदार्थों के वर्णन का नाम विज्ञान है।
6. देखें - नासदीय सूक्त (ऋ० 10/129) सम्पूर्ण पुरुषसूक्त, यजु० ३१वाँ अध्याय सम्पूर्ण यथा-

   हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।

   स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। (यजु० 13/4)
7. अग्ने नय सुपथा रायेऽ अस्मान् --- (यजु० 40/16)
8. तै० ब्रा० 3/10/11/4)
9. ''सभा च समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने'' —अथर्व० 7/12/1 में

   बताया है कि सभा और समिति परमात्मा की दो बेटियाँ हैं अर्थात् किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा हेतु सभा और समिति की स्थापना अत्यावश्यक है जहाँ राष्ट्र को उन्नत करने हेतु विचारशील लोग चिन्तन करें।
10. इस विषय के विस्तार के लिये देखें - ''अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र''—स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक
11. यजु० 30/18
12. अथर्ववेद 10/4/35

भारतीय नाट्य-परम्परा के आदि-स्रोत : वेद

डॉ० चन्द्रकान्त शुक्ल

विद् धातु से निष्पन्न वेद ज्ञान के भाण्डागार हैं। विविध शास्त्रों तथा कलाओं के मूल, स्पष्ट रूप में अथवा प्रतीक रूप में वेदों में प्राप्त होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य-परम्परा के मूल में भी हमारा वैदिक साहित्य ही है । अनेक नाट्यशास्त्रियों ने नाट्य को पंचमवेद का स्थान प्रदान किया है । आचार्य भरत भी इसे पंचम वेद स्वीकारते हुए अन्य चार वेदों का सम्मिश्रित रूप मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्मा ने नाट्य-वेद की सृष्टि करते समय ऋग्वेद से पाठ्य-तत्त्व को, सामवेद से गीत को, यजुर्वेद से अभिनय को और अथर्ववेद से रस-तत्त्व को लिया —

''जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।''[1]

इस प्रकार दैवी सिद्धान्त को नाट्य का मूल मानने वाले आचार्य भरत इसके विकास में वेदों को ही स्रोत के रूप में स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता अथवा तथ्यपरकता पर अवश्य ही सन्देह किया जा सकता है, किन्तु यदि हम वैदिक साहित्य में आये हुए संवादात्मक सूक्तों अथवा कुछ आख्यानों पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि नाट्य के स्रोत के रूप में ये सूक्त अथवा आख्यान निश्चित रूप से महत्त्वावधायक हैं। भारतीय आलोचकों के अतिरिक्त अनेक पाश्चात्य आलोचक भी इसी सिद्धान्त के पोषक हैं कि नाट्य की उत्पत्ति वैदिक संवाद-सूक्तों से हुई है। प्रो० मैक्समूलर, डॉ० विन्टरनित्ज, प्रो० लूडर्स, वान श्रोएडर, प्रो० सिलवा सेवी, प्रो० एच० ओल्डनबर्ग, डॉ० हर्टल एवं ए०बी० कीथ आदि पाश्चात्य विद्वान् किसी न किसी रूप में वैदिक संवाद सूक्तों को नाट्य-साहित्य का प्रारम्भिक रूप स्वीकार करते हैं। वेदों में ऐसे बहुत से सूक्त हैं जिनमें संवादात्मकता विद्यमान है। ए०बी० कीथ ने ऐसे लगभग पन्द्रह सूक्तों को खोज निकाला है जिनमें संवादात्मकता है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का दशम सूक्त यम-यमी संवाद के रूप में है जिसे हम दार्शनिक संवाद के रूप में देख सकते हैं। इस सूक्त के द्वारा मानव जाति की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। दशम मण्डल का ही पुरुरवा-उर्वशी-संवाद (१०-६५) एक अत्यन्त रोचक सूक्त है। इस सूक्त में पुरुरवा उर्वशी की चंचलता की भर्त्सना करता है, परन्तु उसे अपनी आसक्त दृष्टि से ओझल होने से रोकने में भी अपने को असमर्थ पाता है।

ऋग्वेद का १.१७६ सूक्त अगस्त्य-लोपामुद्रा का संवाद-सूक्त है जो फसल कट जाने के बाद किया जाने वाला प्रजनन सम्बन्धी अनुष्ठान कहा जा सकता है। ऋग्वेद के १.१६५ सूक्त में इन्द्र, अगस्त्य और मरुतों का संवाद वर्णित है जिसमें इन्द्र मरुतों से विवाद करते दीख पड़ते हैं, क्योंकि वृत्रासुर के साथ युद्ध में मरुतों ने इन्द्र का साथ नहीं दिया था। इस सूक्त में अगस्त्य मध्यस्थता करते हैं। ऋग्वेद का १.१७० सूक्त भी उपर्युक्त भाव को ही अभिव्यक्त करने वाला संवाद-सूक्त है। इसमें अन्त में अगस्त्य एक साथ

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राँची कालेज, राँची, बिहार

इन्द्र और मरुतों की स्तुति करते हैं। मैक्समूलर इन्द्र, अगस्त्य और मरुतों के सूक्त के सम्बन्ध में कहते हैं कि सम्भवतः मरुतों की आराधना में किये गये यज्ञों के अवसर पर इस संवाद का पाठ होता था अथवा दो दलों द्वारा इसका अभिनय किया जाता था जिनमें एक दल इन्द्र का अभिनय करता था और दूसरा दल मरुतों का एवं उनके अनुयायियों का। इस बात को प्रो० सिलवा लेवी भी स्वीकार करते हैं।

ऋग्वेद के ३.३३ सूक्तमें विश्वामित्र के साथ नदियों का वार्तालाप वर्णित है जिन नदियों को विश्वामित्र पार करना चाहते हैं। इस सूक्त में चेतन विश्वामित्र अचेतन नदियों के साथ वार्तालाप करते हैं। ४.४२ सूक्त में इन्द्र और वरुण अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अपनी-अपनी बड़ाई करते हैं। ४.१८ सूक्त में इन्द्र, अदिति और कामदेव का एक विशिष्ट प्रकार का संवाद प्राप्त होता है जिसमें इन्द्र की अस्वाभाविक उत्पत्ति का वर्णन है। ऋग्वेद के ही ७.३३ सूक्त में वशिष्ठ का अपने पुत्रों के साथ सम्भाषण प्राप्त होता है और ७.१०० में नेम भार्गव नामक मुनि इन्द्र की स्तुति करते हैं और प्रसन्न होकर इन्द्र उनका उत्तर देते हैं। १०.२८ सूक्त में इन्द्र, वस्तुक एवं वस्तुक की पत्नी का वार्तालाप प्राप्त होता है। १०.८६ सूक्त में इन्द्र, इन्द्राणी एवं वृषाकपि का वाद-विवाद बहुत ही दुर्बोध है जिसका प्रत्येक वक्ता एक दूसरे के सिद्धान्तों में दोष देखता है और अपने सिद्धान्त को निर्दुष्ट सिद्ध करता है।

ऋग्वेद का १०.१०८ सूक्त बहुत ही मनोरंजक सूक्त है जिसमें सरमा नामक इन्द्र की कुतिया जो दूती बनकर इन्द्र की गायों को चुराने वाले पणियों के पास जाती है और उनके साथ वार्तालाप करती है। यह सूक्त इस तथ्य को सिद्ध करता है कि आर्य लोग उस समय भी कुत्तों को प्रशिक्षित करके उनके आधार पर किसी चोरी गयी वस्तु का पता लगाते थे।

आज जो एकालाप या मोनोलॉग नाटक प्राप्त होते हैं उनके मूल में भी कुछ वैदिक सूक्त हैं। १०.११९ सूक्त में इन्द्र सोमपान करके नशे में चूर होकर अपना गुणगान करते हुए दिखाई देते हैं जो एकालाप नाटकों का स्रोत माना जा सकता है। इस सूक्त के विषय में ए० बी० कीथ कहते हैं कि "सूक्त १०.११९ उस कर्मकाण्ड का एक भाग माना जाना चाहिए जिसमें (उस अनुष्ठान में सोमपान की समाप्ति पर) एक पुरोहित इन्द्र की भूमिका ग्रहण कर आगे आता है और एकालाप के द्वारा सोमरस की शक्ति की प्रशंसा करता है — यह सिद्ध करने के लिए कि मानव जाति विज्ञान सम्बन्धी सादृश्य उपस्थित करने का प्रयत्न पटुतापूर्ण है। चोल जातियों में मधुपानोत्सव के बाद मधुपान का प्रभाव प्रदर्शित करता हुए एक देवता प्रवेश करता है, जबकि एक गायक उसके प्रभावकारी गुणों का गान करता है।"[2]

ए० बी० कीथ ऋग्वेद के १०.३४ के अक्षसूक्त को भी एकालाप स्वीकार करते हुए उसके विषय में कहते हैं कि "अक्षसूक्त, जिसमें एक जुआरी उस पासे के प्रति अपने घातक रोग पर पश्चात्ताप करता है, जो उसकी पत्नी तक के सत्यानाश का कारण हुआ है, एक नाटकीय एकालाप है, जिसमें नट उछलते तथा गिरते हुए पासों का अभिनय करते हैं।"[3]

वान श्रोएडर ऋग्वेद के ७.१०२ के मण्डूक सूक्त को नाटकीय स्वीकार करते हुए उसके विषय में कहते हैं कि सम्भवतः बहुत से ब्राह्मण मिलकर किसी मेढकों से भरे हुए तालाब में खड़े होकर उस सूक्त को गाते रहे होंगे। उन्होंने ऋग्वेद के ९.११२ सूक्त को भी नाटकीय स्वीकार किया है जिसमें सोमरस को निकालता हुआ एक ब्राह्मण अन्य जीवधारियों के समान अपनी इच्छापूर्ति के लिए संरक्षण प्राप्त करना चाहता है। उस उत्सव में वनदेवता भी छिप कर नाचते-गाते हैं। अतः उनका कहना है कि "अत्यन्त प्राचीन काल में नृत्य, गीत और वाद्य साथ-साथ चलते थे। इसीलिए उसी से प्रभावित होकर ऋग्वेद के ऋषियों ने वैदिक संवादों का गायन एवं नर्तन के साथ अभिनय करना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वे अभिनय केवल यज्ञ से सम्बद्ध होते थे इसलिए उनमें यूनान और मैक्सिको के गीतों की तरह अश्लीलता नहीं होती थी।"[4]

अथर्ववेद में मात्र एक सूक्त संवाद-सूक्त के रूप में प्राप्त होता है। ५.११ में ऋत्विज् प्राप्य गौ के लिए अथर्वा देवता की प्रार्थना करता है, किन्तु अथर्वा उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं करना चाहते हैं। अन्त में ऋत्विज् के अधिक अनुनय-विनय पर वे उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हैं।

इस तरह वेदों में अनेक ऐसे संवाद-सूक्त प्राप्त होते हैं, जिन्हें कुछ अंश में नाट्य का आदि रूप कहा जा सकता है। डॉ० हर्टल ने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि वैदिक संवाद बीजरूप में रहस्यात्मक रूपक हैं। उनके अनुसार वैदिक संवाद के ये सूक्त गाये भी जाते थे। अतः वैदिक संवादों एवं कर्मकाण्ड में नाट्य का बीज अवश्य है और ऋग्वेद के सुपर्णाध्याय में इस बीज का विकास है जिसका अनुकरण आजकल भी बंगाली जात्राओं में मिलता है।

संवाद-सूक्तों के अतिरिक्त वैदिक-साहित्य में कुछ और भी अंश प्राप्त होते हैं, जिन्हें नाट्य का स्रोत माना जा सकता है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता के पुरुषमेध प्रकरण में एक प्रसंग[5] आया है जिसमें सूत, शैलूष आदि शब्द आये हैं, जो नाट्य की सूचना देते हैं। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने इस प्रसंग के विषय में लिखा है—"इसका अर्थ यह है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक काल में भी नाटक अपने पूर्ण विस्तार के साथ हमारे देश में विद्यमान था और यहाँ नाटक के प्रयोग होते थे।"[6] किन्तु ए० बी० कीथ और डॉ० दासगुप्त इस मन्तव्य को स्वीकार नहीं करते हैं और वे कहते हैं कि शैलूष शब्द अभिनेता अर्थ को प्रकट करने वाला नहीं है, अपितु उसका अर्थ गायक अथवा नर्तक है।

डॉ० दशरथ ओझा ने अपने ग्रन्थ "हिन्दू नाटक : उद्भव और विकास" में एक वैदिक संवाद प्रस्तुत करते हुए उसे नाटकों का मूल स्वीकार किया है। उनके अनुसार—"सोमयाग नामक यज्ञ-क्रिया की योजना सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी करते थे। सोम बेचने वाले वनवासियों के साथ यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु का संवाद अभिनय का सूचक प्रतीत होता है।"[7]

इस प्रकार के विवरणों के आधार पर ए०बी० कीथ भी स्वीकार करते हैं कि वैदिक संवादों को यदि छोड़ भी दिया जाए तो वैदिक कर्मकाण्ड में अवश्य ही हमें नाटक के बीज प्राप्त हो सकते हैं। वे कहते हैं—"यदि कर्मकाण्ड में अभिनय के तत्त्वों का समावेश है तो उसका उद्देश्य अभिनय नहीं है, बल्कि अभिनेता किसी साक्षात् धार्मिक अथवा चमत्कारक फल के लिए प्रयत्नशील है।"[8]

परन्तु कीथ का यह विचार भ्रामक प्रतीत होता है। वस्तुतः यजमान को उस अभिनय से कोई मतलब नहीं होता था। अतः सोमक्रय की जो रीति थी वह पूर्णतया नाटकीय होती थी जिससे कर्मकाण्ड के बीच ही में मनोरंजन भी हो जाए। स्टेन कोनो इन तथ्यों को स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि ये कर्मकाण्डपरक अर्धनाटकीय तत्त्व ही नाटक के प्रादुर्भाव के मूल कहे जा सकते हैं—

"We are thus forced to accept the view that the halfdramatic scenes with exchange of words, the hurling of abuses and beatings belonged to the popular amusements in ancient India. The chief elements in these were evidently dance, song and music."[9]

समासतः, हम कह सकते हैं कि भारतीय नाट्य के विकास में वैदिक संवाद-सूक्तों, आख्यानों और कर्मकाण्डपरक अभिनयों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्हीं से प्रेरणा-ग्रहण कर भारतीय नाट्यकारों ने विविध प्रकार के उत्कृष्ट नाटकों का प्रणयन किया।

सन्दर्भ सङ्केत

1. नाट्यशास्त्र (आचार्य भरत)—1.17
2. संस्कृत नाटक (ए०बी० कीथ) पृ० 7-8, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1971
3. वही पृ० 8
4. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच (पं० सीताराम चतुर्वेदी) पृ० 11, लखनऊ, 1964
5. यजुर्वेद संहिता - अध्याय 30, मंत्र 6
6. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच पृ० 12
7. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास (डा० दशरथ ओझा) पृ० 42, दिल्ली, द्वितीय संस्करण
8. संस्कृत नाटक पृ० 13
9. The Indian Drama (Sten Konow) page 6, Translated from German by Dr. S.N. Ghosal, Calcutta, 1969.

वैदिकः सोमस्तत्स्वरूपं च

डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री

वेदसंहितासु ब्राह्मणग्रन्थेषु च सोमस्य समुल्लेखो वर्णनं च प्रायः यत्र तत्र बहुत्र चोपलभ्यते। ऋग्वेदस्य नवममण्डलस्थमन्त्राणां सामवेदस्य चाऽपि बहूनां मन्त्राणां देवता प्रतिपाद्यविषयो वा सोम एव वर्तते। प्रायशो वेदव्याख्याकाराः 'सोम' शब्देन तथाविधं लताविशेषं मन्यन्ते यत् खलु मदकारकं भवति। पाश्चात्यवेदानुवादकास्तदनुयायिनो भारतीयविद्वांसश्चापि सोमशब्दस्यार्थं मदकारकं सुरापदार्थमेव कुर्वन्ति।

सूत्रग्रन्थेष्वपि सोमस्य वर्णनं पर्याप्तं विद्यते। आयुर्वेदस्य सुश्रुतसंहितानाम्नि ग्रन्थे सोमस्य वर्णनं विस्तारपूर्वकं कृतं वर्तते। इयं सोमनाम्नी लता प्रायः कायाकल्पमेव कुरुते। तद्यथा—

ब्रह्मादयोऽसृजन् पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम् ।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते ।। (चिकित्सास्थाने २६ तमोऽध्यायः)

असौ सोमश्चतुर्विंशतिधा भवति तद्यथा—

अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः ।
दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ।।

प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोऽशवानपि ।
स्वयंप्रभो महासोमो यश्चापि गरुडावृतः ।।

गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पांक्तो जागतः शाक्करस्तथा ।
अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ।।

गायत्र्या त्रिपदायुक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते ।
एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ।। (चिकित्सास्थाने २६ तमोध्यायः)

अत्र चतुर्विंशतिनामसु गायत्र्यः, त्रैष्टुभः, पांक्तः, जागतश्चेति नामानि वैदिकछन्दांसि वर्तन्ते। अत्र चन्द्रमा उडुपश्चेति एकार्थकौ भवतः। चन्द्रमा अपि सोमनामधेयेन उच्यते। तद्यथा—

चन्द्रमा उ वै सोमः। —माध्य० शतपथ ६/५/१/१
असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः। —कौषीतकी ब्राह्मण ४/७, ७/१०
चन्द्रमा वै सोमो रुद्रवान् —तैत्तिरीय आरण्यक ५/७/१०
सोमो वै चन्द्रमाः —मैत्रायणी संहिता २/१/५, कौषीतकी ब्राह्मण१६/५, —माध्य० शतपथ १०/४/२/१

'चन्द्र' शब्दश्च ''चदि आह्लादे'' इति धातोर्निष्पद्यते। मन्ये छन्दसां पाठेन गानेन च चित्तस्याह्लादनं भवत्येव। तदेवं सोमस्य चन्द्रमसा वैदिकैश्छन्दोभिश्च समं नूनं कश्चिद् विशिष्टः सम्बन्धो वर्तते। सोमस्य सेवनेन शरीरमभिनवं सम्पद्यते आयुश्च

रीडर, संस्कृत विभाग, फिरोज़ गान्धी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रायबरेली, उत्तर प्रदेश

वृद्धिमातनुते इति प्रोच्य सोमस्य उत्पत्तिस्थानं तत्र एवं निगदितमस्ति यत् सोमः हिमालय - सह्य - महेन्द्र - मलय - श्रीपर्वत - देवगिरि-देवसह - पारियात्र - विन्ध्यपर्वतेषु समुपलभ्यते। तथैवाऽयं देवसुन्दह्रदे वितस्तानद्याश्चोत्तरस्यां दिशि विद्यमाने पर्वते तथा च सिन्धुनद्या उपत्यकासु विद्यमाने कश्मीरप्रदेशे समुपलभ्यते।

सोमस्यानेके भेदाः —तत्रैवेदमपि निगदितं यत् विविधस्थानेषु समुत्पद्यमानस्य सोमस्य विविधा गुणा विविधा जातयः विविधानि च लक्षणानि बभूवुः। तद्यथा—

अंशुमान् आज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः ।
कदल्याकारकन्दस्तु मुञ्जवाल्लंशुनच्छदः ।।
चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा ।
गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षाश्चापि पाण्डुरौ ।।
सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ ।
तथान्यैर्मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते ।। (चिकित्सास्थाने २६ तमोऽध्यायः)

अर्थात् 'अंशुमान्' नामधेये सोमे घृतसदृशः सुगन्धः प्राप्यते। 'रजतप्रभः' सोमः कन्दयुक्तो भवति। 'मुञ्जवान्' नामधेयः सोमः लशुनपत्रसदृशः पत्रयुक्तः कदल्याकारकन्दयुक्तश्च भवति। तथैव 'चन्द्रमा' इति नामधेयः सोमः स्वर्णिमप्रभासम्पन्नो भवति। सिन्धुनदे च तरन् दृश्यते। गरुडाहृत श्वेताक्षनामानौ च सोमौ पाण्डुरवर्णौ भवतस्तथा च सर्पस्य निर्मोकसदृशौ च तौ वृक्षस्योपरि अवलम्बमानौ दृश्येते। ते सर्वेऽपि सोमाः चित्रविचित्रमण्डलैश्चित्रिता भवन्ति।

सर्वा अपि सोमलताः पञ्चदशपत्रविभूषिता भवन्ति। कृष्णपक्षे सोमलतानामेकैकं पत्रं क्रमशः पतति । एवम् अमावस्यायामियं लता पूर्णतः पत्रविहीना भवति। तथैव शुक्लपक्षे एकैकं पत्रं समुत्पद्यत् पौर्णमास्यां पञ्चदश पत्राणि प्रजायन्ते।

यथोक्तमपि सुश्रुते —

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च ।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ।।
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा ।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पञ्चदशच्छदः ।।
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः ।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ।। (चिकित्सास्थाने २६ तमोऽध्यायः)

अत्राऽऽश्चर्यकरं किमपि न वर्तते। साम्प्रतमपि एवंविधा बहव्यो वीरुधा भवन्ति येषां पुष्पाणि प्रातः नववादनत आरभ्य एकादशवादनपर्यन्तमेव प्रफुल्लितानि भवन्ति। कमलपुष्पं दिवसे कुमुदश्च रात्रावेव विकसति। चन्द्रमसः सम्बन्धादेव इयं लता 'सोम' इति नामधेयेन प्रख्याता वर्तते।

सोमस्य दुर्लभता —अत्रायं प्रश्नो वर्तते यत् सा अद्भुता लता क्व वर्तते यत् साम्प्रतं नोपलभ्यते। वैदिकग्रन्थेष्वपि सोमस्य स्थाने 'पूतीक' नाम्नस्तृणस्य प्रयोगविधानात् प्रतीयते यत् अतिप्राचीनकालादेवाऽस्या लताया दुर्लभत्वम् अभूत्। तद्यथा—

यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकान् अभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानि अर्जुनानि। (ताण्ड्य महाब्राह्मण ६/५/३)

तथैव ताण्ड्यमहाब्राह्मणस्य निम्नवाक्यदर्शनात् प्रतीयते यत् सोमलतासदृशमेव किञ्चित् सामर्थ्यं वैशिष्ट्यं च पूतीकतृणेऽपि मन्यते स्म—

तस्य (सोमस्य) ये ह्रियमाणस्यांशवः परापतंस्ते पूतीका अभवन् (ताण्ड्य महाब्राह्मण ८/४/१)

तथैव ताण्ड्यमहाब्राह्मणेऽन्यत्राप्येवम् उपलभ्यते—

गायत्री सोममाहरत् तस्या अनुविसृज्य सोमरक्षिः पर्णमच्छिनत् तस्य योंऽशुः परापतत् स पूतीकोऽभवत्। तस्मिन् देवा ऊतिम् अविन्दन्। ऊतीको वा य एष यत् पूतीकानि अभिषुण्वन्त्यूतिकमेवास्मै विन्दति।

(ताण्ड्य महाब्राह्मण ६/४/५)

मन्ये पूतीकतृणानामप्युपलब्धता सरलतमा न बभूव। अतएव पूतीकतृणानामप्यभावे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे अर्जुनपुष्पाणामभिषवविधानात् ''यदि न पूतीकानि अर्जुनानि' इत्युक्त्वा अर्जुनपुष्पाणां सामर्थ्यं निरूपितम्।

अस्मिन्नेव ब्राह्मणेऽन्यत्रापि सोमस्य पूतीकं तृणानां चाऽभावेऽर्जुनपुष्पाणां विषये एवंविधः समुल्लेख उपलभ्यते—

इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यो नस्तः सोमः समधावत् तानि बभ्रुतूलान्यर्जुनानि (ताण्ड्य० ६/५/७)

तथा च—

सोमस्य ह्रियमाणस्य यानि पुष्पाणि अवाशीयन्त तानि अर्जुनानि (ताण्ड्य० ८/४/१)

काठकसंहितायामपि सोमस्याऽर्जुनेन सह सम्बन्धस्थापनां व्याचक्षाण एवं उल्लिखितः—

यो (वृत्रस्य) ग्रीवाभ्यः परिवृढाभ्यो रसः समवस्रवत् तान्यर्जुनानि
बभ्रूतुल्यान्यभवन् सोमो वा एषोऽसूर्य इव तु। (काठक ३४/३)

तथैव—

इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यल्लोहितमासीत्तान्यार्जुनानि लोहिततूलान्यभवन् (काठक ३४/३)

अस्तु, एतैः वैदिकप्रमाणैः स्पष्टमेव प्रतीयते यत् पुराऽपि सोमलतानां दुर्लभतायां पूतीकतृणानाम् अर्जुनपुष्पाणां च प्रयोगः क्रियते स्म।

सोमलतामभिलक्ष्य ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि संकेतितम् —

औषधो हि सोमो राजा (ऐतरेय ३/४०)
सोम ओषधीनाम् अधिराजः (गोपथ १/१७)
सोमो वै राजौषधीनाम् (कौषतकी ४/१२)

एवम् इह वनस्पतीनां राजानं सोमम् उक्त्वा निश्चितमेवाऽस्त्येतद् यदयं सोमो रोगनिवारणे शक्तिसम्पादने चातीव लाभकरः औषधिरासीत् इति वक्तुं शक्यते।

ऋग्वेदे एको मन्त्रोऽस्ति—

स्वादुष्किलायं मधुमां उतायं तीव्रः किलायं रसवां उतायम् ।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ।। (ऋग्वेद ६/४७/१)

अयमेव मन्त्रोऽथर्ववेदेऽपि वर्तते। अत्रेदम् उक्तं यदयं सोमः स्वादुः मधुरस्तीव्रः सरसश्च भवति। अस्य पानकर्त्तारमिन्द्रं (राजानं सेनापतिं वा) कश्चिदपि पराजेतुं न शक्नुते।

इयं सोमनाम्नी अद्भुता लता कदा कथं वा विलुप्ता इति प्रश्नस्य सन्दर्भे सुश्रुतसंहितायामेवं लिखितं वर्त्तते—

न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः ।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ।।

अनेन प्रतीयते यत् पुरा कदाचित् ओषधिविनाशकैर्भेषजद्वेषिभिः कृतघ्नैः पुरुषैः सोमस्य समूलोन्मूलनं कृत्वा विरलस्थानप्राप्या इयं लता पूर्णतः सुदुर्लभा कृता।

अस्तु, वैदिकमन्त्रेषु तस्या ओषधिरूपायाः सोमलतायाः एव केवलं वर्णनं न वर्तते प्रत्युत तत्र पठितस्य सोमशब्दस्य अर्थगुरुता अर्थव्यापकता च ततोऽप्यधिकं प्रतीयते।

ब्रह्मानन्द एव सोमरसः — अपाम सोमममृता अभूम। आगन्म ज्योतिरविदाम देवान् (ऋग्वेद ८/४८/३) इत्यस्मिन् मन्त्रे यः सोमशब्दो वर्तते स ब्रह्मज्ञानवाची। ब्रह्मज्ञानरसमधिगम्यैव मानवा अमृतत्वं भजन्ते । जरामरणव्याधिभयादिदमेव ब्रह्मज्ञानं मोचयति। तस्मादयमेव सोमो जरामरणनाशकः अमृतकल्पः परमौषधरूपेण स्मृतः तद्यथा—

औषधो हि सोमो राजा। ओषधिभिस्तं भिषज्यति।। (ऐतरेय ब्राह्मण ३/४०)

यद् भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म। (गोपथ ब्राह्मण १/३/४)

मन्त्रे ''आगन्म ज्योतिः'' इत्यत्रापि ज्योतिः शब्दो ज्ञानाग्निवाचकः। यथोक्तमपि शतपथे—

अयमग्निः ज्योतिः (माध्य० शतपथ ६/४/२/२२)

भगवद्गीतायामपि यथा—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।(गीता ४।३७)

यजुर्वेद संहितायामपि यथा—विद्ययाऽमृतमश्नुते (गीता ४०/१४)

इत्युक्त्वा ज्ञानमूलकमेव सर्वदुःखमुक्तिप्रापणम् आभणितम्।

अनेन ब्रह्मज्ञानामृत पानेनैव वस्तुतः महान् आनन्दो मादकत्वं चोपलभ्यते यत्किलाऽन्यत्र दुर्लभमेव।

ऋग्वेदस्य नवमं मण्डलं यत्किल पूर्णतया सोमदेवतापरकमेव वर्त्तते तस्य प्रथमोऽयं मन्त्रोऽपि तमेव भावमभिव्यनक्ति—

स्वादिष्ठया मदिष्टया पवस्व सोमधारया। इन्द्राय पातवे सुतः।।

अस्मिन्नेव सन्दर्भे ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्याऽयं प्रसिद्धो मन्त्रो ध्यातव्यः—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणं विदु र्न तस्याश्नाति कश्चन।। (ऋग्वेद १०/८१/३)

अस्याऽयं भावो यत् यो वै ओषधिरूपः सोमरसः पिष्ट्वा पीयते तस्य सेविता मन्यते यत् मया सोमरसः पीतः। परन्तु ब्रह्मा अर्थात् चतुर्वेदवेत्तारो ज्ञानिनश्च यस्य सोमरसस्य माहात्म्यमधिगच्छन्ति तस्य सेवनं तु कश्चिदपि न कुरुते। अर्थात् केचिद् विरला एव तत्कर्तुं प्रभवन्ति।

अयमेव मन्त्रः स्वल्पपाठभेदेन अथर्ववेदे (१४/१/३)ऽपि पठितः तत्र ''न तस्याश्नाति कश्चन'' इत्यस्य स्थाने ''न तस्याश्नाति पार्थिवः'' इति पाठो वर्तते। तस्यायमेव भावो यत् यः खलु पार्थिवः अर्थात् पृथिवीस्थेषु भोगेषु लिप्तो निरतो वा भवति स तथाविधं सोमम् अधिगन्तुं न समर्थः।

मैत्रायणीसंहितायाम् उक्तम्—

इन्दुः सोमस्य योनिः (३/७/२)

तथा च

ब्रह्मणो वा एतत्तेजो यत्सोमः (काठक संहिता १४/६)

अयम् इन्द्रश्च परमात्मा एव वर्तते। तद्यथा—

इन्द्र एव ब्रह्मासीत् (जैमिनीय ब्राह्मण ३/३७४)

तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य (परमात्मनः) नाम भवति योऽस्यैतदेवं नाम वेद ब्रह्म भवति।

(ऐतरेय आरण्यक ५/३/३)

ऐन्द्रो वै ब्रह्म (तै० सं० ७/१/५/७)

आनन्दमयः कोष आनन्दो वा ब्रह्म एव वर्तते।

तद्यथा—

आनन्दो ब्रह्म व्यजानात् (तै० आरण्यक ६/६/१ तथा तैत्ति० उपनिषद् ३/६/१)

वस्तुतो ब्रह्मणो वास्तविकं रूपं सत्यं ज्ञानं चैव वर्त्तते।

तद्यथा—

तदेषाऽभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

(तैत्ति० आरण्यक ८/१/१/१ एवं तै० उपनिषद् २/१/१)

सत्यं ब्रह्म (माध्य० शतपथ १४/८/५/१)

सुरासोमयोर्भेदः— सत्यं श्रीर्ज्योतिश्च सोमस्य रूपं वर्तते। ये मनुष्या सोमशब्दं सुरावाचकं मन्यन्ते तेषां कृते माध्यन्दिनशतपथस्य निम्नं वाक्यं ध्यातव्यं वर्तते यत्र सुराशब्दस्य सोमशब्देन सह स्पष्टमेव विरुद्धार्थता प्रतीयते—

प्रजापतेर्वा एते अन्धसी यत् सोमश्च सुरा च। ततः सत्यं श्री ज्योतिः सोमोऽनृतं पाप्मा तमः सुरा।

(माध्य० शतपथ ५/११/२/१०)

सत्यं हि प्रजापतिः (मा० शतपथ ४/२/१/२६)

सोमो हि यशः (तै० ब्राह्मण २/२/८/८)

सोमो वै यशः (मैत्रायणी ६/४/५)

वस्तुतः सोमस्याऽधिगमायाऽस्माभिर्दीक्षितैर्भवितव्यम्।

दीक्षितश्च स एव भवति यः सत्याचरणैरात्मानं पुनाति सत्कर्मणि चाऽऽत्मानं दीक्षितं विदधाति। दीक्षित एव च सोमस्य स्वरूपं ज्ञातुं शक्नोति। यतोहि दीक्षा एव सोमस्य पत्नी भवति—

दीक्षा सोमस्य राज्ञः पत्नी (गोपथ ब्राह्मण २/२/६)

दीक्षा च सत्यमेव भवति।

तद्यथा—

ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा (ऐतरेय ब्रा० १/६)

सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति (शतपथ १४/६/६/२४)

यज्ञव्रतो वै दीक्षितः (तै० संहिता ६/१/४/४)

यः सत्यं वदति स दीक्षितः (कौषीतकी ब्राह्मण ७/३)

तया सोमो राजा दीक्षया दीक्षितः (तै० ब्राह्मण ३/७/७/६)

पूर्वोक्तैः प्रमाणैः स्पष्टमेव वर्तते यत् सत्यवादिनः सत्याचरणयुक्ताः यज्ञकर्मनिष्पादका एव च दीक्षिताः कथ्यन्ते। सोमश्च यज्ञस्वरूप एव वर्तते। तत्र प्रमाणानि—

यज्ञः सोमो राजा (जैमिनीय ब्राह्मण १/२५६)

यत्समं (यजति) यज्ञं तेन (यजति) (मैत्रायणी संहिता ३/७/१)

यज्ञो वै सोमाः शुक्राः (जैमिनीय ब्राह्मण १/१६३)

सोमशब्दः परमेश्वरवाचकः— आध्यात्मिकदृष्ट्या सोमशब्दः परमेश्वरस्यैव वाचको भवति।

तद्यथा —

सोमो हि प्रजापतिः (माध्य० शतपथ ५/१/५/२६)

सोमो वै प्रजापतिः (तदेव ५/१/३/७)

यो वै विष्णुः सोमः सः (तदेव ३/३/४/२१ एवं ३/६/३/१६)

'षु' प्रवैश्वर्ययोः धातुना औणादिकः (अर्तिस्तुंसु० उणादिकोष १/१४०) मनुप्रत्ययान्तोऽयं शब्दः सर्वोत्पादकस्य ऐश्वर्यसम्पन्नस्य परमेश्वरस्यैव वाचकः।

ऋग्वेदस्य निम्नोद्धृते मन्त्रे तु सम्बोधनान्तस्य सोमशब्दस्य परमेश्वर एवाऽर्थो भवति-इति नाऽत्र कश्चित् सन्देहः—

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयंस्त्वं गाः।

त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ।।(ऋग्वेद १/९१/२२)

अर्थात् हे सोम ! सोमसंज्ञक ! परमेश्वर ! त्वमेव इमाः ओषधीर्वनपस्तीन्, गाः, जलं, पृथिवीं च समुत्पादयसि। त्वमेवान्तरिक्षस्य विस्तारं कुरुषे। स्वज्योतिषा च अन्धकारं विनाशयसि।

अत्र स्पष्टमेव वर्तते यत् सोमलतापरको मन्त्रार्थः कथमपि नैव चरितार्थो भवितुं शक्नोति।

तथैव—

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्या।

जनिताऽग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः।।(ऋग्वेद ९/९६/५)

अत्रेदं स्पष्टमेव ध्वनितं यत् सोम एव बुद्धीनां, द्युलोकस्य, पृथिवीलोकस्य, अग्नेः, सूर्यस्य, विद्युतः, यज्ञस्य च समुत्पादको वर्तते तथा च स एव पुनाति। निःसन्दिग्धमेतद् वर्णनं सोमसंज्ञस्य परमेश्वरस्यैव वर्तते न तु लताभूतस्य सोमस्य।

प्रसिद्धो वेदभाष्यकारः स्वामिदयानन्दोऽपि स्ववेदभाष्ये सोमशब्दस्य नानाविधान् अर्थान् प्रकटीचकार।
तद्यथा—

आधिदैविकदृष्ट्या—

सोमलतादि समूहरसः (ऋग्भाष्य १/१८/४)

सर्वरोगनाशकः बलपुष्टिवर्धकः उत ओषधिरसः (ऋग्भाष्य १/२८/६)

ऐश्वर्यप्रदः पदार्थसमूहः (ऋग्भाष्य १/८०/२)

महौषधिविशिष्टम् अन्नम् (ऋग्भाष्य ३/४०५)

आधिभौतिकदृष्ट्या—

प्रेरको विद्वान् (ऋग्भाष्य ६/३८/४)

धर्मप्रेरकः (ऋग्भाष्य १/१११/६)

प्रशस्तगुणशिष्यः (यजुर्भाष्य ७/१४)

सर्वसुखप्रापकः समाध्यक्षः (ऋग्भाष्य १/३/४/७)

आध्यात्मिकदृष्ट्या—

सोमः परमेश्वरः (यजुर्भाष्य ४/२०)

योगैश्वर्यवृन्दः (यजु० ७/६)

शरीररात्मबलम् (यजु० ३४/२१) इति।।

वैदिक स्वरों के उच्चारण में हस्तचालन की उपयोगिता

डॉ० चिरञ्जीवि शर्मा

साम्प्रतिक वेदाध्येताओं में एक वे हैं जो परम्परागत गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणपूर्वक वेदाध्ययन किए बिना केवल प्रातिशाख्य, शिक्षा आदि ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, द्वितीय वे हैं जो प्रातिशाख्य तथा शिक्षा आदि ग्रन्थों का विशेष अध्ययन नहीं करते हैं, परन्तु परम्परागत गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणपूर्वक वेदाध्ययन करते हैं । इनमें प्रथम प्रकार के वेदाध्येताओं के उच्चारण में उदात्त आदि स्वरों का अन्तर स्पष्ट नहीं होता है। द्वितीय प्रकार के वेदाध्येताओं के उच्चारण में भी हम सरलतया उनके हस्तचालन से ही समझते हैं कि अमुकवर्ण उदात्त है, अमुकवर्ण अनुदात्त है तथा अमुकवर्ण स्वरित है। हस्तचालन का विधान प्रातिशाख्य[1] तथा शिक्षा ग्रन्थों[2] में उपलब्ध होता है। प्रातिशाख्य तथा शिक्षाओं के अनुसार हस्तस्वर-प्रक्रिया का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है —

वैदिकों का ज्ञापक

वैदिक स्वरों के उच्चारण में हस्तचालन वैदिकों का ज्ञापक है। अर्थात् जो वेदाध्येता हस्तस्वर-प्रदर्शन रहित मन्त्रों को पढ़ता है, उसको वैदिक नहीं कहा जाता है। लोक में वह अवैदिक कहा जाता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि जो वेदाध्येता ऋक्, यजुष्, तथा साममन्त्रों को हस्त-स्वर प्रदर्शन रहित पढ़ता है, वह ब्राह्मण, वैदिक ब्राह्मण तब तक नहीं कहलाता, जब तक स्वर का ठीक-ठीक उच्चारण न करे।[3] मल्लशर्मकृता शिक्षा के अनुसार हस्तस्वर-प्रक्रिया का विधान कुबुद्धिवालों के लिए नहीं किया गया है, अपितु जो सर्वोत्तम विप्र हैं उनके लिए है।[4]

स्वरों का स्वरूप सूचक

वैदिक स्वरों के उच्चारण में हस्तचालन स्वरों का स्वरूप सूचक भी है। शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनसंहिता के अध्येताओं का हस्तचालन स्वरों के उच्च, नीच एवं मध्यम होने की सूचना देता है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य[5], तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[6] तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी[7] में 'उच्चैरुदात्तः' 'नीचैरनुदात्तः' 'समाहारः स्वरितः' (वा० प्रा० में 'उभयवान् स्वरितः' इस प्रकार एक ही शब्दावली में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित-स्वर पारिभाषित हैं। परन्तु व्याख्याकारों में उपर्युक्त स्वरों के लक्षण में मतैक्य नहीं है। पा० सू० १.२.२६-३१ के आधार पर कुछ लोग यह कहते हैं कि उदात्त उच्च स्वर है, अनुदात्त नीच स्वर है, स्वरित मध्य स्वर है क्योंकि उदात्त का उच्चारण उच्च स्वर में किया जाता है, अनुदात्त का निम्न स्वर में तथा स्वरित का उच्चारण उदात्त-अनुदात्त की मध्य ध्वनि से किया जाता है। भाष्यकार पतञ्जलि ने उपर्युक्त मत का खण्डन किया है। पा० सू० १.२.२६-३० के भाष्य में कहा गया है कि 'वर्णों का उच्च, नीच तथा मध्य स्वर में उच्चारण तो अनवस्थित है'। एक ही वर्ण का उच्चारण किसी के.लिए उच्च होता है, किसी के लिए नीच तथा किसी के लिए मध्यम। किसी वैदिक छात्र से कोई आता है तो यह कहता है कि क्यों उच्च स्वर में पढ़ते हो, धीरे-धीरे पढ़ो। दूसरा आता है वैसा ही पढ़ने पर कहता है क्यों धीरे-धीरे पढ़ रहे हो जोर से पढ़ो।[8]

वेदभवन, संस्कृत महाविद्यालय, श्रृङ्गेरी मठ, इलाहाबाद

तै० प्रा० २२.६ के अनुसार—गात्रों की दीर्घता, स्वर की कठिनता तथा कण्ठविवर की संवृत्तता शब्द के उच्च उच्चारण का कारण होती है।[9]

वा० प्रा० १.१०८ सूत्र पर भाष्यकार उवट ने लिखा है कि आयम से = गात्रों के ऊर्ध्वगमन से, जो स्वर निष्पन्न होता है। वह उदात्त संज्ञक होता है।[10]

तै० प्रा० २२.१० के अनुसार गात्रों की शिथिलता, स्वर की स्निग्धता तथा कण्ठ विवर की स्थूलता शब्द के नीच उच्चारण का कारण होती है।[11]

वा० प्रा० १.१०९ के सूत्र भाष्य में उवट ने लिखा है कि मार्दव से = गात्रों के अधोगमन से, जो स्वर निष्पन्न होता है वह अनुदात्त संज्ञक होता है।[12]

वा० प्रा० १.११० के उवट भाष्य के अनुसार गात्रों का उर्ध्वगमन उदात्त का प्रयत्न है, गात्रों का अधोगमन अनुदात्त का प्रयत्न है। एकत्र मिले हुए इन दो प्रयत्नों से जो स्वर उच्चरित होता है वह स्वरित संज्ञक होता है। जैसे—धान्यमसि (मा० सं० १.२०)

भाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार वर्णों के उच्चारण स्थान के उच्च-भाग से जब उच्चारण होता है तो वह उदात्त होता है, तथा वर्णों के उच्चारण-स्थान के निम्न भाग से जब उच्चारण होता है तो वह अनुदात्त होता है।[13]

इस प्रकार विभिन्न व्याख्याकारों ने उदात्तादि स्वरों के स्वरूप का विवेचन किया है। बहुत अभ्यास के पश्चात् ही इन स्वरों का भेद जाना जा सकता है। सामान्य अभ्यास से इन का भेद स्पष्ट नहीं होता है। इसीलिए प्रातिशाख्य में वेदाध्ययन का विशिष्ट विधान उपलब्ध होता है। वेदाध्ययन अव्यवस्थित तथा अनियमित रूप से नहीं किया जा सकता है। अध्येता को कैसे आसन में बैठना चाहिए ? कैसा भोजन करना चाहिए ? कितना शारीरिक श्रम करना चाहिए ? इस प्रकार के व्यावहारिक पक्ष का भी विवेचन किया गया है।[14] हस्तचालन भी स्वरों के उच्चारण में सहायक है। यह स्वरों के स्वरूप को भी सूचित करता है। शुक्ल यजुर्वेद-माध्यन्दिन संहिता के अध्येता उदात्त के उच्चारण के समय हाथ को शिर के समीप ले जाते हैं, जैसे—

वसोः पवित्रम् (मा० सं० १.२) इस उदाहरण में 'व' 'वि' उदात्त अक्षरों के उच्चारण के समय हाथ को शिर के समीप (दाहिने कान के आगे) ले जाते हैं।[15] इसका तात्पर्य है कि उदात्त के उच्चारण के समय प्रयत्न की दिशा उच्चारणाङ्गों के उच्च भाग की ओर होती है।

अनुदात्त के उच्चारण के समय दाहिने हाथ को हृदय के सामने ले जाया जाता है। जैसे - पवित्रम् (मा० सं०, १.२) इस उदाहरण में 'प' अनुदात्त अक्षर के उच्चारण में दाहिने हाथ को हृदय के सामने ले जाते हैं।[16] इसका तात्पर्य है कि अनुदात्त के उच्चारण में प्रयत्न की दिशा उच्चारणाङ्गों के निम्नभाग की ओर होती है।

वा० प्रा० १.१२१ सूत्र भाष्य में अनन्तभट्ट ने लिखा है कि उदात्त के उच्चारण में हस्त का ऊर्ध्वगमन होता है, अनुदात्त के उच्चारण में हस्त का अधोगमन होता है और स्वरित के उच्चारण में हस्त का तिर्यग्गमन (तिरछा जाना) होता है।[17] स्वरित के हस्तचालन के विषय में उवट ने लिखा है कि इस स्वर में तों आचार्यों में मत-वैभिन्न्य है।[18] वा० प्रा० १.३१ उवट भाष्य में अनन्त भट्ट ने लिखा है (उच्चारणावयवों का तिरछा जाना) स्वरूप स्वरित होता है, वह उच्च और नीच से निष्पन्न होता है। वा० प्रा० १.१२२ के अनुसार चार स्वरितों (जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट) को हाथ को तिरछा करके (पितृ-पिण्ड-प्रदान के समय की हस्त-मुद्रा के समान हाथ को करके) प्रदर्शित करना चाहिए।[19] जैसे—

जात्य — धान्यमसि (मा० सं० १.२०)
अभिनिहित — वेदोऽसि (मा० सं० २.२१)
क्षैप्र — अभ्यर्षत (मा० सं० १७.६८)
प्रश्लिष्ट — अभीन्धतामुखे (मा० सं० ११.६१)

वा० प्रा० १.१२३ में कहा गया है कि आचार्य काण्व के अनुसार यदि अनुदात्त पूर्व में हो तभी (जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र तथा प्रश्लिष्ट के उच्चारण में हाथ को) तिरछा किया जाता है।[20] उपर्युक्त सूत्र भाष्य में उवट ने लिखा है कि उदात्तपूर्व और अपूर्व जात्यादि स्वरितों में तैरो-व्यञ्जन की भाँति हाथ किया जाता है।[21] उदात्त पूर्व में होने पर जैसे—पञ्चदशो व्योमा (मा० सं० १४.२३) अपूर्व होने पर जैसे—त्र्यम्बकम् (मा० सं० ३.६०)

वा० प्रा० १.१२४ के अनुसार उदात्त बाद में होने पर जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट के उच्चारणों में हाथ को सीधे नीचा करके तदनन्तर प्रकृष्ट रूप से नीचे ले जाया जाता है।[22] जैसे —

जात्य — सुष्वा कामधुक्षः (मा० सं० १.३)
अभिनिहित — कृष्णोऽजः सारस्वती (मा० सं० २६.५६)
क्षैप्र — उर्वन्तरिक्षम् (मा० सं० १.७)
प्रश्लिष्ट — अभीमं महिमा (मा० सं० ३८.१७)

कात्यायन प्रतिज्ञा सूत्र में कहा गया है कि स्वरित के उच्चारण के समय हाथ को, कान के समीप ले जाया जाता है।[23] जैसे— का ईमरे (मा० सं० २३.५५) इस उदाहरण में 'ई' स्वरित के उच्चारण में दाहिने हाथ को कान के समीप ले जाते हैं।

जहाँ पर ह्रस्व स्वरित विसर्गयुक्त हो वहाँ दाहिने हाथ को कान के समीप ले जाकर दोनों अंगुलियों तर्जनी और कनिष्ठा को इस प्रकार बाहर निकालते हैं, जिस प्रकार छोटे बछड़े की दो सींगे अथवा कुमारी के दो स्तन निकले होते हैं।[24] जैसे 'तन्मे मनः' (मा० सं० ३४.१) यहाँ 'नः' स्वरित के उच्चारण में दाहिने हाथ को कान के समीप ले जाकर दोनों अंगुलियों कनिष्ठा और तर्जनी को उनके समूह से बाहर निकालते हैं।

विसर्गयुक्त दो मात्रा वाले दीर्घ स्वरित के उच्चारण में दाहिने हाथ को कान के समीप ले जाकर एक अङ्गुलि कनिष्ठा को समूह से बाहर निकालते हैं।[25] जैसे—वसोः (मा० सं० १.२)

इस प्रकार शुक्ल यजुर्वेदमाध्यन्दिन संहिता के अध्येता जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट स्वरित तथा अन्य स्वरित के उच्चारण के समय विभिन्न प्रकार से हस्तचालन करते हैं। इनके हस्तचालन में मुख्यतया शिर (मूर्धा) ऊपरी भाग का कान या कान से थोड़ा नीचे (तिरछा भी) मध्य भाग का एवं हृदय (हृदय के समीप या थोड़ा नीचे) निम्न भाग का प्रतिनिधित्व करता है। स्वरित के समाहारात्मक स्वर होने के कारण इसके उच्चारण में प्रयत्न की दिशा मध्यम (शिर से नीचे हृदय से ऊपर) केन्द्रीय स्थिति में रहना उचित है। इसीलिए याज्ञवल्क्य शिक्षा[26] में कहा गया है कि स्वरित के उच्चारण में यदि हाथ को ऊपर भ्रूप्रान्त पर ले जाया जायेगा तो उसमें अनुदात्तत्व नहीं बन पाएगा और यदि हाथ को नीचे अनुदात्त स्थान हृत्प्रदेश पर ले जाया जाएगा तो उसमें उदात्त नहीं बन पाएगा। अतः दोनों के बीच नासिकाग्र भाग के समीप हाथ को रखते हैं। यह नासिकाग्रभाग भ्रूप्रान्त से नीचे है इसलिये इसमें अनुदात्तत्व भी है और हृत्प्रदेश से ऊँचा है, इसलिए उदात्तत्व भी है।

अध्येता का सहायक

वैदिक स्वरों के उच्चारण में हस्तचालन अध्येता का सहायक भी है। प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक स्वरों का सम्बन्ध संगीतात्मकता से है। जिस प्रकार शास्त्रीय संगीतज्ञ गाते समय शिर या अन्य शरीरावयवों को ऊपर

नीचे करते रहते हैं। इसका कारण यह है कि स्वर को ऊँचा करने में या नीचा करने में ये अंग ऊँचे नीचे जाकर गायक को कुछ सहायता पहुँचाते हैं। इसी प्रकार वेदमन्त्रों के उच्चारण में हस्त ऊँचे, नीचे, तिरछे जाकर स्वर को ऊँचा, नीचा या मध्यम करने में सहायता पहुँचाते है।

तै० प्रा० २२.६ के वैदिकाभरण भाष्य में कहा गया है कि सात यमों में से प्रथम तीन यमों की उत्पत्ति कही जा रही है। गात्रों का आकर्षण (खिंचाव) ध्वनि की परुषता एवं कण्ठविवर की संवृतता ध्वनि को उच्च करने हेतु (कारण) हैं। इनमें द्वितीय संज्ञक स्वर उत्क्षिप्त 'प्रथम' संज्ञक स्वर उत्क्षिप्ततर एवं क्रुष्ट संज्ञक स्वर उत्क्षिप्ततम हैं। ये सभी स्वर 'मूर्धा' प्रदेश से उत्पन्न होते हैं। अतः उच्च कहे जाते हैं। तै० प्रा० २३.११ के त्रिभाष्यरत्न में यमों का अर्थ 'उदात्तादि स्वर' किया है।[27] याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार गान्धर्ववेद (सामवेद) में प्रोक्त जो षड्ज आदि स्वर हैं, उन्हें ही वेद में उदात्त आदि स्वर जानना चाहिए।[28] षड्ज आदि सात स्वरों में निषाद और गान्धार उदात्त रूप हैं, ऋषभ और धैवत ये दो स्वर अनुदात्त रूप हैं और शेष षड्ज, मध्यम और पंचम नाम वाले स्वर स्वरित रूप हैं।[29]

वेदाध्ययन का फलदाता

वैदिक स्वरों के उच्चारण में हस्तचालन वेदाध्ययन का फलदाता है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में कहा गया है कि उदात्त आदि वैदिक स्वरों के उच्चारण के समय मुख स्वर के समान काल में हस्तचालन करना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार मुख से उदात्त अनुदात्त आदि स्वर का उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार उसी के अनुसार हस्तचालन के नियमानुसार हाथ को चलाना चाहिए। यदि मुख के स्वर के अनुकूल हस्तचालन नहीं होगा, स्वर का अशुद्ध उच्चारण होगा तो वेदाध्येता वेदाध्ययन का फल (पुरुषार्थचतुष्टय) प्राप्त नहीं कर सकता है।[30] जो वेदाध्येता हस्तस्वर-प्रदर्शन युक्त सस्वर मन्त्रों को पढ़ता है, वह ऋक्, यजुष् तथा साममन्त्रों से पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।[31] इसके विपरीत जो वेदाध्येता हस्तचालन के बिना स्वर वर्णरहित मन्त्रों को पढ़ता है, वह ऋक्, यजुष् तथा साममन्त्रों से दग्ध होकर मनुष्य योनि से भिन्न योनि या नरक को प्राप्त होता है।[32]

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों का हस्त स्वर प्रदर्शनयुक्त शुद्ध उच्चारण करने पर ही वेदाध्ययन का फल प्राप्त होता है, हस्त स्वर-प्रदर्शन रहित अशुद्ध उच्चारण से अनिष्ट होता है। हस्तचालन वैदिकों का ज्ञापक, वेदाध्येता का सहायक, स्वरों का स्वरूप सूचक तथा अनिष्ट निवारक है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. वाजसनेयिप्रातिशाख्य।
2. पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, मल्लशर्मकृता शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, सामवेदीया नारदीशिक्षा, अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा आदि।
3. ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत्।
   अनृचो ब्राह्मणस्तावद् यावत्स्वारं न विन्दति।। या० शि० 1.40
4. वेदे वाजसनेयके त्वधिकृता विप्राश्च ये सत्तमाः।
   तेषामेव कृते कृता न कुधियां हस्तस्वर-प्रक्रिया।। मल्ल० शि० 2.
5. वा० प्रा० 1. 108-10
6. तै० प्रा० 1.38-40
7. पा० सू० 1.2. 29-31

8. इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तदेव हि कञ्चित् प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित् प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित्कञ्चिदधीयानमाह - किमुच्चै रोरुयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाधीयानमपर आह - किमन्तर्दन्तकेनाधीषे उच्चैर्वर्ततामिति। पा० सू० 1.2. 29-30 म० भा०।
9. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। तै० प्रा० 22.9
10. आयामेन = ऊर्ध्वगमनेन गात्राणाम्, यः स्वरः स्वरो निष्पद्यते सः उदात्तसंज्ञः भवति। वा० प्रा० 1.108 उ० भा०
11. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि। तै० प्रा० 22.10
12. मार्दवेन = अधोगमनेन गात्राणाम्, यः स्वरो निष्पद्यते सः अनुदात्तः। वा० प्रा० 1.109 उ० भा०
13. सिद्धं तु समान प्रक्रमवचनात्। सिद्धमेतत्। कथम् ? समान प्रक्रमवचनात् समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः क्रमः? उरः कण्ठः शिर इति। पा० सू० 1.2. 29-30 म० भा०
14. वा० प्रा० 1.22, 24-25
15. तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य । वा० प्रा० 1.121 उ० भा० उदात्तं तु भ्रुवः प्रान्ते। या० शि० 1.55
16. हृत्प्रदेशेऽनुदात्तं तु। या० शि० 56
17. स्वरिते तिर्यग्गमनम्। वा० प्रा० 1.121 उ० भा०
18. स्वरिते तु विप्रतिपद्यन्ते। वा० प्रा० 1.121 उ० भा०
19. चत्वारस्तिर्यक्स्वरिताः। वा० प्रा० 1. 122
20. अनुदात्तं चेत् पूर्वं तिर्यङ् निहत्य काण्वस्य। वा० प्रा० 1. 123
21. उदात्तपूर्वेष्वपूर्वेषु च जात्यादिषु तैरोव्यञ्जनवद्धस्तः क्रियते। वा० प्रा० 1. 123 उ० भा०, उदात्तपूर्वः स्वरितो व्यञ्जनेन युतो यदि। एषः सर्वो बहुस्वारस्तैरो व्यञ्जन उच्यते। (या० शि० 1. 82) उदाहरण – इडे रन्ते हव्ये (मा० सं० 8.43)
22. ऋजुन्निहत्य प्रणिहन्यते उदात्ते। वा० प्रा० 1. 124
23. श्रुतिमूले स्वरितः। का० प्र० सू० 1.6
24. शृङ्गवद् बालवत्सस्य कुमारी कुचयुग्मवत्।
उभक्षेपः रत्रो यत्र सविसर्ग उदाहृतः।। या० शि० 1.69
25. द्विमात्रिके क्षिपेदेकाम्। या० शि० 1.67
26. उच्चस्थानगते हस्ते स्वरितं नोपपद्यते। अधस्तात्तु यदा गच्छेत् स्वरितं न तदा भवेत्।। या० शि० 1. 92
27. 'यमाः स्वराः उदात्तादय इति यावत्। तै० प्रा० 23.11 त्रि० भा०
28. गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ता सप्त षड्जादयः स्वराः।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः।। या० शि० 1.6
29. उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्ज-मध्यम-पञ्चमाः।। या० शि० 1.7
30. यथा वाणी तथा पाणी रिक्तं तु परिवर्जयेत्।
यत्र तत्र स्थिता वाणी प्राणिस्तत्रैव तिष्ठति। या० शि० 1.47
31. स्वर-वर्णान् प्रयुञ्जानो हस्तेनाऽधीतमाचरन्।
ऋग्यजुः सामभिःपूतो ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्।। या० शि० 1.45
32. हस्तहीनं तु योऽधीते स्वर-वर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति।। या० शि० 1.41

वैदिक कृषि-उपकरण एवं तकनीक

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

कृषि वैदिक आर्यों का प्रमुख धंधा था। उन्होंने कृषि की तकनीक में अनेक नए-नए प्रयोग एवं आविष्कार किए थे। हमारे देश में प्राचीन काल में कृषि-कर्म को उत्तम माना गया था,—' उत्तम खेती मध्यम बान, निपट चाकरी भीख निदान' अर्थात् सर्वोत्तम कार्य है कृषि, व्यापार का स्थान उसके बाद आता है, नौकरी को अच्छा नहीं समझा जाता था और भीख माँगना यानी दूसरे के आगे हाथ फैलाना तो निकृष्ट कार्य कहलाता था। कृषि की महत्ता इण्डो-आर्य तथा इण्डो-ईरानी दोनों समाजों में लगभग समान थी। ऋग्वेद में आए शब्द 'कृषि, 'शस्य' और 'यव' अवेस्ता में भी 'करेश', 'हह्य' तथा 'यौ' के रूप में मिलते हैं। पंचविंश ब्राह्मण (१७।१) में कृषि करने वालों को आर्य तथा अन्य कर्म करने वालों को व्रात्य अर्थात् अवैदिक कहा गया है।

कृषि की महत्ता इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि जब राजसूय यज्ञ में पुरोहित राजा को 'राजा' घोषित करता था तब वह कहता था कि 'हे राजन् ! यह राज्य की भूमि तुम्हें कृषि करने के लिए तथा लोगों के पोषण और क्षेम के लिए दी जा रही है।' शतपथ ब्राह्मण (७।२।२।६) में तो अन्न को ही कृषि कहा गया है —'अन्नं वै कृषिः'।

कृषि-कर्म के तीन प्रमुख आधार थे - खेत, हल तथा बैल। जिस भूमि पर कृषि की जाती थी उसे क्षेत्र अर्थात् खेत कहा जाता था। भूमि उर्वरा और अनुर्वरा दोनों होती थी। उर्वरा भूमि ही कृषि के लिए उपयोगी होती थी। ऋग्वेद (४।५७।६-७) तथा बाद की संहिताओं में उर्वरा भूमि पर हल के द्वारा कर्षित की गई लकीर को 'सीता' कहा जाता था, किन्तु आगे चलकर हल के द्वारा जोते गये सम्पूर्ण खेत और उसकी उपज को भी सीता कहा गया। ऐसा पाणिनि की अष्टाध्यायी से जान पड़ता है।

क्षेत्र अथवा खेत के अतिरिक्त कृषि-कर्म में एक अन्य स्थान का उल्लेख पाया जाता है जहाँ पकी फसल की मड़ाई-ओसाई करके अन्न और भूसे को अलग किया जाता था। इस भूमि को खल्य (threshing plot) कहा जाता था। इसे ही आज हम सब खलिहान कहते हैं।

कृषि-उपकरण

हल

कृषि कर्म में प्रयोग होने वाले वैदिक कालीन उपकरणों में प्रमुख है हल। इसे 'हल्य' (कठक संहिता, १५।२), 'हल' (मनुस्मृति, १०।८४), 'सीरनाम' (अष्टाध्यायी ६।२।१८७) अथवा 'लाँगल (वैदिक इण्डेक्स, खण्ड २, २३१) कहा जाता था। 'सीर' शब्द हल, उपज और भूमि तीनों के अर्थ में पाया गया है और उत्तरी भारत में आज भी पाया जाता है।

रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद (अवकाश प्राप्त)

हल स्वयं एक ऐसा उपकरण था जिसमें चार मुख्य अंग होते थे—

पोत्र : लकड़ी का यह भाग हल में नीचे भूमि पर टिका रहता था। इसमें एक छोटा दण्ड ऊपर को उठा रहता था जिसे मुठिया (handle) कहते हैं।

इषा : लकड़ी का यह एक लम्बा दण्ड था जो पोत्र से जुड़ा रहता था और आगे को निकला रहता था।

युग : इषा में आगे लगा हुआ लकड़ी का यह अंग था जिसे अंग्रेजी में yoke और आज की बोली में जुआँ या जोत कहते हैं। इस युग या जुएँ में ही बैल जोते जाते थे अर्थात् यह अंग बैलों की गर्दन में फँसाया जाता था। इषा में युग को जिस चमड़े की रस्सी से कसकर बाँधा जाता था उसे 'योत्र' (जोत) अथवा 'नद्ध्री' कहते थे।

कुशी : इसे 'अयोविकार' कहा गया है, अर्थात् लोहे से बनाई गई। अँग्रेजी में इसे ही ploughshare (प्लाऊशेयर) कहा जाता है। ऋग्वेद (४।५७-५८) में इसे 'फल' भी कहा गया है। हमारे गाँवों में आज भी इसे कुशी ही कहा जाता है। इसका एक सिरा लकड़ी के बने पोत्र में घुसा रहता था और दूसरा नुकीला सिरा आगे निकला रहता था जो भूमि को चीरता चलता था।

हल के अतिरिक्त जिन अन्य कृषि-उपकरणों की जानकारी प्राचीन साहित्य में मिलती है उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

खनिज या आखन

ऊँची-नीची भूमि को समतल करने अथवा खोदने के लिए इस उपकरण का उपयोग किया जाता था। इसे ही हम आज फावड़ा और कुदाल कहते हैं।

स्तम्बघ्न या क्षुरप्र

खेत में अनपेक्षित उगे हुए पौधों को हटाने या घास छीलने के लिए इन उपकरणों को प्रयुक्त किया जाता था। इन्हें हम खुरपा या खुरपी के रूप में आज भी प्रयोग करते हैं।

दातृ या सृणि

इसे आज हम हँसिया कहते हैं। अँग्रेजी में यही sickle (सिकिल) कहलाता है। दातृ से पकी फसल की कटाई की जाती थी।

शूर्प या तितौ

मड़ाई के बाद जब अन्न को छिलके या भूसे से अलग करते थे तब शूर्प या सूप का प्रयोग किया जाता था। इसी को अंग्रेजी में winnowing fan या sieve कहा जाता है।

व्यज

इसे आज की बोली में कोड़ा कहते हैं। लकड़ी के एक छोटे से दण्ड में लगी हुई रस्सी वाला यह उपकरण बैलों को हाँकने अर्थात् शीघ्र आगे बढ़ने के लिए प्रयोग किया जाता था। मड़ाई के समय इसकी विशेष आवश्यकता पड़ती थी।

इन उपकरणों के अतिरिक्त बैलों का कृषि कर्म में विशेष महत्त्व था। वृषभ या बैल ऊर्जा (पुरुषार्थ या energy) के स्रोत थे जिनसे खेत में हल खिंचवाया जाता था। संभवतः इसी पुरुषार्थ के कारण वृषभ को अत्यन्त प्राचीन काल से सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। इसीलिए वह प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ का लांछन और पशुपति शिव का वाहन बना। अपने श्रम से हमें प्रसन्न और सुखी बनाने के कारण उसे नन्दी कहा गया। गो माता की पूजा भी हमें वृषभ प्रदान करने के कारण ही प्रारम्भ हुई होगी। वस्तुतः बैल कृषि कर्म में ऊर्जा का पर्याय कहे जा सकते हैं।

कृषि की विभिन्न क्रियाएँ

वैदिक वाङ्मय से पता चलता है कि कृषि कर्म कई भिन्न-भिन्न क्रियाओं का समन्वित रूप था। जिन विभिन्न कृषि-कर्मों का उल्लेख मिलता है वे निम्नलिखित हैं—

जुताई (Ploughing)

सबसे पहले खेत की जुताई की जाती थी। शतपथ ब्राह्मण (१।६।१।३) में इसे 'कृषन्तः' कहा गया है । जुताई करते समय कृषक या किसान को हल की कुशी भूमि पर रखकर मुठिया से उसे दबाया जाता था और बैलों को हाँककर आगे चलने को कहा जाता था। हल में लगी लोहे की नुकीली कुशी से भूमि में एक गहरी लकीर सी बनती जाती थी। इसी को पहले 'सीता' (furrow) कहा जाता था। खेत की जुताई में आजकल तो केवल दो बैलों को ही जुएँ में लगाते हैं, किन्तु प्राचीन साहित्य में ६, ८, १२ और २४ बैलों को एक साथ लगाने के उल्लेख मिलते हैं। भूमि की कठोरता और हल का भार बैलों की संख्या को बढ़ा देता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी (५।४।५८) से पता चलता है कि खेत दो या तीन बार जोते जाते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (२।२४) में भी तीन बार खेत जोते जाने का निर्देश मिलता है। बार-बार जोतने से भूमि भुरभुरी हो जाती थी जिससे बीज के अंकुर को ऊपर आने में सुविधा रहती थी।

बोआई (Sowing)

जब जुताई के बाद भूमि तैयार हो जाती थी तब हल के द्वारा बनाई गई गहरी पंक्ति में बीज बोया जाता था। इसे शतपथ ब्राह्मण में 'वपन्तः' और अष्टाध्यायी में 'वपन्' कहा गया है। पाणिनि ने यह भी उल्लेख किया है कि कभी-कभी बीज खेत में बिखेर कर बो दिए जाते थे।

लुनाई - कटाई (Reaping)

फसल के उगने पर जो अवांछित पौधे उग आते थे, उन्हें उखाड़कर फेंक दिया जाता था ताकि खेत की उर्वरा शक्ति अधिक से अधिक फसल को मिल सके। अवांछित पौधों के उखाड़ने की इस प्रक्रिया को 'लुनाई' कहा जाता था। पक जाने पर फसल की कटाई की जाती थी। इसे शतपथ ब्राह्मण (१।६।१।३) में लुनन्तः और पाणिनि की अष्टाध्यायी (६।१।१४०) में 'लवन' कहा गया है। आज भी फसल की कटाई की मजदूरी को 'लवनी' कहा जाता है। पकी फसल के जो गट्ठे बनाए जाते थे, उन्हें 'पर्ष' कहा जाता था। इन पर्षों अथवा गट्ठरों को बाद में खल्य अथवा खलिहान में एकत्र किया जाता था।

मड़ाई (Threshing)

खल्य, खलिन अथवा खलिहान (Granary) में एकत्र फसल को पहले सुखाया जाता था। फसल के सूख जाने पर उस पर बैलों को चलाया जाता था जिससे बालियाँ टूटकर अनाज के दानों को अलग कर दें। इसी कार्य को शतपथ ब्राह्मण (१।६।१।३) में 'मृणन्तः' कहा गया है।

ओसाई (Winnowing)

मड़ाई के बाद शूर्प (सूप) से पछोरकर अथवा जिस ओर हवा का बहाव हो उस तरफ को भूसी या छिलका उड़ाकर अन्न अलग कर लिया जाता था। आजकल खलिहान में मड़ाई की गई लाँक को टोकरियों में भरकर दोनों हाथों से ऊपर उठाकर धीरे-धीरे भूमि पर गिराते हैं। ऐसा करने में भूसा उड़कर दूर चला जाता है और वजनदार होने के कारण अन्न के दाने नीचे एकत्र हो जाते हैं। किन्तु यदि हवा न चल रही हो तो सूप में पछोरकर अन्न और भूसा अलग करना पड़ता है। ओसाई की इस प्रक्रिया को पहले 'उत्कार' अथवा 'निकार' कहा जाता था।

उर्वरक (Manure)

वैदिक काल में कृषि में अधिक उपज पाने के लिए भूमि को उर्वरा बनाया जाता था। इसके लिए गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण (२।१।१।७) में कहा गया है कि गोबर भूमि में रस अथवा उर्वरा शक्ति का संवर्द्धन करता है, इसीलिए इसे एकत्र करके खाद बनानी चाहिए—'तदस्या इवैनमेतत् पृथिव्यै रसेन समृद्धयन्ति तस्मात् अखुकरीषं सम्भरति पुरीष्य इति'। अथर्ववेद (३।१४।३।४) में भी पशुओं के गोबर को कृषि के लिए उत्तम खाद माना गया है।

सिंचाई (Irrigation)

कृषि द्वारा अन्न के उत्पादन में जल का योगदान भी सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है। यों तो हमारे देश में प्राचीनकाल से ही वर्षा के जल से भूमि की सिंचाई (सिंचन) होती आई है। किन्तु कभी-कभी समय पर वर्षा न होने से फसल के सूख जाने का डर रहता है। ऐसी स्थिति में बोए गए अथवा पौधे उग आए खेत में सिंचाई करने के कई कृत्रिम साधन भी अपनाए गए थे। जल प्राप्त करने के लिए मुख्य स्रोत कूप अर्थात् कुएँ (wells), कुल्या अर्थात् नहरें (canals) और ह्रद अर्थात् झीलें (lakes) थे। जल के स्थान से खेत तक 'सूर्मि सुषिरा' अर्थात् चौड़ी नालियाँ (broad channels) बनाई जाती थीं। कुओं से प्रायः 'अश्मचक्र' अर्थात् स्टोनपुली (stone pulley) के द्वारा 'कोष' या बकेट (bucket) में भरकर जल बाहर नाली तक लाया जाता था। 'अश्मचक्र' को आज पर्शियन ह्वील (Persian wheel) कहा जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि सिंचाई की यह प्रणाली हमारे देश में पर्शिया अर्थात् फारस से आई। परन्तु 'अश्मचक्र' का उल्लेख ऋग्वेद के दसवें मण्डल (१०१।५-६) में पाया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि 'चतुरंग' (शतरंज) की तरह 'अश्मचक्र' भी पहले भारत से फारस गया और फिर कालान्तर में जब पुनः भारत में आया तो उसे फारसी मान लिया गया। परन्तु ऐसा मान लेना सही नहीं है। ईसा पूर्व चौथी शती के बौद्धग्रंथ चुल्लवग्ग में इसे 'चक्कवट्टकम्' कहा गया है। प्रथम शती के ग्रंथ गाथासप्तशती में 'रहट्टघटिअ', और चौथी-पाँचवी शती ई० के अमरकोश में 'घटियंत्र', पंचतंत्र में 'अर्घट्ट घटिमाला', बृहत्कल्पभाष्य में 'अर्घट्ट' तथा मृच्छकटिक में 'कूप्यंत्र घटिकान्याय' कहा गया। कौटिल्य के ग्रंथ अर्थशास्त्र में भी 'यंत्र' नाम से इसका उल्लेख है।

वस्तुतः प्राचीन काल में भारतवर्ष ने कृषि के क्षेत्र में जो विकास किया था वह तकनीक की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। आज यद्यपि ट्रैक्टर, थ्रैशर आदि नए-नए उपकरण बन गए हैं, सिंचाई के लिए पम्पिंग सेट आ गए हैं और कारखानों में बनाई गई विभिन्न प्रकार की खादें उपलब्ध हैं जिनसे कृषि-उत्पादन में अपार वृद्धि हुई है, तथापि देश के अधिकांश गाँवों में अब भी कृषि कर्म में प्रायः वैदिक प्रणाली का ही प्रचलन पाया जाता है।

वेदकालिक आर्थिक जीवन : एक दृष्टि

डॉ० श्याम कुमारी (श्यामा)

वेदों के स्वरूप, महत्त्व तथा सिद्धान्त से परिचय प्राप्त करना प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का, विशेषतः प्रत्येक भारतीय का, नितान्त आवश्यक कर्तव्य है। वेद भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत हैं, हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुँचाने वाले ग्रन्थ-रत्न हैं। इन्हीं से पुराण-इतिहास, धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, शास्त्र-काव्य आदि विविध धाराएँ विभिन्न रूपों में प्रवाहित हुई हैं। हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म तथा व्यावहारिक जीवन के समस्त पहलुओं को भली-भाँति समझने के लिए वेदों का ज्ञान आवश्यक है।

किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की अर्थनीति की सुव्यवस्था ही स्थायी आर्थिक गौरव का आधार होती है। यह लेख वेदयुगीन आर्थिक जीवन पर दृष्टिपात करने का एक प्रयास है। वैदिक युग की आर्थिक स्थिति से भिज्ञ होने के लिये, अर्थोपार्जन के साधन तथा व्यवसाय आदि सभी माध्यमों पर विचार करना होगा।

वैदिक आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें मनुष्य अपनी क्षुधाशान्ति के लिए फल-फूल पर निर्भर रहा करता था अथवा पशुओं के शिकार का सहारा लेता था। वे लोग सुव्यवस्थित तथा सामूहिक रूप से रहने वाले समाज में सुसंगठित समाज के सदस्य हो चुके थे।

प्रारम्भिक वैदिक युग में शिल्पों एवं व्यवसायों का उदय हो चुका था और इससे सम्बन्धित संघों या वर्णों का अस्तित्व भी प्रकाश में आ चुका था। एक संदर्भ से ज्ञात होता है कि आजीविका के लिये एक ही परिवार के विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यवसायों को अपनाने के लिए स्वतंत्र थे तथा उन्हें किसी विशेष वर्ग या जाति के अन्तर्गत परिगणित होने की आवश्यकता नहीं थी।[1] इससे उनके व्यक्तित्व एवं सम्मान पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। वर्णों के आधार पर कर्म को निर्धारित करने की परम्परा को ब्राह्मण ग्रन्थों ने स्थापित किया। स्वैच्छिक रूप में स्वीकृत वैदिक समाज में प्रचलित एवं विकसित शिल्प व्यवसायों की जानकारी प्राप्त कर तत्कालीन आर्थिक प्रगति का सहज ही में पता लगाया जा सकता है। जिस समाज में अपनी शक्ति, क्षमता, दक्षता तथा अभिरुचि के अनुसार अपने लिये कोई भी कर्म चुनने हेतु एक ही परिवार के विभिन्न व्यक्ति स्वतंत्र हैं, उस समाज की आर्थिक स्थिति निश्चित ही सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित होगी। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वैदिक युग में व्यवसाय वर्णगत तथा जातिगत नहीं थे।

वैदिक युग में शिल्पों एवं व्यवसायों का बहुत ऊँचे स्तर पर विकास हो चुका था तथा बड़े-बड़े उद्योगों के अतिरिक्त छोटे-छोटे गृहशिल्पों एवं कुटीर-उद्योगों का समस्त वैदिक भारत में विस्तार हो चुका था। गृहशिल्प, काष्ठकला, चटाई बुनना, चर्म उद्योग, वस्त्र उद्योग, ऊनी वस्त्र उद्योग, धातु उद्योग इत्यादि विभिन्न उद्योगों का विकास तत्कालीन आर्थिक प्रगति के परिचायक हैं।

प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग, आर्य कन्या डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

वैदिक गाँवों की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में कम सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। 'ग्राम' शब्द का अर्थ कहीं-कहीं 'मनुष्यों का समूह' भी ग्रहण किया गया है।[2] यह स्पष्ट है कि भूमि तब व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी और उस पर पूरे परिवार का अधिकार होता था। गाँवों की सुरक्षा व्यवस्था का दायित्व राजा पर होता था। अतः राजकीय विशेषाधिकार की प्राप्ति के लिए गाँवों में राजा का एक प्रतिनिधि नियुक्त हुआ करता था। इन्हीं प्रतिनिधियों (प्रिय पात्रों) द्वारा जमींदारी प्रथा का उदय हुआ। सभी ग्रामवासी राजा के अधीन होते थे और गाँवों से राजा को अंशदान निश्चित प्राप्त होता था।[3]

वैदिक युग की भौगोलिक तथा आर्थिक स्थिति के परिचय में समुद्र, नदी, नद और जनपदों के अतिरिक्त नगरों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनमें से अधिकांश की ऐतिहासिक वास्तविकता भी प्रमाणित है किन्तु कुछ नगर ऐसे हैं जिनकी भौगोलिक स्थिति अस्पष्ट एवं अनुमानगम्य है क्योंकि जिन संदर्भों एवं आधारों पर उनका उल्लेख हुआ है, वहाँ उनके परिचय का कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

परम्परा से अब तक विभिन्न शास्त्रकारों तथा अर्थवेत्ताओं ने इस धरती को ''रत्नगर्भा वसुन्धरा'' कहा है। वैदिक कवि पृथ्वी के इस स्वरूप से सुपरिचित था। उसे भलीभाँति ज्ञात था कि पृथ्वी के गर्भ में सम्पत्ति का अपरिमित भण्डार है। सम्पत्ति से परिपूर्ण होने के कारण उसको 'वसुमती कहा गया है।[4] इसी कारण एक मंत्र में वैदिक कवि रत्नगर्भा वसुन्धरा से विविध मणि, सुवर्ण, धन-सम्पत्ति और विपुल वैभव की याचना इन शब्दों में करता दिखाई देता है—

निधिं बिभ्रती बहुधा ग्रहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुधा रासमाना देवी दधातु सुमनस्य माना ।।[5]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि आज ही नहीं, वैदिक युग में भी आर्थिक जीवन की उन्नति के साधन मणि-सुवर्ण आदि धातुओं की उपयोगिता को स्वीकार किया गया था। वस्तुतः देखा जाय तो जब से मनुष्य का धातुओं से सम्पर्क हुआ, तभी से उसका आर्थिक जीवन आरम्भ हुआ और उन्हीं के न्यूनाधिक्य पर उसके आर्थिक जीवन का ह्रास-विकास निर्भर रहा।

जहाँ तक वैदिक युग की आर्थिक स्थिति का सम्बन्ध है, उसका प्रौढ़ परिपक्व रूप भी देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युगीन भारत में मुद्राओं द्वारा आदान-प्रदान होता था तथा उन्हें दान में भी दिया जाता था। आर्यों की अर्थनीति के आदर्श उदाहरण ऋग्वेद में देखने को मिलते हैं।[6] ऋग्वेद की एक ऋचा में उल्लेख हुआ है कि रुद्र के गले में सोने के निष्कों (सिक्कों) का हार शोभायमान है तथा उसमें विविध आकृतियों की स्वर्णमुद्राएँ गुँथी हुई हैं।[7] इसी प्रकार ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में विभिन्दु नामक राजा द्वारा चालीस हजार और आठ हजार निष्क दान दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[8] केदारखण्ड में स्वर्णादि धातुओं से निर्मित घरों और ताम्रमय पर्वतों का उल्लेख हुआ है।[9] इस प्रकार वैदिक युग की आर्थिक प्रगति में धातुओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वैदिक युग के आर्थिक जीवन में यात्रा और व्यापार का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यापार की उस प्रारम्भिक अवस्था में वस्तु विनिमय ही उसका एकमात्र रूप था। वस्तुओं के बदले वस्तुएँ खरीदी जाती थी और इसी अदला-बदली के माध्यम से वैदिक व्यापार चलता था। यात्रा और व्यापार का क्षेत्र इतना उन्नत हो चुका था कि स्थल मार्ग तथा जल मार्ग दोनों के द्वारा माल का यातायात होता था। स्थल मार्ग से वस्तुओं के यातायात के लिये बैलों, घोड़ों, गधों, खच्चरों और भेड़ों का प्रमुख रूप से उपयोग किया जाता था। रथ आदि वाहनों तथा हल चलाने के अतिरिक्त पशुओं पर सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को लाया ले जाया जाता था। घोड़ों और कुत्तों की पीठों पर कागज ढोने का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है।[10]

व्यापार एवं यातायात का प्रमुख माध्यम यद्यपि स्थल मार्ग ही था; किन्तु जल मार्ग द्वारा भी उसका क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत हो चुका था। इसके अनेक प्रमाण वेदों में सुरक्षित हैं। वैदिक काल में पणि लोग (व्यापारियों का एक वर्ग) जलमार्ग तथा स्थल मार्ग से वस्तुओं का आदान-प्रदान किया करते थे। व्यापार की वस्तुओं में खेती तथा उद्योग-धन्धों से उत्पन्न वस्तुएँ होती थीं। वैदिक काल में बाजार अवश्य थे, क्योंकि अनेक स्थलों पर वस्तुओं के क्रय-विक्रय में मोल-भाव करने का उल्लेख मिलता है। जो शर्त एक बार दूकानदार एवं ग्राहक के बीच निश्चित हो जाती थी, वह कदापि तोड़ी नहीं जाती थी।[11]

ऋग्वेद के अनेक संदर्भों से ज्ञात होता है कि आर्य लोग समुद्र यात्रा करते थे।[12] ऋग्वेद में चार समुद्रों का उल्लेख है।[13] ऋग्वेद के दो सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि आर्य लोग इन चारों समुद्रों में घूमकर लाभ की इच्छा से व्यापार करते थे।[14] जलयान के रूप में नौका का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में व्यापक रूप से हुआ है।[15] इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि नदियों को पार करने के लिये तब नौकाओं का उपयोग किया जाता था। एक संदर्भ से ज्ञात होता है कि नौका लकड़ी (दारु) की बनी होती थी।[16]

इस प्रकार नौका द्वारा नदियों तथा समुद्रों को पार करने तथा व्यापार करने के अनेक संदर्भ मिलते हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की व्यापारिक स्थिति अत्यन्त उन्नत हो चुकी थी। न केवल स्वदेश में अपितु समुद्री मार्गों द्वारा द्वीपान्तरों में भी उसका प्रवेश हो चुका था। यह भी अवगत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही वैदिक आर्यों ने समुद्री मार्गों का पता लगा लिया था तथा उनके द्वारा आवागमन के साधनों का भी विकास कर लिया था।

व्यापार के लिये विनिमय के माध्यम के रूप में गाय की महती उपयोगिता थी परन्तु किसी प्रकार के सिक्कों का भी चलन उस समय अवश्य था, इसके अनेक प्रमाण वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। जैसे—'निष्क' निश्चित रूप से विशिष्ट प्रकार की मुद्रा का ही बोधक है।[17] एक मंत्र में प्रयुक्त 'मना' भी किसी प्रकार का सिक्का ही जान पड़ता है। आर्यजन मोती से भली-भाँति परिचित थे। घोड़ों के अलंकरण में मोतियों का प्रयोग होता था तथा ऐसे अलंकृत घोड़ों को 'कृशनावन्त' कहते थे।[18] अथर्ववेद में मोती पैदा करने वाले शंख (शंखकृशनः) का उल्लेख है[19], जो समुद्र से लाये जाते थे और ताबीज बनाने के काम में प्रयुक्त होते थे। मोती दक्षिण भारत के समीपस्थ सागर के किनारे पैदा होता है। ऐसा जान पड़ता है कि आर्य लोग समुद्र के रास्ते आकर इस मूल्यवान वस्तु को खरीदते थे।

उस समय ऋण लेने की भी प्रथा थी, विशेषतः जुआ खेलने के अवसर पर। ऋण न चुकाने का परिणाम बहुत बुरा हुआ करता था। ब्याज की दर का ठीक से पता नहीं चलता किन्तु एक जगह ऋण के आठवें भाग (शफ) तथा सोलहवें भाग (कला) को चुकाने की बात मिलती है।[20] परन्तु यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हो पाता कि यह ब्याज का भाग था या मूलधन का। पूर्वजों द्वारा लिये गये ऋण उनके वंशजों द्वारा चुकाये जाते थे। पणि लोग उस समय व्यापार के लिये प्रसिद्ध थे। वे ऋण देते थे परन्तु ब्याज बहुत अधिक लेते थे, इसीलिये वे ऋग्वेद में 'वेकनाट' कहे गये हैं।[21] निरुक्त के अनुसार 'वेकनाट' सूदखोरों को कहते थे जो अपने रुपयों को दुगुना बनाने की कामना करते थे—'वेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्ते इति वा'।[22]

वैदिक आर्य कृषिजीवी थे, वे कृषि को बड़ा महत्त्व देते थे। 'कृषि' शब्द से आर्यजनों के कृषक होने का प्रमाण मिलता है।[23] कृषि को अपनाना आर्यत्व एवं श्रेष्ठत्व की पहचान थी। समाज के सभी वर्गों के लोग जीवनदायिनी धरती के प्रति आदर-सम्मान का भाव रखते थे। कृषि कार्य को न करने वाले अथवा उसको हीन दृष्टि से देखने वाले लोगों को समाज में ऊँचा दर्जा नहीं दिया जाता था।

वैदिक जन-जीवन कृषि पर अवलम्बित होने के कारण वेदों तथा वैदिक साहित्य में धरती के प्रति श्रद्धाभाव से परिपूर्ण उद्‌गार प्रकट किये गये हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है कि 'यह विशाल धरती हमारी माता है'[24] (माता पृथिवी महीयम्)। इसी प्रकार 'पृथिवी' मेरी माता और मैं उसका पुत्र हूँ (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः), अथर्ववेद की यह ऋचा आज भी धरती के प्रति भारतीयों का असीम प्रेमभाव प्रकट करती है। वैदिक आर्यों के कृषि-प्रेम के अनेक उदाहरण वेदों में देखने को मिलते हैं। वैदिक कवियों ने 'खेती करो' (कृषिमित् कृषस्व) अभियान चलाकर समाज को कृषि की ओर प्रेरित किया।[25] कृषि-जीवन की इस प्रगति ने तत्कालीन जन-जीवन को आत्मनिर्भरता प्रदान की। इसके अतिरिक्त दुर्व्यसनों में फँसे हुये लोगों को अच्छे मार्ग पर लगाते हुये उनके लिये यह भी निर्देश किया कि 'जुआ न खेलो, खेती करो' (अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषस्व)।[26]

ऋग्वेद में कृषि योग्य भूमि के अनेक रूपों का वर्णन हुआ है। ऋग्वेद और अथर्ववेद आदि के अनेक स्थलों पर कृषि योग्य भूमि को 'उर्वरा' या 'क्षेत्र' कहा गया है और उसमें खाद (शकन् या करीष) का उपयोग करने तथा सिंचाई (खनित्र) की व्यवस्था का निर्देश किया गया है।[27] ऋग्वेद एवं अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि उस समय कृषि की सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी।[28] नदी और कूप दोनों से सिंचाई की जाती थी। कृषि को अधिकाधिक उपजाऊ बनाने के लिये सिंचाई के अतिरिक्त खाद की भी उत्तम व्यवस्था थी।[29]

उपजाऊ भूमि के अतिरिक्त बंजर या अनुपजाऊ भूमि की अलग पहचान थी। विभिन्न ग्रन्थों में 'खिल' या 'खिल्य' शब्दों से ऐसी बंजर या चरागाह योग्य भूमि का उल्लेख हुआ है जो कृषि योग्य भूमि के बीच में स्थित होती थी।[30]

कृषि-कार्य की उपयोगिता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आर्य जीवन में कृषि-कार्य से सम्बन्धित जोताई-बोवाई, हल, बैल, जुआढ़, हँसिया, गाड़ी, नाद, गोलाशा, प्रस्थर, कुठार, लौहदात्र (वसूला) आदि विभिन्न प्रकार की सामग्री उपयोग में लाई जाती थी।[31]

वैदिक युग में विभिन्न प्रकार के अन्नों के उत्पादन की जानकारी अनेक स्रोतों से प्राप्त होती है। अन्न के दस प्रकार बताये गये हैं—चावल (ब्रीहि), जौ (यवाः), तिल (तिलाः), माष (माषाः), सरसों, राई कोटि के धान्य (अणु-प्रियंगवः, ज्वार (गोधूमाः), मसूर (मसूराः), खल, कुल।[32] खाद्यान्नों में गेहूँ का प्रमुख स्थान था। वैदिक युग में ईख (इक्षु) का उल्लेख हुआ है।[33] किन्तु इन सन्दर्भों से यह नहीं स्पष्ट होता कि ईख की खेती होती थी या वह स्वयं उगता था।

अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं का विशिष्ट वर्णन किया गया है।[34] इससे पता लगता है कि बीज बोने का समय आजकल के समान ही था। फसलें साल में दो बार बोई जाती थीं। आजकल की ही भाँति उस समय भी फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों की समस्या उपस्थित थी साथ ही अवर्षण तथा अतिवर्षण से भी खेती को हानि पहुँचती थी। खेती की रक्षा के लिये कृषि-नाशक कीड़ों से सुरक्षा के भी उपाय बताये गये हैं।

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व, उत्तराधिकार तथा उसके अविभाजन सम्बन्धी निर्देशों एवं नियमों का वैदिक युग में अत्यधिक महत्त्व था।[35] भूमि उपहार या दान में नहीं दी जाती थी तथा परिवार के मुखिया की आज्ञा के बिना उसका विक्रय भी नहीं हो सकता था।[36] यद्यपि 'शतपथ ब्राह्मण' में ब्राह्मणों को भूमि दान देने का उल्लेख हुआ है,[37] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष सम्पत्ति होने के कारण भूमि का दिया जाना असाधारण परिस्थिति में ही सम्भव था। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' से पता चलता है कि सम्पत्ति के विभाजन, विनिमय तथा वितरण में भूमि की अपेक्षा पशुओं को देने की व्यवस्था थी।[38]

वैदिक आर्यों के लिये कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन था। आर्यों के जीवन में गाय का विशेष स्थान था। गाय का दूध आर्यों के भोजनालयों की एक प्रधान वस्तु थी। उस समय किसी की धन-सम्पत्ति की माप उसकी गायों की संख्या से की जाती थी। लेन-देन, व्यवहार तथा क्रय-विक्रय के लिये विनिमय का मुख्य माध्यम गाय ही थी। बैलों से खेती का काम लिया जाता था।

ऋग्वेद के 'अरण्यानी सूक्त' से यह ज्ञात होता है कि आज की भाँति वेदयुगीन भारत में भी मनुष्य में पशु-पक्षियों से प्रेम था और वे (पशु-पक्षी) उनके लिये अनेक तरह से उपयोगी थे। वेदों तथा परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों का उल्लेख हुआ है।[39] उपलब्ध प्रमुख पशुओं के नाम हैं—गो, अश्व, अश्वतर (खच्चर), मेष, महिष, उष्ट्र, छाग, अज, गर्दभ, हस्ती, व्याघ्र, वृक, सिंह, कुक्कुर, वृष, गौर मृग, हरिण, कस्तूरी मृग, कृष्णसार मृग और वराह। पशु-पक्षी आर्य जीवन के अभिन्न अंग थे तथा सिंह को छोड़कर प्रायः सभी पालतू पशु होते थे।

हल चलाने तथा गाड़ी खींचने के लिये बैलों तथा अश्वों को विशेष रूप से उपयोग में लाया जाता था। पशुओं में कुत्ते का अनेक दृष्टियों से महत्त्व था। वैदिक युग में कुत्ते की स्वामिभक्ति के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। इन्द्र के विश्वासपात्र 'सरमा' नामक कुत्ते का ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है।[40] भेड़ों का प्रमुख उपयोग ऊन था, इसीलिये उन्हें ऋग्वेद में 'ऊर्णावती' कहा गया है।[41] ऊन के वस्त्रों का वेदों तथा वैदिक साहित्य में अनेक बार उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में गान्धार की भेड़, ऊन के लिये प्रसिद्ध मानी गई है।[42]

जिन पशु-पक्षियों का वर्णन वैदिक भारत के संदर्भ में हुआ है, वे आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं । पशु वैदिक आर्यों के दैनिक उपयोग के सहचर थे। वे धार्मिक ही नहीं, आर्थिक जीवन के भी अभिन्न अंग थे।

इस प्रकार वैदिक आर्यों के आर्थिक जीवन का इतिहास उन्हें शिष्ट, सभ्य तथा सम्पन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त प्रमाण माना जा सकता है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि वैदिक युगीन भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित थी क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र में आर्य आर्थिक प्रगति कर चुके थे।

सन्दर्भ सङ्केत

1. ऋग्वेद 9/112/1-3
2. ऋग्वेद 1/100/10
3. अथर्ववेद 4/22/2
4. शांखायन आरण्यक 13/1
5. अथर्ववेद 12/1/44
6. ऋग्वेद 5/27/12
7. ऋग्वेद 2/33/10
8. ऋग्वेद 8/2/41
9. केदारखण्ड 8/41 स्वर्णादिधातुनिलयास्तथा ताम्रमया नगाः।
10. ऋग्वेद 8/46/38
11. ऋग्वेद 4/24/9
12. ऋग्वेद 7/88/3, 1/116/3, 1/58/3
13. ऋग्वेद 10/136/5, 9/33/6, 10/47/3

14. ऋग्वेद 1/56/2, 4/55/6
15. ऋग्वेद 1/131/2 आदि, अथर्ववेद 2/36/5 आदि तैत्तिरीय संहिता 5/3/10/1, वाजसनेयी संहिता 10/19, ऐतरेय ब्राह्मण 4/13 आदि, शतपथ ब्राह्मण 1/8/1/4 आदि।
16. ऋग्वेद 10/155/3
17. अथर्ववेद 20/227/3, शतपथ 10/4/1/1, गोपथ 1/3/6.
18. मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उद्मृक्षन्त वज्रा, ऋग्वेद 1/126/4
19. अथर्ववेद 4/10/1, 3
20. अथर्ववेद 8/47/17, 6/46/3
21. इन्द्रो विश्वान् वेकनाटाँ अहर्दृश उत-कत्वा पर्णीरंभि, (ऋग्वेद 8/66/10)।
22. निरुक्त 6/27
23. ऋग्वेद 1/52/11 आदि
24. ऋग्वेद 1/164/33
25. ऋग्वेद 10/34/13
26. ऋग्वेद 10/34/13
27. ऋग्वेद 8/6/48 आदि, अथर्ववेद 6/9/11 आदि।
28. ऋग्वेद 7/49/2, अथर्ववेद 1/6/4, 19/2/2
29. अथर्ववेद 2/14/3, 4 आदि
30. ऋग्वेद 6/28/2 आदि, अथर्ववेद 7/15/4, शतपथ ब्राह्मण 8/3/4/1
31. ऋग्वेद 10/101/2-11
32. वाजसनेयि संहिता 18/12, बृहदारण्यक उपनिषद् 6/3/22.
33. अथर्ववेद 1/34/5, मैत्रायणी संहिता 3/79, 4/2/9, वाजसनेयि संहिता 25/1
34. तैत्तिरीय संहिता 7/2/10/2
35. ऋग्वेद 1/110/5, 8/91/5
36. शतपथ ब्राह्मण 2/1/1/4
37. शतपथ ब्राह्मण 13/6/218 आदि।
38. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/1/9/4
39. ऋग्वेद 1/64/7, 8/6/549, 10/107/9, 10/146/6, 6,28 आदि
40. ऋग्वेद 1/62/3
41. ऋग्वेद 8/67/4
42. ऋग्वेद 4/22/2, 5/52/9

वैदिक विज्ञान

डॉ० रघुवीर वेदालंकार

वेदों में विज्ञान है या नहीं, यह विषय विचारणीय हो सकता है किन्तु इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती कि वेदों में अनेक विद्याएँ विद्यमान है । राजनीति, अध्यात्म, आयुर्वेद, कृषि, लोकाचार, गणित, छन्द, मनोविज्ञान आदि की सत्ता वेदों में प्रायः सभी वेदवेत्ताओं द्वारा स्वीकार की जाती है । प्रश्न है कि यदि इन सबका वर्णन वेदों में है तो विज्ञान में ही ऐसी क्या अस्पृश्यता है कि वेद उसे छू भी नहीं सकते ? ज्ञान-विज्ञान में तो वैसे भी भाई चारा है, अभिभावक सम्बन्ध है। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ विज्ञान भी होगा, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो। ज्ञान नहीं होगा तो विज्ञान भी नहीं होगा।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना होगा कि आज विज्ञान शब्द 'Science' के अर्थ में रूढ़ हो गया है । यह इसके साथ न्याय नहीं है । विज्ञान का वास्तविक अर्थ केवल Science ही नहीं अपितु 'विशिष्टं ज्ञानम्' है । ज्ञान का यह वैशिष्ट्य अनेक रूपों में हो सकता है । इसकी अनेक शाखाएँ हो सकती हैं । वर्तमान साइंस, मनोविज्ञान, आयुर्विज्ञान, प्राणिविज्ञान, सृष्टिविज्ञान आदि। आज तो राजनीति के आगे भी साइंस लग कर Political Science बन गया है । चिकित्साशास्त्र के रूप में जीवविज्ञान की स्वतन्त्र सत्ता है किन्तु यह भी तो विज्ञान का एक अङ्ग ही है। सृष्टि का विज्ञान साक्षर विज्ञान पर बना है। आज के वैज्ञानिक भी तो भूगोल एवं खगोल के सम्बन्ध में विविध समस्याओं को लेकर अपने-अपने अध्ययन में लीन हैं । यदि इनको वैज्ञानिक कहा जाता है तो वेद के विषय में यह ननु नच क्यों है ? क्या हिरण्यगर्भ, नासदीय तथा पुरुष सूक्त की जोड़ के विचार विश्व के किसी भी साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध है जो कि इतनी स्थिरता तथा स्पष्टता के साथ सृष्टि के रहस्यों को खोलते हों ? फिर भी इन सूक्तों को दार्शनिक कह कर इनमें निहित विज्ञान को ओझल कर दिया जाता है । इस पर भी यह अवधेय है कि वर्तमान विज्ञान तो भूगर्भ-अन्तरिक्ष एवं प्रलोक के रहस्यों को खोलने में इतनी उन्नति एवं विकास करने के बाद सक्षम हो रहा है जबकि वेद ने इन रहस्यों को तभी जान लिया था जिसे कि वर्तमान वैज्ञानिक अथवा वेदवेत्ता आदिम एवं असभ्य युग कहते हैं। यह अलग बात है कि कुछ निष्पक्ष वैज्ञानिक सृष्टि के रहस्यों से पर्दा उठाने के लिए वेदों को ही आधार बना रहे हैं । यहाँ पर एक-दो उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा । साहा इन्स्टीट्यूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स के डॉ० अर्धेन्दु शेखर चक्रवर्ती ने 'ओरिजिन ऑफ लाइफ' नामक पुस्तक में वेदों की सहायता से ही यह सिद्ध करने का दावा किया है कि जीवन-तत्त्व की उत्पत्ति कैसे हुई है? फ्रित्साफ काप्रा नामक अमेरिकन वैज्ञानिक ने अपने 'ताओ ऑफ फिजिक्स' नामक ग्रन्थ में इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि आधुनिक विज्ञान जिन निष्कर्षों पर आज पहुँच रहा है उनमें से अनेक वेदों में पहले से ही विद्यमान हैं।

सम्भवतः इन्हीं कारणों से महर्षि दयानन्द ने वेद को सभी सत्यविद्याओं की पुस्तक कहा था। न केवल कहा ही किन्तु उन्होंने ऐसा सिद्ध करके भी दिखलाया था। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विज्ञान के साथ अन्य विद्याओं का भी प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में हमें योगिराज अरविन्द के शब्दों को भी ध्यान में रख लेना चाहिए कि वेदों के विषय में दयानन्द ने जो कुछ कहा

रीडर एवं अध्यक्ष, रामजस कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

है, वह असत्य नहीं है। इतना ही नहीं, अपितु वेदों में तो इससे भी अधिक विज्ञान निहित है। यद्यपि महर्षि दयानन्द ने अनेक मन्त्रों के विज्ञानपरक अर्थ करके रेल-तार-वायुयान आदि की सत्ता भी वेदों से सिद्ध की है। वह भी उस काल में जबकि आज का विमान वैज्ञानिकों की कल्पना में भी नहीं था। किन्तु खेद है कि पूर्वाग्रह से ग्रस्त पं० बलदेव उपाध्याय जैसे विद्वान् इस मान्यता को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की तो बात ही क्या है, वे तो वेद को दूसरी ही दृष्टि से देखते हैं।

थोड़ी देर के लिए ऐसे यन्त्रों का वर्णन हम वेदों में न भी माने तथापि वेदों की वैज्ञानिकता में कोई न्यूनता नहीं आती । इसका कारण यह है कि वेद Science अथवा विज्ञान की पाठ्यपुस्तक नहीं है जहाँ कि विज्ञान के प्रत्येक प्रयोग तथा यन्त्रों का वर्णन हो । वेद तो सत्य विद्याओं की पुस्तक है। विज्ञान भी उसका एक अंश है। अतः ऐसी पुस्तक में विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त ही पाये जा सकते हैं। यहाँ पर एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि वेदों में वैज्ञानिक तथ्यों के संकेत ही क्यों प्राप्त हैं जबकि नैतिकता, अध्यात्म, लोकाचार, राजनीति आदि की विस्तार से चर्चा है। इसका उत्तर कठिन नहीं है। नैतिकता आदि के नियम ऐसे हैं जिनके बिना संसार चल ही नहीं सकता। चलेगा भी तो इसी रूप में जैसा कि आजकल । अन्याय, अत्याचार, अनाचार सर्वत्र पनप रहा है। असत्य, हिंसा, धोखा, ठगी, बेईमानी सर्वत्र कांप रहे हैं । इसी कारण सर्वत्र हाहाकार है, बेचैनी है, अशान्ति है । मानव मन स्वभाव से ही पतनशील है । वह इन दुर्गुणों की ओर स्वतः ही भाग रहा है । इसलिए वेदों में बार-बार तथा बलपूर्वक विस्तार से सत्य, अहिंसा, प्रेम, बन्धुत्व, न्याय, सामञ्जस्य, ईश्वर भक्ति, यज्ञ, उपासना आदि का उपदेश दिया गया है। इसी वर्णन की अधिकता के कारण वेदों को धर्मपुस्तक भी माना जाने लगा किन्तु ऐसा नहीं है । वेद ज्ञान-विज्ञान की पुस्तक है। जहाँ मानव मन स्वभावतः दयालु है वहीं मानव मस्तिष्क नाना विध सम्भावनाओं एवं उद्भावनाओं से परिपूर्ण है । आवश्यकता आविष्कार की जननी है, यह सिद्धान्त सभी को स्वीकार्य है । अतः सृष्टि के उत्तम प्राणी मानव का सर्वोत्तम भाग मस्तिष्क विज्ञान का आविष्कार कर ही लेगा, उसने कर भी लिया है । इसलिए वेदों में विज्ञान का विस्तृत वर्णन अपेक्षित नहीं है । हाँ, वैज्ञानिक तथ्यों एवं संकेतों की वेदों में कमी नहीं है। विज्ञान ही नहीं अपितु अन्य भी अनेक विद्याएँ हैं जिनका वेदों में विस्तृत वर्णन न होकर संकेत मात्र ही है। यथा - गणित, शिल्प-विद्या, यज्ञ-विद्या जिसके अन्तर्गत यज्ञों के विभिन्न प्रकार तथा वेदिनिर्माण आदि आते हैं, वेदों में संकेत रूप में ही है । बाद में सूत्रग्रन्थों में इनका विस्तार किया गया है। विज्ञान की भी यही अवस्था है । वह वेदों में बीजरूप में निहित है जिसका विस्तार बाद में मानव मस्तिष्क कर सकता है।

वेद तो उस कामधेनु या कल्पतरु की भाँति है जो हमें अभीष्ट पदार्थ प्रदान कर सकते हैं। वेद को जिस दृष्टि से भी देखेंगे, वही अर्थ उसमें प्रतिभासित हो जायेगा । अपनी पूर्वाग्रह धारणा के कारण वेदमन्त्र आदिम मानव के साधारण गीत भी प्रतीत होने लगेंगे तथा विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न कालों में लिखे जाते हुए मानकर वेदों में ऋषियों एवं राजाओं का इतिहास भी मिलने लगेगा इसके साथ ही तात्कालिक समाज का चित्र भी हमें वेदों में प्राप्त होने लगेगा। यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः[1] कहकर मीमांसक तथा सायणाचार्य आदि ने वेद की याज्ञिकी व्याख्या भी प्रस्तुत की तो दूसरी ओर अध्यात्मवादियों को मन्त्रों में सर्वत्र अध्यात्म प्रतिबिम्बित हो सकता है । इसके साथ ही यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से देखेंगे तो वेद में विज्ञान भी दिखलायी देगा । यहाँ तक कि उन मन्त्रों में भी दिखलायी देगा जिन्हें हम विशुद्ध आध्यात्मिक मान रहे हैं । इस प्रकार वेद मन्त्रों की व्याख्या अपनी धारणानुसार विभिन्न दृष्टियों से की जा सकती है। इस विषय में दुर्गाचार्य का कहना है कि जिस प्रकार सवार की विशिष्टता के कारण ही अश्व उसे ठीक या गलत मार्ग से ले जाता है । उसी प्रकार द्रष्टा की धारणानुसार ही वेदमन्त्र विभिन्न अर्थों को धारण कर लेते हैं।[2] ऐसा केवल वर्तमान में ही नहीं अपितु पहले भी होता आया है । यास्काचार्य ने याज्ञिक, पूर्वयाज्ञिक, नैरुक्त, वैयाकरण, आत्मप्रवाद, ऐतिहासिक, अध्यात्म-परिव्राजक तथा नेदानीं के रूप में बहुत ही ईमानदारी से वेदज्ञों की इन दृष्टियों का उल्लेख कर दिया है।

इन सम्प्रदायों में नैरुक्तों का भी अपना सम्प्रदाय है जिसका प्रतिनिधित्व यास्क कर रहे हैं। यास्क ने अनेक मन्त्रों की वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं । जिन्हें हम मन्त्रों की अधिदैविक व्याख्याएँ कह रहे हैं वहाँ पर यास्क विज्ञान का ही तो प्रतिपादन कर रहे हैं। इन्द्र को सूर्य, वृत्र को मेघ तथा उर्वशी को विद्युत मानते हुए उन्होंने ऐसा ही तो किया है। यद्यपि ये आधिदैविक व्याख्याएँ

हैं किन्तु इनमें विज्ञान भी तो निहित है । जब यास्क 'अपाञ्च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षाकर्म जायते' कहते हैं तो इससे क्या हमें यास्क की वैज्ञानिक दृष्टि का पता नहीं चलता । विज्ञान भी तो वर्षा की प्रक्रिया इसी रूप में स्वीकार करता है। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि निरुक्त में यास्क ने केवल अपना ही मत प्रदर्शित नहीं किया है अपितु वे अपने से पूर्ववर्ती सभी नैरुक्तों के प्रतिनिधि हैं, ऐसा हमें यास्क के वचनों से ही स्पष्ट हो जाता है । जब यास्क तत् को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः[3] कहते हैं तो वे तब समस्त नैरुक्त परम्परा का ही प्रतिनिधित्व कर रहे होते हैं । अन्यत्र भी उन्होंने 'नैरुक्तसमयश्च' कहकर ऐसा ही प्रतिपादन किया है।

वेदों में अन्यत्र भी ऐसे अनेक वेदमन्त्र विद्यमान हैं जिनकी व्याख्या आध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक दृष्टि से की जाती है किन्तु जहाँ पर विज्ञान के संकेत भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं । एक-दो वेदमन्त्रों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। यजुर्वेद के अध्याय २६ का ४३वां मन्त्र है --

''रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र-यत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ।।''

सामान्यतः इसकी आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि शरीर रूपी रथ में आत्मा रथी बैठा हुआ है जो इसे इच्छानुसार किसी भी दिशा में ले जाता है। शरीर को रथ की तथा आत्मा को रथी की उपमा अन्य ग्रन्थों में भी दी गयी है। यह अर्थ भी बुरा तो नहीं है किन्तु यदि इसी मन्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या की जाएं तो यहाँ पर एक ऐसे रथ का वर्णन पायेंगे जिसे सारथि अभीष्ट दिशा में ले जा रहा है । 'यत्र-यत्र कामयते' पर ध्यान दीजिए, जहाँ भी सारथि चाहता है, इस रथ को ले जाता है। इसकी सर्वत्र अप्रतिहत गति है। रथ की यह अप्रतिहत गति इसमें प्रयुक्त विद्युत किरणों के कारण हैं जिन्हें मन्त्र में अभीषु कहा गया है । ये विद्युत किरणें इतनी महिमाशालिनी हैं कि सारथि के मन के पीछे-पीछे चल रही हैं अर्थात् इनके आधार पर सारथी रथ को मनोवांछित दिशा में दौड़ा रहा है। वेदमन्त्रों में ऐसे रथ का वर्णन शायद हमें अस्वाभाविक लगे किन्तु रघुवंश में कालिदास भगवान् राम के मुख से भी ऐसा ही कहलाते हैं- 'यथा विधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम्' (रघु० १३।१६) अर्थात् यह विमान मेरी मनोभिलाषा के अनुसार दौड़ रहा है । क्या इन दोनों वर्णनों में समानता नहीं है । इनके आधार पर ऐसे विमान की कल्पना की जा सकती है जिसकी गति सारथि के मन द्वारा नियन्त्रित रहे । यह विमान कैसे बनेगा, यह तो विज्ञान की प्रयोगशाला का विधान है । इसी प्रकार ऋग्वेद १०।६३ का दशम मन्त्र है -

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ।।

शरीर को ही दैवी मान मानकर इस मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या भी की जाती है किन्तु पृथ्वी तथा द्युलोक में गमन करने वाली दैवी अर्थात् दिव्य नौका का वर्णन भी यहाँ स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। यह नौका कितनी तीव्र गामिनी होगी, इसकी झलक हमें यजुर्वेद ३२।१२ के निम्न मन्त्र में मिलती है -

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः ।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ।।

अर्थात्- द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, सभी दिशाएँ तथा लोक-लोकान्तरों का भ्रमण अतिशीघ्र इसके द्वारा किया जा सकता है। वेद ने संकेत दे दिये। इस प्रकार की दिव्य नौका का निर्माण वैज्ञानिक प्रयोगशाला की अपेक्षा रखता है।

वैज्ञानिक संकेत

अब हम ऐसे वैज्ञानिक तथ्यों की ओर आते हैं जिनके स्पष्ट या अस्पष्ट संकेत वेदों में पाये जाते हैं । सबसे पहले ऋग्वेद को ही लें, यह अग्नि से प्रारम्भ होता है किन्तु ऋग्वेद में चर्चित यह अग्नि केवल चूल्हें में जलने वाली या यज्ञ में प्रदीप्त होने वाली अग्नि नहीं है अपितु यह तो तीनों लोकों में वर्तमान है। वह पृथिवी के गर्भ में है, जलों में है, वनों में तथा प्राणीमात्र में विद्यमान है । इसीलिए यास्क अग्नि के सभी स्वरूपों पर प्रकाश डालते हुए अग्नि को जातवेद,[4] वैश्वानर,[5] सूर्य, विद्युत[6] सभी कुछ कह रहे हैं। ऋग्वेद में इसका यही स्वरूप चित्रित है अन्यथा 'अग्निमा रयिमश्नुवत्[7]' अग्निर्दाद्द्रविणम्[8] तथा अग्नि के विशेषण 'रत्नधातमम्' की संगति लगानी कठिन हो जायेगी । ऋग्वेद प्रथम मण्डल के सूक्त 95 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समुद्र, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक ये तीनों अग्नि के जन्मस्थान हैं । समुद्र में अग्नि की बात कह कर, वेद जल में विद्युत रूपी अग्नि की बात ही तो कह रहा है। यही अग्नि रत्नधातमम् तथा द्रविणोदा है।

ऋ० १०।४५।१ में अग्नि के तीन स्वरूपों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'तृतीयमप्सु जज्ञे' - अर्थात् अग्नि का तृतीय स्वरूप जलों में उत्पन्न हुआ । आज हमें यह अति सामान्य बात प्रतीत होती है किन्तु जब विज्ञान का नामोनिशान भी संसार में नहीं था तब जल में अग्नि की सत्ता बताना क्या वैज्ञानिक वर्णन नहीं है ? ऋग्वेद में कहा गया है कि जलों को ओढ़े हुए 'सुपर्णा हरयः' आकाश में उड़ रहे हैं ।[9] पाश्चात्त्य वेदज्ञ इसे गड़रियों का असम्बद्ध प्रलाप भी कह सकते हैं कि हरयः घोड़े आकाश में कैसे उड़ेगें। किन्तु जब यास्क 'हरयः सुपर्णाः' का अर्थ 'शोभनपतना आदित्यरश्मयः' कहते हैं तो क्या इससे सूर्य किरणों द्वारा जलों को भूमि से आकाश में ले जाने की वैज्ञानिकता का पता नहीं चलता ? भले ही आज हमें यह अतिसामान्य बात लगे।

कहीं-कहीं अग्नि के सम्बन्ध में भी विभिन्न बातें कही गयी हैं, यथा १।६५।४ की ऋचा कहती है कि यह अग्नि, पुत्र होते हुए भी माताओं को जन्म देता है। सामणाचार्य इसका अर्थ करते हैं कि वैद्युताग्नि मेघ रूप पुत्र होते हुए भी पुनः वर्षाजल का कारण बनता है। यह वैज्ञानिक वर्णन ही तो है।

वेद तथा विज्ञान की प्रतिपादन शैली बहुधा भिन्न है तथापि वक्तव्य - विषय में प्रायः समानता उपलब्ध होती है । विज्ञान इलेक्ट्रान (Electrons) तथा प्रोटोन (Protons) की बात करता है तो प्रायः सेना की उपमा देता है। ये इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन आकाश में भरे पड़े हैं। वेद ऐसे वर्णनों में घोड़ा, गाय, भेड़ तथा हरिण समूह की उपमा देता है। ऋग्वेद के मरुत्सूक्त १।८५।४ में ''यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम्'' का अभिधेयार्थ तो यही है कि सूतों ने अपने रथों में श्वेत बिन्दु युक्त मृगियों को जोड़ा । इस प्रकार यह असम्बद्ध प्रलाप ही प्रतीत होता है किन्तु जब इसका यह अर्थ किया जायेगा कि वायु द्वारा वैद्युताग्नि के साथ मिलकर मेघ की रचना की जा रही है तो यही वर्णन वैज्ञानिक लगने लगेगा। इसी प्रकार इन्द्रसूक्त १।८५।६ में हम पढ़ते हैं 'त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्'। इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि त्वष्टा ने इन्द्र के लिए सहस्रभृष्टि - सहस्रधारा वाला बज्र बनाया अपितु इसकी वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि सूक्ष्म तैजूस पदार्थ, जिनको विज्ञान aspascles electrons कहता है, मिलकर ही इन्द्र अर्थात् सूर्य के सहस्रधारा वाले वज्र का निर्माण करते हैं। विज्ञान को भी यह अभिमत है। वेद में सूर्य को सप्तसप्ति यूँ ही नहीं कह दिया गया है अपितु ऐसा कहकर वेद सूर्य किरणों में सात रंगों का प्रतिपादन कर रहा है। न्यूटन से लेकर आज तक सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि सूर्य में मुख्यतः सात रंगों की ही किरणें हैं। ये ही मूल रंग हैं जिनसे दुनियाँ भर के सभी रंगों का जन्म होता है।

इस प्रकार वेदों में विज्ञान के मूलभूत संकेत यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं । वे शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय हैं । यदि आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित विभिन्न यन्त्रों, मशीनों, उपकरणों का साक्षात् वर्णन वेद में नहीं है तो इससे वेद की वैज्ञानिकता में न्यूनता

नहीं आती है। विज्ञान केवल (Science) ही नहीं है । अपितु चिकित्साविज्ञान भी विज्ञान की ही कोटि में आता है । चिकित्सा के लिए मूलभूत Biology प्रारम्भिक कक्षाओं में Science के अंग रूप में ही स्कूलों में पढ़ाया जाता है । इस चिकित्साविज्ञान का विस्तार देखने के लिए हमें अथर्ववेद की ओर जाना होगा । जहाँ न केवल विविध रोगों के नाम ही वर्णित हैं अपितु उनकी उत्पत्ति के कारण तथा इनके निवारणार्थ नाना ओषधियों का वर्णन भी प्राप्त होता है । कभी-कभी तो आश्चर्य होता है कि कितनी गहराई में जाकर अथर्वबेद रोगोत्पादक नाना प्रकार के कृमियों तक की चर्चा कर रहा है । ओषधियों के नाम-गुण वर्णन के साथ वेदों में शल्यचिकित्सा पर भी प्रकाश डाला गया है। यह सब विज्ञान की कोटि में ही आता है।

आधुनिक विज्ञानों में मनोविज्ञान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । निःसन्देह यह भी अन्य विज्ञानों की अपेक्षा गूढ़तम विज्ञान है । क्योंकि अन्य विज्ञान तो बाह्य अथवा प्रयोगशालाओं द्वारा साध्य हैं । उनके तथ्य भी दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु मनोविज्ञान तो सर्वथा आन्तरिक है । न प्रयोगशालों द्वारा साध्य तथा न ही चर्मचक्षुओं से दर्शनीय। वेद, विशेषतः अथर्ववेद में उच्च कोटि का मनोविज्ञान चित्रित है । यजुर्वेद के शिवसंकल्प सूक्त में मन के विभिन्न स्वरूपों एवं कार्यों की चर्चा जिस ढंग से की गयी है, वर्तमान मनोविज्ञान भी उस गहराई तक अभी नहीं पहुँच पाया है । यजुर्वेद ३।५४ में तो मन को सम्बोधित करता हुआ ऋषि कहता है - हे मेरे मन! जो मुझ से दूर चला गया है, कर्म, दक्षता, जीवन एवं लम्बे समय तक सूर्य को देखने के लिए मैं तुम्हें फिर अपने पास बुलाता हूँ ?[10] इससे उत्कृष्ट मनोविज्ञान और कहाँ मिलेगा कि व्यक्ति स्वयं ही अपने मन का नियन्त्रक बन जाता है।

इस प्रकार निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वेद केवल साहित्यिक ग्रन्थ नहीं है, न वे धर्म ग्रन्थ हैं । न केवल आचार-विचार-नैतिकता-अध्यात्म की पुस्तक है अपितु मनु के शब्दों में 'सर्वज्ञानमयो हि सः' तथा महर्षि दयानन्द के शब्दों में 'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक' हैं । उनमें ज्ञान-विज्ञान-गणित-आयुर्वेद-मनोविज्ञान आदि सब कुछ निहित है, आवश्यकता है वेदानुसन्धान की।

सन्दर्भ सङ्केत

1. वेदाङ्गज्योतिष् श्लोक 3
2. यथाऽश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुरसाधुश्च वहति-एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतराश्चार्थान् सुवत्ति नि० 2/2 पर दुर्गभाष्य
3. निरुक्त, 2/5
4. जाते जाते विद्यते (नि० 7/19)
5. अयमेवाग्निर्वैश्वानरः (नि० 7/23)
6. स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते (नि० 7/16)
7. ऋ० 1/1/3
8. ऋ० 10/8/4
9. ऋ० 1/164/47
10. आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
    ज्योक् च सूर्यं दृशे।। यजु० 3/54

Vedas and Itihāsapurāṇas

Dr. N. Gangadharan

In order to gain same recognition as the Vedas, we find Purāṇas claiming antiquity as having issued forth from lord Brahma :

सर्वज्ञात् सर्वलोकेषु पूजिताद्दीप्ततेजसः ।
पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।। —Padmapurāṇa I. 1.45

According to this statement Brahma is referred to as having recollected the Purāṇas at first. Their importance lies in the treatment of topics dealt with in the Purāṇas :

(1) The dharma enjoined in the Vedas is expounded in a lucid way in the Purāṇas.

(2) They throw light on the cultural history of the different regions through the past several centuries.

(3) They provide us with detailed chronology of the kings belonging to different dynasties.

(4) The Bhuvanakośa section in the different Purāṇas enable us to formulate an idea about the geography of the ancient world.

(5) They are reliable source books for understanding the achievement made in the past in several branches of learning.

The statement that whatever is found here is found elsewhere and whatever is not found here is not found elsewhere as applying to Mahābhārata is equally applicable to the Purāṇas. The recognition for the Purāṇas is mainly due to their source. We may refer to the oft-quoted statement found in the Mahābhārata :

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।। —I. 1. 268

According to this statement matter dealt with in the Vedas is to be enlarged with the help of Itihāsa and Purāṇas and Vedas are afraid that a less learned person would misinterpret them. Hence we find statements in the Purāṇas stressing their importance based on the above mentioned relationship :

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ।।—Padma I. 2. 51

Professor, Dept. of Sanskrit, Madras University, Madras

According to this verse one would be capable of perceiving the truth, only if he studied the Purāṇas also along with the Vedas. We find the declaration that whoever does not know the Purāṇas does not know anything :

योऽ न वेद पुराणानि स वेदात्र न किञ्चन ।
कतमः स हि धर्मोऽस्ति किं वा ज्ञानं तथाविधम् ।।—Skanda

In order to enhance the value of the Purāṇas we find statements holding Lord Viṣṇu having manifested as sage Vyāsa and he composed the Purāṇas for the purpose of popularising the Vedic truths on the earth :

विस्ताराय च वेदानां स्वयं नारायणः प्रभुः ।
व्यासरूपेण कृतवान् पुराणानि महीतले ।।—Brahmapurāṇa 1. 15

We may refer to some specimens in order to substantiate the statement that the Purāṇas are important for the interpretation of the ideas in the Vedas. For example the well-known Vedic mantra —

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं समूढमस्य पांसुरे

refers to the three strides made by lord Viṣṇu. The Purānas elaborate and describe in detail the manifestation of lord Viṣṇu as a Dwarf (Vāmana).

The legend referred to in the Śatapatha Brāhmaṇa about the rescue of Manu and the Vedas by lord Viṣṇu in the form of a Fish is elaborately described in the Matsyapurāṇa. We know that lord Śiva is referred to as Nīlagrīva in the mantra नमो नीलग्रीवाय in the Yajurveda. The commentator explains that the form was due to drinking of poison. We find a detailed description only in the Purāṇas about the circumstances which led lord Śiva to drink poison. We know from the Purāṇas that when the milky ocean was churned, the deadly poison Halāhala came up and on beholding which all ran away. Then lord Siva drank the poison and retained it in his throat and thus saved the entire beings.

The milking of the earth by king Pṛthu is referred to in the Atharvaveda (3.4.5). We find a detailed account of this episode in the Bhāgavatapurāṇa (IV. 18).

We may cite as another example the familiar story of manifestation of Goddess Umā in the midst of gods quarrelling and claiming their supremacy occurring in the Kenopaniṣad. We find a complete description of the manifestation of goddess mother as Umā in the Śivapurāṇa and an echo in the Liṅgapurāṇa describing the Supreme being appearing as a Yakṣa (I. 53. 55f).

We may note here the view of Rūpagosvāmin, the Vaiṣṇavite commentator, about the utility of the Purāṇas in the interpretation of the Vedas. According to him only that having the same recognition as that of the other could be useful in the interpretation of the latter - पूरणात् पुराणमर्थात् यच्छास्त्रं वेदार्थं पूरयति तत् पुराणं प्रोच्यते। न चावेदेन वेदस्योपबृंहणं सम्भवति न हि अपूर्णस्य कनकवलयस्य त्रपुणा पूरणं युज्यते।

It means that supplementing the Vedas by something that is not equivalent to the Vedas is impossible. It is not advisable to make up the deficient golden bangle with tin.

We may compare the modern practice. If an eloquent speaker is addressing in one language alien to the region, an equally competent person is engaged to translate the speach into the language of the region so that the ideas may be comprehended well by all.

The Purāṇa and Itihāsa had a close connection. They were mentioned together in ancient Sanskrit literature. In a legend narrated in the Chāndogyopaniṣad, there is a reference to the study of the different texts made by sage Nārada : ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्। (4.1.6.1)

It is to be noted that the Itihasa - Purāṇa is mentioned together as the fifth.

It is generally held that the Purāṇas evolved from the practice of narration of legends at the time of the prolonged sacrificial rites and sacrificial sessions. Hence it is natural that they are explanatory of the truths enjoined in the Vedas.

The Purāṇas quote profusely from the Upaniṣads besides explaining certain ideas from the Upaniṣads. For example we find in the Liṅgapurāṇa (I. 91.49-50) the well known passage from Muṇḍakopaniṣad (II.11.4):

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन बोद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ।।

We find the Taittirīyopaniṣad text (2.4.1) : यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह in Liṅgapurāṇa (I. 28. 18: II 18.27). The oft guoted statement सर्वं खल्विदं ब्रह्म from Chāndogyopaniṣad (3.14.1) is found in the Liṅgapurāṇa (I. 28.21 b).

The passage अपाणिपादोदरपार्श्व जिह्वो ह्यतीन्द्रियो वापि सुसूक्ष्म एकः। पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णो न चास्त्यबुद्धं न च बुद्धिरासीत्।। स वेद सर्वं न च सर्ववेद्यं तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।

in Liṅgapurāṇa (I. 88.40-4) is an expansion of the passage in Śvetāśvataropaniṣad (3.19).

The classification of knowledge into Parāvidyā and Aparāvidyā found in the Liṅgapurāṇa (I. 86.50 ff) is known from other texts also. The former is the knowledge of the imperishable supreme, whereas the latter includes all others - the Vedas, Vedāṅgas and all other texts.

We find a long quotation in the Liṅgapurāṇa (I. 86.51-55) :

द्वे विद्ये वेदितव्ये हि परा चैवापरा तथा ।
अपरा तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदो द्विजोत्तमाः ।।

सामवेदस्तथाथर्ववेदः सर्वार्थसाधकः ।
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च ।।

ज्योतिषं चापरा विद्या पराक्षरमिति स्थितम् ।
तददृश्यं तदग्राह्यमगोत्रं तदवर्णकम् ।।

तदचक्षुस्तदश्रोत्रं तदपाणि अपादकम् ।
तदजातमभूतं च तदशब्दं द्विजोत्तमाः ।।

अस्पर्शं तदरूपं च रसगन्धविवर्जितम् ।
अव्ययञ्चाप्रतिष्ठञ्च तन्नित्यं सर्वगं विभुम् ।।

which is apparently same as Rudrahṛdayopaniṣad 28-32a (cf. Muṇḍakopaniṣad I. 1.4-6).

As already mentioned, the Purāṇas summarise long passages from the Upaniṣads : For example the Liṅgapurāṇa summarises the Atharvaśiropaniṣad (1-4 and a part of the 5th) in II. 17.4-24: 18.1-26 and 34 describing the greatness of lord Śiva. There are many such examples in Liṅgapurāṇa.[1]

Thus the Purāṇetihāsa serve as an excellent media for explaining the Vedic concepts.

REFERENCES & NOTES

1. For details see Liṅgapurāṇa A study pp. 37 ff

Himālayan Environment in Vedic Age

Dr. Rajendra Mishra

The oldest era of the Indian culture, as postulated by the great indologist late Pt. Bala Gangadhara Tilaka, is known as the Aditi period. With its primitive date as 6000 years B.C. this era proves to be the most ancient time in the progress of the world human culture. This thesis, completely based on the astrological calculations and internal evidences, stops all other ambiguous and doubtful explorations regarding the antiquity of the Vedas. The assessment of Herman Jacobi, which studies the movement of the Dhruva Nakṣatra and Kṛttikas, supports the view of Pt. B.G. Tilaka and places the Vedic Saṁhitas in such a period which dates back 4500 years B.C.

The Vedas, basically known as the sacred religious books of the Hindūs, are the collections of hymns, addressed to different deities of various characters. Several religious and philosophical sects like Monism, Polytheism, Henotheism and Pantheism etc. vegetate and develop through these vedic mantras. On the other hand, these Vedic mantras are the source of all kinds of knowledge which are unknowable even through the perception and inference :

Pratyakṣeṇānumityā vā yastūpāyo na budhyate

Enam Vidanti Vedena tasmād Vedasya Vedatā.

Geographical Data in Vedic Mantras

But in this short account I would like to draw the attention of the scholars towards the Himālayan environment as depicted in the Vedic Saṁhitās. The often-quoted Himālayan region presents a vivid picture of the flora and fauna available in this territory. The geographical knowledge of the Vedic Ṛṣis seems to be much developed as we find the detailed description of the four Samudras (Oceans) being crossed over through the monstrous boats. In Ṛgveda, repeatedly delineated sapta sindhavah or sapta-srawatah1 (seven rivers) draw our attention. These rivers namely Sindhu, Viṭastā (modern Jhelam), Paruṣṇī, Vipāsā (modern Vyasa), Śutudrī (modern Sataluj), Asiknī, Saraswatī, Gaṅgā and Yamunā originate from the high glacial summits of the Himālayas.

The most specially mentioned Himālayan environment has got an eternal value. The mountain 'Muñjavān or Muñjavat' has been appreciably described as the origin-place of the famous Soma Vallari (creeper). This mountain was situated some where in the extreme north of the Himālayan region (see Akṣa-Sūkta, 10.34.1).

Professor & Head, Dept. of Sanskrit, Himachal Pradesh University, Shimla-5

The 191st Sūkta of the 1st maṇḍala (Ṛgveda) puts forth an expressive picture of the Himālayan herbage, along with its 99 varieties. These medically used plants cure the poisonous snake-bite. The most effective herb is called Madhulā. Different categories of the snakes have been introduced here like Śarasaḥ (living in Śara) Kuśarasaḥ (living in Kuśas) Darbhāsaḥ (living in grass) Muñjaḥ (living in Muñja) Vairiṇā adṛṣṭaḥ (hidden in the veeran grass).[2]

Moreover, in two separate mantras the Ṛṣi wishes that 'Madhu twā madhulā cakāra' i.e. let the Madhulā, (herb) convert this snake-poison into Madhu or Amṛta. Then the Ṛṣi mentions the Kapiñjali bird and 21 other species of the birds who easily eat the poisonous flowers and digest it. They never die of it.

Triḥ sapt Viṣpuliṅgakā

Viṣasya Puṣyamakṣan

Taścinnu na maranti — Ṛgveda 1.191.12.

Twenty one species of the peacocks, who keep away the fatal effect of poison, are also available in the Himālayan region. The Ṛṣi advises to kill the poisonous insects, what so ever it may be :

Iyattakaḥ Kuṣumbhakas

Takam bhinadmi aśmanā — Ṛgveda 1.191.15.

In the Hiraṇyagarbha - Sūkta of the Ṛgveda (10.121) the great mountain Himavān has been portrayed as glorifying instrument of the Hiraṇyagarbha (the creator) 'Yasyeme himavanto manitvā'[3] (10.121.4). These mountain-peaks, along with the trees on them, help the coolwind in blowing smoothly and favourably :

'Sam prerate anu vātasya viṣthā.[4]

Concept of Nationality & Global Peace

The concept of nationality occurs for the first time, in the pṛthvi-sūkta (Atharva-Veda, Chapter XII) where the motherland has been remarkably personified as 'Mātā bhūmih putro aham pṛthivyāḥ' (Earth is the mother and I am the son of Earth) Here the Ṛṣi says -

'O mother Earth ! thy hills, thy snowy mountains and thy forests be auspicious' - Pṛthvisūkta, 11.

Nānā virya Oṣadhiryā bibharti

Pṛthivī naḥ prathatām rādhyatām naḥ (mantra 2nd) who bears the plants endowed with many varied powers may (she) the Earth spread wide for us and make us prosperous.[5]

The concept of global peace and sweetness of each and every object has been expressed through the Himālayan environment. May the wind blow sweet, may the rivers carry on sweet waters. May the herbal plants be sweet. May the night provide sweetness. May the dawns bring sweetness. May the earth and sky as well as the cosmos shower sweetness. The trees, the forests, the sun and the cows be sweet for us.

Madhu vātā ṛtāyate, Madhu Kṣaranti Sindhavaḥ.

Mādhvīrnaḥ santvoṣadhīḥ.

Madhumānno vanaspatiḥ, Madhumānastu Sūryaḥ.

Mādhvīrgāvo bhavantu naḥ. — Ṛgveda 1.90.6 & 8

From the times immemorial, the greater Himālaya stands for the protection and well being of India. This mysterious lofty mountain interrupts the path of the monsoon clouds and compels them to rain incessantly. It further creates environmental harmony through its everchanging seasons and other atmospheric specialities.

According to vedic evidence the structure of this world is purely Nature-oriented. 'Soma-Sūryātmakam Jagat' i.e. the world is an outcome of Soma (the moon) and Sūrya (the sun) On physical ground it may be said that the world-creation is nothing except the synthesis of water and fire. Thus the vedic hypothesis proves true and scientific, since the energy can't be generated without cooperation of fire and water. Now, this soma-sūryātmaka sṛṣṭi (creation) expands itself in macrocosm which again is transformed into environmental entities like mountains, rivers, forests, clouds, mists, rains and so on, so forth. In the Puruṣa Sūkta we find an elaborate description of this divine creation.

Nābhyā āsīdantarikṣam

Śīrṣṇoḥ dyauḥ samavartata.

Padbhyām bhūmiḥ diśaḥ śrotrāt

tathā lokān akalpayan. — Ṛgveda 10.90.14

Divinity of Environment

Thus the whole environment bears divinity because of the divine origin of the world. That is why in Indian tradition the mountains are considered to be the abode of gods. Gaṅgā and other holy rivers are the source of sinlessness and salvation. The tulasī, banana, neema, peepal and mango trees are also worshipped because of their intrinisic relation with some deity or planet. Divinity is the perpetual feature of the environment in which we are surviving.

This unique vision of our ancient Ṛṣis can be evidently condensed in one Araṇyānī Sūkta (Ṛgveda 10.146) dedicated to the forests, being presented in a living form. This forest is just like an affectionate mother to the farmers and wild creatures. The farmers and villagers are always benefitted by the forest because they get flowers, fruits, burning woods, honey, vegetables and building materials. Likewise, the wild animals are protected and nourished by the forests.[6]

The seer of the Araṇyānī Sūkta feels much intimacy with the forest and also enjoys the soothing musical notes of the birds, living in the premises of it. Thus the environment of the forest seems to be attuned with human life.

Humanist Feature of Environment

Earlier, I have discussed the Himālayan herbage in brief. Here I would like to add something more. For Vedic Ṛṣis these herbs are just like a loving mother. An affectionate mother can not see her issue die. Therefore, the ṛṣi, invoking the herbal plant, submits :

O my mother (herbal plant) you own boundless capacity, hundred and thousand in number. Kindly cure me and be gracious to the ailing beings.

'Śatam vo amba dhāmani sahasramuta vo ruhaḥ

Adha śatakratvo yūyamimam me agadam kṛta — Ṛgveda 10.97.2

Bṛhaspati (Jupiter) has been ascribed as the inventor of these herbal plants.[7] Soma (moon) is their ruler.[8]

Thus the whole nature is full of sensibility and vitality. It experiences the happiness and sorrow. It benefits the human beings not as a senseless object of the phenomena but as an extremely sensitive family member. Environment has been the inseparable part of our life. When we dedicate our obeisances to river, to mountain, to tree, to rising sun and moon, we undoubtedly accept them part and parcel of our life. Naked bath in the holy rivers has been prohibited. Fire must not be touched with feet. Stool must not be discharged on the hill - tops and mountains. Urine must not be discharged in standing position. Such directives are available in the Vedas and its tributary shāstras like Manusmṛti etc.

Depiction of Environment in Classical Sanskṛta Poetry

This aforesaid Vedic background of the Himalayan environment has been well developed in a better way in the classical sanskṛta poetry. The great Sanskṛta poets Vālmīki, Vyāsa and Kālidāsa have presented Himālaya in a gigantic living form. In his world-famous Mahakāvya namely Kumārasambhavam, Kālidāsa attributed this mountain as 'Devatātmā'. This poem begins with the minute observation of the Himālaya, being stretched from eastern to the western ocean just like a measuring club.

Astyuttarasyām diśi devatātmā

Himālayo nāma nagādhirājaḥ

Purvāparau toyanidhī vagahya

Sthitaḥ pṛthivyā iva mānadaṇdaḥ — Kumāra. 1.1.

Kālidāsa presents an enchanting narration of the Himālayan region. This mountain, fully covered with thick layers of snow, produces countless precious stones.[9] The hovering clouds always make its peaks invisible and outburst violently with incessant rains.[10] The wild elephants, rubbing their temples on the cheed trees (Sarala Drumas) damage their barks. Consequent upon this the intoxicating fragrance spreads over every where.[11] The poet describes the herbal plants of Himālaya, generating light like a lamp in the night:

Bhawanti Yatrauṣadhayo rajanyām

Atailapūrāḥ suratapradīpāḥ. — Kumāra 1.10.

The thick clouds cover the mouth of the caves and look like a curtain.[12] The breeze being cooled by the showers of the holy river Bhāgīrathī, trembles the Devadāru trees and scatters over the tails of peacocks. Such Himālayan breeze is being enjoyed by the deer-hunter Kirātas.[13] The rolling down sun unfolds the petals of the Himālayan lotus-flowers through its rising rays.[14]

The brief account of the Himālayan environment presented by the great poet Kālidāsa, although literary in character, seems to be real, self experienced, everlasting and relevant even today. Right from the dawn of the Indian culture this territory has been called the divine land i.e. Devabhūmi. An elaborate and exhaustive narration of the Himālayan region can be had in the vast Purāṇic literature. It has been the sacred shelter of the divine races like Yakṣasas, Rākṣasas, Gāndharvas, Kinnaras, Vidyādharas, Siddhas, Chāraṇas, Pitaras and Apsaras. The identity of these divine communities is still to be established and recognized. The grand summits of this mountain like Indrakīla, Gandhamādana, Kailāśa and Surabhikandara often mentioned in purāṇic legends are still situated in the Himālayan region.

Thus the Himālaya, along with its natural wealth, phenomenal peculiarities, environmental values and mythological significance proves to be identical with India. Several mysteries are still hidden in this great mountain. I think, it is a proper time to evaluate the manifold values of the Himālayan region, stretching 1500

K.Ms from Kaśhmīr to Nāgāland. It is a great challenge to the modern Geographers to study Himālaya with a new out look so that its Vedic, Purāṇic and classical literary accounts could be assessed.

Environment and Human Life

Environment has been the inseparable part of the human life in India. In its background we find a long history, which has gradually developed through political regimes and cultural eras. The kingships changed time to time. The boundaries of the kingdoms also spread up to the extreme extent or diminished. But the relation between environment and human society remained unchanged. On the other hand it was strengthened more and more under the clutches of foreign sovereignty in order to save the indigenous culture and character.

The Aśvaśāstra of Nakula is an authentic work on the horse-science. It is really a great science. We can know the future events very easily, good or bad, through the actions of a horse. All these have been ellucidated in this great treatise. To see the mongoose in journey was considered auspicious. Contrary to it, the overlapping of path by a cat, specially from right to left side, was considered the worst omen. The thorn of a porcupine could start a furious quarrel in any house. The sparrow - nestles in house could forecast the coming of a new child. The cries of a crow or the hovering of a kite over the courtyard were certain evidences of the arrival of the most loving and long awaited guest.

Each and everything, mentioned above, has been described in detail in our Sāmudrika śāstras, Aśvaśāstra, Gajaśāstra and other monumental works. To conclude the subject we can steadily say that in India just like the composite culture, composite religion, composite literature and composite social customs, we have a composite life also in which the human beings, the animals, the birds and the herbal beings live together as intimate friends.

REFERENCES & NOTES

1. See. Ṛgveda 2.12.3, 2.12.12 and its commentary by Ācarya Sāyaṇa : Gaṅgādyāḥ Sapta Mukhyāḥ Nadīḥ Asṛjat.
2. Ṛgveda 1.191.3.
3. His are these snowy hills - Peter peterson.
4. Vāta Sūkta 10.168.2
5. Translation by Dr. B.B. Chaube. The New Vedic Selection, Part I, Vārāṇasī 1972.
6. See Ṛgveda 10.146.1, 2, 3 & 6.
7. Bṛhaspatiprasūta asyai sandatta vīryam
8. Yā Osadhīḥ somarājnīh
9. Kumārasambhava 1.3
10. Ibid 1-5
11. Ibid 1-9.
12. Ibid 1.14
13. Bhāgirathīnirjharaśīkarāṇām Vodhā muhuḥ kampita devadāruḥ
    Yadvāyuranviṣṭamṛgaiḥ kirātairāsevyate bhinna śikhaṇḍibarhaḥ.
14. Ibid 1-16.

Sacrifice and Environment in Vedic Literature

Dr. Yajan Veer Dahiya

The sacrifice is a part and parcel of the Vedic literature. In fact, it is a basis of the human life. Everything of a vedic seer is abounding in sacrifice. This may very well be understood through the perception of a vedic seer himself. He makes an observation.[1] Another seer mentions.[2]

It is not enough but the Atharvaveda proclaims to human-beings to perform sacrifices, season-wise daily, monthly and yearly, so that the seasonal deities may be stimulated to get their favour and the environment upto the mark for human-beings.[3]

Keeping in view the importance of sacrifice śatapath Brāhmaṇa proposes.[4] It means the sacrifice is the most noble act which keeps the human values and purify the environment as a whole. It signifies the worship of all the deities concerning terrestrial, celestial and spiritual. The ritual makes the whole environment free from desease. The concept of sacrifice is to augment the power of natural elements existing in the terrestrial and celestial sphere. The self-accomplishment evolved out of the ideas of worshipping deities; and doing the science of Mantras; to perform the various duties concerned with the compartmentalised life of an individual in the society; and to perform symbolic rituals for the exposition of the vedic thought evolved out of the tendency of worshipping the ritual deities. The offering made in kind to the living-beings those are around us, gave rise to other forms of sacrifice. The sacrifice in a form of environment creates a new thing out of the combination or mixture of two or more things which ultimately signifies the technological development and advancement of various forms of sacrifice. Thus the sacrifice is evolved to attain accomplishment in various spheres of life in the form of values. The sacrifice is used as a strong and effective tool to bring the desired changes in the natural phenomena or weather modification like the change of the air-flow in terms of direction and speed, formation of clouds, seeding supercooled clouds, rain making whenever and where ever, so desired, preventing undesired rains control of pollution and prevention of various diseases of men, animals and plants. Thus, it keeps the environment free from the enemies of life-being.

Now the questions arise as what are the basic principles underlying the science of sacrifice ? How does it matter in environment modification, pollution control and prevention of diseases ? Before to get an answer to all these questions, it is necessary to understand the actual process of sacrifice as depicted in the vedic literature. Normally, a sacrifice consists of three elements : (a) fire (b) an offering material (c) and the deity to whom the material is offered. Kātyāyan śrauta-sūtra proposes regarding the sacrifice in the following term.[5] The sacrifice is offering the specific material to the specific targetted deity by means of fire. Thus all the above mentioned elements, viz. fire, offering material and a deity are included in the aforesaid definition

---

Professor & Head, Dept. of Sanskrit, Pali & Prakrit, Dean Faculty of Humanities, M.D. University, Rohtak, Haryana

of sacrifice. This is what is the actual meaning, purport and propose of the sacrifice form of the vedic sacrifice. All the three elements play a vital and crucial role in the proper prosecution of sacrifice in the other words environment mechanism of the vedic literature.

The environment contains a great impact on the physical body. In other words there is a close similarity between an organic whole and the organisation of the universal whole. This similarity is also known as the similarity of individual's body to the universal body. Just as the universe is a composition of five i.e. gross elements, so is an organic body composed of these five elements. These elements are supposed to exist in the organic body or universe in a balanced or organised manner or ratio. As long as this balance or organisation is maintained, the organic body survive and the nature takes its normal course, but the imbalance or disorganisation of elements disturbs the normal course of bodies and nature as well and ultimately leads to their destruction or end. Just as the environmental factor i.e. **air, fire and water** are the dominant factors in the operation of the universe.

Since air effected as caused by sky, it can not exist without sky. Where there is sky there is air and where there is air, there is touch as well as sound. It got a thermal state or say a thick gas marked with a colour. Its own property is Appearance, due to which it become visible. In addition, sound and touch are inherited from the sky and air. Since the fire owes it's effect to air it can not exist without air. Where there is fire, there is air and where there is no air, there can not be the fire. The elements of air, viz. oxyzen, which is helpful in burning, and hydrogen, which has a burning characteristic are the main factors in the origin of fire.[6] The fire gave effect to waters. It had its own property as taste and the sound, touch and colour were inherited from either, air and fire respectively. It occupied a liquid state. It was caused by fire, hence it is composed of the fire agents, viz. oxygen and hydrogen. The earth arose from waters. It was still grosser than waters, hence got a solid form. It is an outcome of waters, hence still sustained by waters. In fact all these gross elements are responsible for environment, which are perfectly dealt by the seers of vedic literature.

Diety of vedic literature is the name of a natural element or sub-element existing in various zones of environment. Actually, देवता is the देव itself; देव इव देवता since like that of देव it also helps the existence and regulation of life on the earth by providing some necessity or other. According to the यास्क an ancient Indian etymologist,[8] they are called deities, since (a) either they provide us with some necessities of life or help the existence of life cycle on the earth, e.g. the sun provides us with the light and sun-shine, the मित्र Oxyzen, इन्द्र lighting, सोम coldness and humidity in the environment, मरुत् air, वरुण hotness and dryness, पर्जन्य clouds, अभ्र super-cooled clouds, परुरवा thundering clouds रुद्र thunder storms, अदिति vaporisation of terristrial waters and other aqueous substances into the upper layers of environment etc. (b) or since some of them are luminory bodies (c) or since some of them are celestial bodies or they have their abode in the firmament (dyuloka). Actually, each natural phenomenon is considered to be the function of some unforseen natural powers, which controls the environment, and hence each one i.e. natural phenomenon is associated with some foster deity. Before a natural phenomenon materializes, several other functions are required to work out. This diversity or variety of functions in a natural phenomenon led to the diverse naming of the one and the same diety. यास्क also proclaims[9] शौनक relates[10] this fact also.[11]

These deities have been numbered sometimes 33, sometimes 3300, sometimes 33 lakh and sometimes 33 crore, from the view point of their various functions and powers. The whole environment has been divided into three zones in the vedic literature, namely terrestrial sphere, midsphere and celestial sphere. The whole environment abode by some gross element or other and governed by a presiding diety and several others as

subordinate deities. Terrestrial sphere is the main abode of solid and liquid matters such as earth and water and is governed by fire (अग्नि) as presiding deity and जातवेदस्, वैश्वानर, द्रविनौदा, तनुनपात्, नाराशंस, वृषभ etc. as subordinate deities. यास्क bears out the same fact.[12] cf. also[13], cf. also[14]

The midsphere is the abode of gaseous elements, such as air and water vapours. It is governed by इन्द्र and वायु as presiding deities and पर्जन्य, रुद्र, बृहस्पति, अपानपात्, पुरुरवा, अदिति, त्वष्टा, सविता, वात, वाचस्पति, सोम, मरुत्, अंगिरस, ऋभु, मित्र etc. as subordinate deities[15], and also[16]. These are the principal deities. And for subordinate deities.[17]. The celestial sphere is the main abode of thermal elements and is dominated by सूर्य as a presiding deity and अश्विनौ, वृषाकपायी, सूर्या, ऊषा, पूषा, वृषाकपि, यम, विष्णु, आदित्य, वरुण etc. as subordinate deities. For principal deities[18] cf. also[19] and for subordinate deities[20] cf. also [21]. Thus, it is clear from the above discussion that the vedic deities perform great role regarding the environment and its values in vedic literature.

An offering material is a particular type of selected material qualified to augment the material power or energy of the respective deity, it is meant for. This particular type of offering material when released to the sacrificial fire is taken up by it in conjunction with the air in its gaseous form through its column established with the help of the gravitational force of celestial fire to the targetted deity in the upper layers of the environment. There it mixes-up with the targetted deity and thus remedies the deficient potential or say augments the power and property of the targetted deity by tens of thousands times in its environmental zone. The vedic literature proclaims that the offering of a particular substance is capable of augmenting the power and property of a particular concerned deity and not of all the deities.[22] From the view of this statement of Śatpatha Brāhmaṇa it is evident that the vedic deities play a greater role in keeping the environment clean and safe.

Deity is the name of a standard element or sub-element abiding in the midsphere or celestial sphere to whom the material is offered with the help of the sacrificial fire and the same spread in the air in the form of the smoke. This smoke is not an ordinary smoke but a special smoke which come out with the mixture of butter oil, some branches of special trees and material which is made out by some Āyurvedic medicines. When such type of smoke spread in the air then it purify the whole of the environment. Thus, the sacrifice boost the power and potential energy to all the life-being. The same thing is proclaimed by the Vedic seer.[23]

Perhaps owing to the same characteristics of sacrifice, the vedic literature has explicitly mentioned to strengthen the essence or potential energy of each and every deity with the help of sacrifice for the prosperity and well being of the planet and planetary life.[24]

It is evident from the above facts that the vedic literature is having the mature treatement of the environmental values.

Fire plays most important role to keep environment upto the mark. The terrestrial fire which is the representative form of the celestial fire has been attached a great importance among the three elements of sacrifice. As the Ṛ V. put it.[25]

Agni should be brought first in the sacrifices. Yāska also by way of etymolizing expresses similar view regarding Agni.[26] Agni is what is brought first in the sacrifices.

The Ṛgveda at the very out set calls Agni as the leader of the sacrifice phenomenon.[27]

This characteristic of Agni has been extolled at several other places in the vedic literature.[28]

Thus, from the quotations quoted just above, it is explicit that Agni plays a most important role in performing the sacrifices and sacrifice is the only way out which keeps the environment clean & free from the diseases. Sacrifice purifies the air and purified air when breathed by the life-being, it becomes medicine and removes all the diseases what so ever. In this way the sacrifice makes the environment perfect for the universe. Right from the very beginning the sacrifice in vedic literature was considered to be a strong and effective tool to get hold over the whole environment. Thus, the sacrifice changes the weather, controls the air pollution, prevents the deluges, droughts, storms and diseases. All these things are part of the environment. Therefore, the treatment of environment in the vedic literature is perfectly alright and keeps the high standard and values.

References & Notes

1. Ṛgveda I. 164.50
2. Ṛgveda III 32.12
3. Ạtharvaveda III 10.9
4. Śatpath Brāhmaṇa I. 7.15
5. Kātyāyan Śrauta sūtra I. 2.5.
6. Tait. Upaniṣad Brahmavallī Ist Anuvāk
7. Tait. Upaniṣad Brahmavallī Ist Anuvāk.
8. Nirukta II. 1.
9. Nirukta II. 2.
10. Bṛhad Devatā I. 70
11. Bṛhad Devatā I. 71
12. Nirukta VII 5.
13. Bṛhad Devatā I. 73
14. Bṛhad Āraṇyaka I. 105
15. Nirukta VII 5
16. Bṛhad Devatā I. 73
17. Nirukta VII 10.
18. Nirukta VII 5.
19. Bṛhad Devatā II. 7.
20. Nirukta VII 10.
21. Bṛhad Devatā II 8-II. 16
22. Śatpath Brāhmaṇa II 1.2.5
23. Ṛgveda III 32.12
24. VS. Saṁ. XXVIII 44, TB II 6. 20.1
    Ṛv. I 26.6, SV II 9.68; ṚV. VIII 27.13, VS XXXIII .91
25. Ṛgveda VIII 23.22
26. Nirukta II. 1.
27. ṚV. I. 1.1.
28. Ṛv. V 11.2, SV 909, TS IV 4.3

Environmental Consciousness in Ancient India

Dr. D.P. Dubey

The ecological crisis of today is due to man's unlimited desires, greed, ignorance, and material approach to life. The modern generation appears to be either indifferent to the age-old religious preachings, cultural traditions and ethical values, or completely disillusioned with and even mistrustful of them. Consequently, the exhortations, ethical guidelines and religious duties, particularly those which emphasise man's moral obligations not only to fellow-man but also to the rest of God's creation, are simply disregarded. The haphazard exploitation of the nature in India, mostly during the twentieth century, has continued despite the religious injunctions emanating from Hindūism as well as from Buddhism and Jainism. This baffles us, specially when all the Hindū scriptures have very clearly laid down the rationals for practising conservation of the nature and maintaining environmental harmony, and have prescribed religious sanctions against the indiscriminate use of the nature and exploitation of animals or other species. This paper intends to enquire into the Hindu scriptures with a view to glean out the Hindū concept of nature, examine what is said in the scriptures about protection of nature and sanctions against polluting the environment, discuss the background which led to the decay of those ideals and the emergence of environmental crisis in India.

''In the beginning there was the self alone, in the form of a Man looking around,. He saw nothing whatever except himself. He found no joy; so even today, one who is all alone finds no joy. He yearned for a second. He became as large as a man and a woman locked in close embrace. He caused that self to split into two; hence arose a husband and a wife.... He copulated with her and thence were born human beings.... [Later when she acquired the form of several animals, he followed her, and] In this way, he created everything that exists in pair, down to the ants. He realized : 'I indeed am creation, for I produced all this.' Thence arose creation.''

—Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, IV. 1-5.

This Upaniṣadic passage clearly lays down the rule that no species is superior to another because all have been created by the same self. On the other hand, man is particularly obliged to be the protector and guardian of all the creation. This point is clearly emphasised in another Upaniṣad :

''In the beginning there was self alone.. He thought to himself, 'Let me now create the world'. He created the worlds of water, rays of light, etc. ... He thought (again) to himself : 'Let me now create the protectors of the world'. He raised a man from the waters and gave a form to him.''

—Aitareya Upaniṣad, 1.1.1-3.

Lecturer, Dept. of Ancient History, Culture & Archaeology, University of Allahabad, Allahabad

The man, according to the Upaniṣads, is not given an absolute right and authority over any of the God's creation. The same emphasis is strengthened in the epics - **Rāmāyaṇa** and **Mahābhārata.** Both the epics exhort human beings to live in harmony and peace with the nature and other species. Various stories abound in the Purāṇas about the protection of the nature, and about the need to live in harmony with God's creation.

Hindūs rever the earth; only it has the capability of bearing akin to mothers who bear children. That is why Hindūs call - माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (The earth is our mother; and we are its children). This view is substantiated in the **Atharvaveda** (12.1.3, 27) where earth has been given a respected place in prayers :

"The earth which possesses oceans, rivers, and other bodies of water, and which gives us land to produce foodgrains on which human beings depend for their survival, continues to possess these for all of us. We pray to the earth which bears trees, plants and medicinal herbs, and protects them."

It is said in the **Mahābhārata** that all human beings acquire from the earth such characteristics as रस, रूप, गन्ध, स्पर्श and शब्द ; hence our relationship to it is more eternal and maternal as one acquires many attributes from his mother.

गन्धः स्पर्शो रसो रूपं शब्दश्चात्र गुणाः स्मृताः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तराभिहितान् गुणान् ।।
इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरः कटुरेव च ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ।।
एवं नवविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्धविस्तरः ।
ज्योतिः पश्यति चक्षुर्भ्यां स्पर्शं वेत्ति च वायुना ।।

Mahābhārata, Śāntiparva, 184.27-29.

Such an example of reverence for the earth is unparalleled in other cultures. Thus, Hindus are expected to show proper respect not only to mother earth but also adequate regard to all things produced by it. While offering prayer to goddess Durgā, it is said that so long as the earth has mountains, forests, tress, etc. human race will survive :

यावद् भूमण्डलं धत्ते सशैलवनकाननम् ।
तावत्तिष्ठन्ति मेदिन्यां सन्ततिः पुत्र पौत्रिकी ।।

The importance of other basic elements has also been demonstrated. Regarding water, it is stated in the **Mahābhārata** (Mokṣa, 183.2-4) that "the creator first produced water for the maintenance of life among human beings. That water enriches life and its absence destroys all creatures and plant life." Water is also considered a duty and it is accorded the same status akin to earth. In the Ṛgveda (VII. 49.2) prayer is offered to water : "The waters in the sky, the waters of the rivers, and waters in well whose source is ocean, may all these sacred waters protect me". It should be noted that Hindūs consider water as sacred because it is needed in all religious ceremonies. It is also thought to be a source of energy as well as powerful media for purification. Hindūs are therefore enjoined from polluting any body of water. Another element is air. It is said in the **Manusmṛti** (3.77) that life of all creatures depends upon air :

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।।

Fire, the third basic element, is supposed to provide a link between nature and human beings and is therefore worshipped as a deity. The last element ether or sky is also given a place of worship. It is a cause for the creation of air as well as fire. It is believed to be one of the gods who can bring peace and can be the cause of welfare of creation. When one views these basic elements in a metaphysical sense, one finds these are but one. The **Yajurveda** (XXXVI. 19) says, "May there be peace in the celestial region, may there be peace in the atmosphere, may peace reign on earth, may the waters be soothing, may the medicinal herbs be healing, may the plants be source of peace to all."

Hindū view of nature and ecology is enormously effected by the theory of creation as enumerated in the sacred texts which we have just discussed in order to bring out that every element, object and creature of the universe is created by the same supreme being but without the dominance of man on the nature. Now, we will examine why Indians are supposed to pay respect to and protect trees, plants, animals and birds and what consequences will befall if one pollutes the environment. The importance of trees, their plantation, nourishment and preservation and their benefits to the community have been mentioned in the ancient texts. The significance of trees in human life is stated in the **Varāha Purāṇa** (172.39) which advocates for regular plantation (*Vṛkṣāropaṇa*) as a means of achieving heaven : "One who plants one pipala, one nima, one vata, ten flowering plants or creepers, two pomegranates, two oranges and five mango trees, does not go to hell." It is because of the importance of trees for human welfare that various trees and plants are not only worshipped among Hindūs but cutting green trees or causing undue harm to them has been prevented and punishment has been prescribed.

In the **Skanda Purāṇa** a long list of trees is given which should not be cut. In the **Bhāgavata Purāṇa** (XI.ii. 41-43) it is clearly stated that a man who "with exclusive devotion offers respect to the sky, water, earth, heavenly bodies, living beings, cardinal points, trees, rivers, seas and all created beings, and considers them as a part of the body of the Lord ... attains the state of supreme peace and God's grace."

There are various stories regarding the peaceful co-existence of beasts and animals in the hermitages. A wounded animal or bird should be given shelter and cared for like an ailing human being. It is said that the poet Vālmīki had the inspiration of writing the immortal Epic when he saw a wounded Krauñca bird. In addition to caring and feeding, killing of birds and animals was strictly prohibited by the ancient texts. In the **Yajurveda** (XIII. 47) it is said : "No person should kill animals helpful to all and by serving them should obtain happiness." In the **Narasiṁha Purāṇa** (XIII. 43) it is said that roasting a bird for the purpose of eating is sinful :

पक्षी दग्धः सुदुर्बुद्धे पापात्मन् साम्प्रतं वृथा ।
वृथा स्नानं वृथा तीर्थं वृथा जप्तं वृथा हुतम् ।।

As a matter of fact, one of the Hindū deities, Dattātreya, has been considered as the patron - saint of ecology - environment; he is acknowledged as the protector of environment.

Our ancient texts mention the problem of controlling pollution vividly. In the **Viṣṇu Smṛti** (XXIII. 38-46) the nature's role in controlling pollution and crisis in the environment is elaborated. It says : "Pollution which comes from the animals and human beings is cured by the moon, sun and air. The water

polluted on roads and touched by dogs and crows could be cured by air. The polluted body of a person is cured by soil and water. If the water of the well has become dirty, it can be cured by burning fire. Same way, water of ponds can also be purified by burning of fire.''

In ancient India expertise developed to determine the kind of pollution and get rid of it. The **Caraka Saṁhitā** mentions the cure of diseases by naturopathy. It states (*Vimānasthāna*, 3.2) :

''It seems that all stars, planets, moon, sun, air, fire, nature or directions have been polluted. Seasons also appear to work against the nature. Earth inspite of being full of its virtues has lost its *rasa* in all medicinal plants. Medicinal plants are without original qualities and have been polluted. When such pollution will occur human beings will suffer from diseases. Due to pollution of seasons, several types of diseases will crop up and they will ruin the country. Therefore, collect the medicinal plants before the beginning of terrible diseases and change in the nature of earth.''

When Caraka said about pollution (*Vikṛti*) and diseases, he wanted people to be alert from side effects of seasons, foul air and polluted water, etc. The topic of pollution has also been discussed in the Upaniṣads. In the **Śvetāśvatara Upaniṣad** (II.12) balance of 5 elements - earth, water, light, air and ether - have been considered essential for survival of the body. The **Taitirīya Āraṇyaka** (V. 101) prescribes the morals and ethics of conduct for welfare. It says that 'one should not cause urine and latrine in water, should not spit in water and should not take bath without clothes.' The **Manusmṛti** (IV. 50) has also advised that 'one should not cause urine, stool and cough in the water. Anything which is mixed with these unpious objects, blood and poison should not be thrown into water'.

Flora and fauna of a country have a direct relation with the well-being of society. Indian society had been very much aware of this fact. They knew that indiscriminate destruction of plants and trees would result in diseases and pollution in the nature. The ancient texts are full of examples which prove the Indian's alertness against environmental crisis. The **Caraka Saṁhitā**, for example, treats the destruction of forests to be the cause of ruining the state. It says (*Vimānasthāna*, 3.11) :

''The destruction of forests is most dangerous for the nation and human beings. *Vanaspati* has direct relationship with the well-being of the society. Due to the pollution of natural environment and the destruction of flora, many diseases crop up to ruin the nation.''

People were advised to treat trees and plants as sons. The **Mahābhārata** (Śānti, 18.15.17) clearly states that 'trees and plants are also living beings. They have senses, they feel happiness and sorrow and have a sense of taste as well'. This illustrates the botanical expertise of ancient Indian thinkers long ago the discovery of Bose.

The ancient thinkers were therefore very strict to a person who caused pollution. For such unsocial activities punishment was also prescribed. In the **Arthaśāstra** of Kautilya, punishments prescribed show that the ancient Indian society did not even consider it proper to throw dust on a public path. The text (*Nāgarika*, 56.36-56) says .:

''Punishment of 1/8 *paṇa* (coin) should be awarded to those who throw dust on the roads. For muddy water one fourth *paṇa* ; if both are thrown the punishment should be double. If latrine is thrown or caused near a temple, well or pond, holy site or Govt. buildings, the punishment should increase gradually by one *paṇa* in each case. For urine, the punishment should be only half *paṇa*.

The text (56.36.56) has also prescribed various punishment for killing of animals, birds, fishes, deer, etc., which shows the attitude of administration towards all creaturess :

"The officer incharge should punish by 1000 *paṇas* those who are found guilty for killing deer, animals, birds and fishes declared not to be killed by the king. Those who kill fishes and birds, who do not attack the killer, should be fined by quarter to 27 *paṇas*".

The **Yājñavalkya Smriti** (*Vyavahāra*, 227) says that cutting of trees was a punishable offence and a punishment for 20 to 80 *paṇas* was also prescribed. It states that if a person cuts the branches of trees full of green leaves, stem or the whole of it and if that is not the source of his livelihood, he should be punished for 20, 40 or 80 *paṇas* :

प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे ।
उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दमः ॥

Similar prohibitions were announced by some ancient Indian kings. Ashoka in his pillar Edict VII prescribed various financial punishments for killing of animals which include even ants, squirrels and rats as well. He even says, "Husk should not be set on fire. Forests should not be burnt." And he declares "uptil now, having been 26 years, I have ordered for 25 jail deliveries, i.e. granting of freedom to offenders from punishment."

Thus, we may find in the ancient Indian texts a detailed and scientific description of flora and fauna, causes of pollution and necessary efforts to overcome it. Ancient Indians have been inquisitive, active and progressive and our ancient scriptures are still the best examples of early environmental protection messages. In fact, protection of the environment has been an important aspect of Indian way of life. The reasons behind the present state of environmental crisis, therefore, may be suggested as follows :

(1) The ancient educational system which preached the value of nature and the reason for its preservation is no longer available,

(2) The major deterioration in ancient Indian ideals resulted during the middle and modern ages when followers of Islam and Christianity invaded the country and established their cultural and political hegemony which perpetrated a systematic cultural genocide, and

(3) post-modern emphasis on progress has been very much attracted towards the western way of thinking. The twentieth century race of so-called advancement in science and technology and exploitation of natural resources did not leave Indians unaffected.

What is now needed in India is a development of environmental ethics based on the rich cultural tradition of the country. We should highlight the message of the scriptures which stress that human beings and other creatures as well as ecology are part of the same eternal source. This point, elaborated in the **Skanda Purāṇa** (IV. 58.110) needs to be popularised : "It is most strange that people wish for heaven by cutting trees, killing animals, causing the blood to flow and burning grain, etc. in fire" :

वृक्षांश्छित्वा पशून् हात्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
दग्ध्वा वह्नौ तिलाज्यादि चित्रं स्वर्गोऽभिलष्यते ॥

यज्ञ एवं पर्यावरण

डॉ० दुर्गाप्रसाद मिश्र

वर्तमान युग में समृद्धि तथा प्रभुत्व की प्रबल इच्छा से किये जा रहे विज्ञान परक परीक्षण तथा अनुसन्धान काल सर्प बन रहे हैं, प्रकृति के वशीकरण का प्रयास आज मानवता को पञ्च-तत्वों में लीन करने को तत्पर है, पोषक वायु परीक्षणों से विषाक्त होकर आज शोषक बन गई हैं, अमृततुल्य जल प्रदूषित होकर विष बन गया है, आग्नेय किरणें ओजोन परत को लाँघकर दावानल बन रही हैं, प्राकृतिक सन्तुलनकारी वन निर्ममता से उजाड़े जाने पर आज भयानक मरुस्थल हो रहे हैं, कलयंत्रों से दोहन की गई वसुन्धरा बाँझ हो रही है, रेडियोधर्मी किरणों के समक्ष असहाय, कलकारखानों की विषैली कार्बन गैसों व कीटनाशक रासायनिकों के कुप्रभाव से स्वयं गर्त में जाकर आज का विषण्ण मानव किंकर्तव्यविमूढ़ हो संग्राम को प्राप्त हो रहा है । आज उसे हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं, रीतिरिवाजों, धार्मिक या नैतिक कर्मों की ओर फिर देखने को विवश होना पड़ रहा है। विश्व के समस्त देशों के चिन्तक आज प्राकृतिक साधनों के क्षय तथा पर्यावरण असन्तुलन से चिन्तित हैं। सभी का मत है कि यदि मानवता को बचाना है तो वर्तमान दृष्टिकोणों में परिवर्तन करना होगा । इसी बिन्दु पर आकर हमारे वेद प्रासंगिक हो जाते हैं और विश्व की धरोहर बन जाते हैं।

'परितः आवृणोति' - प्राणिजगत् को सब ओर से आवरण देने वाले प्रकृति के अंग - पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु आदि पर्यावरण कहे जाते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में पर्यावरणभूत प्रकृति के आठ अंग माने गए हैं।[1] पर्यावरण के इन अंगों से मानव पूर्णतः बँधा है । यजुर्वेद स्पष्ट घोषणा करता है - 'तुम इससे उत्पन्न हुए हो, यदि तुम सुख चाहते हो तो ध्यान रखो कि यह तुमसे उत्पन्न होता है।'[2] पर्यावरण की इसी सन्तुलनावस्था के लिए वैदिक ऋषि संकल्प करता है - ''आयुर्यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनोयज्ञेन कल्पतां आत्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां।''[3]

यज्ञ शब्द यज् धातु से निष्पन्न है जिसके तीन अर्थ हैं - 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु', - देवपूजा, संगतिकरण, दान । प्रायः सभी प्रकार के यज्ञ - देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ, अश्वमेघयज्ञ में यज्ञ के सभी अर्थ समाविष्ट हैं। यज्ञ के प्रमुख पाँच अंग है - समिधा, गोधृत, पात्र, मंत्र तथा भावना।

समिधा - सर्वोत्तम समिधा गौ के गोबर का उपला है । ओषधिगुण हेतु चन्दन बरगद, गूलर, ढाक, पीपल, शमी, आम तथा बेल आदि की लकड़ियाँ ही प्रयोज्य हैं । चिकित्सा की दृष्टि से सारा विश्व गाय के गोबर का गुणगान करता है । क्योंकि इसमें मेन्थाल, अमोनिया, फिनाल, इन्डॉल, फार्मेलिन, नाइट्रोजन, फास्फोरिक अम्ल तथा पोटाश पाया जाता है ।[4] इटली के वैज्ञानिक डॉ० बिगेड की खोज है कि गाय के ताजे गोबर की गन्ध मात्र से ज्वर तथा मलेरिया के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं । गाय का गोबर विकिरण का रोधक है । अग्नि धृत आदि हव्य पदार्थ से प्रज्ञवलित होकर रोगकारक दोष का नाश करता है।[5]

रीडर, संस्कृत विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ

घृत : अग्निहोत्र में गोघृत का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि कस्तूरी, केसर, अगर-तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री, दूध, फल, कन्द, चावल, उड़द आदि पुष्टकारक, शक्कर, मधु, दाख आदि का विधान है तथापि गोघृत सर्वोपरि है। गोघृत में अभी तक ग्यारह अम्ल, बारह धातुएँ, दो लैक्टोजन तथा चार गैसीय पदार्थ होते हैं। मनुष्य कस्तूरी, केसर, कपूर अगर-तगर आदि हव्य पदार्थों का अग्नि में होम करके रोगजनक कृमियों का घर से नाश करे।[6]

पात्र : पात्र का यज्ञ में विशेष महत्त्व है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार हवन कुण्ड की ऊपरी सिरे की लम्बाई-चौड़ाई सोलह अंगुल, नीचे (पेंदी) की लम्बाई-चौड़ाई चार अंगुल तथा गहराई-सोलह अंगुल होती है । इसी अनुपात में छोटा या बड़ा पात्र होगा । सर्वाधिक उपयोगी पिरामिड आकार का पात्र माना गया है क्योंकि इसका एक विशेष प्रभाव होता है इसके अन्दर विद्युत चुम्बकीय शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं जो वस्तु को सड़ने गलने से रोकती है । ऐसे पात्र में यज्ञ करके वायुमण्डल शोधन के आश्चर्यजनक, परिणाम होंगे। धातुओं में सर्वोत्तम ताँबा धातु पात्र के लिए उपयुक्त मानी गई है।

मंत्र : नित्य तथा सामर्थ्यवान् शब्दों को ही मंत्र कहते हैं । मंत्रों में आए अग्नि, सूर्य, प्रजापति ईश्वर वाचक है और ईश्वरीय शक्ति के ही विविध तेज गुणों का वर्णन करते हैं। मंत्रोच्चारण से वर्ण एवं ध्वनि के कम्पन वातावरण में फैलते हैं । कम्पन से शक्ति निर्मित होती है । आज यही कम्पन गहराई नापने, संवेदनशील शल्य क्रिया (अल्ट्रा साउण्ड) का रूप ले चुका है।

भावना : यज्ञ में उच्च सात्त्विक भावना आवश्यक है । यज्ञ में स्वार्थ नहीं वरन् परमार्थ की भावना होनी चाहिए । अतः आहुति के बाद 'इदन्न मम' का उच्चारण करते हैं। दुर्भावनापूर्ण यज्ञ अभीष्ट की सिद्धि करने में असमर्थ रहता है । 'जो मनुष्य वैदिक रीति के विरुद्ध चलकर अग्निहोत्र, वेदाध्ययन आदि छल से करना चाहता है उसे उसकी इष्ट सिद्धि नहीं होती।'[7]

पर्यावरण के प्रसंग में वैदिक ऋषियों की दृष्टि में अग्नि का महत्त्व सर्वाधिक है। अग्नि समस्त प्राणियों की उसी प्रकार रक्षा करता है जिस प्रकार पिता पुत्र की रक्षा करता है ।[8] पर्यावरण शुद्धता में अग्नि का योगदान सर्वाधिक होने के कारण ही ऋषियों ने उसका नाम पावक रखा ।[9] पावमान विशेषण भी अग्नि के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।[10] अग्नि की इन्हीं विशेषताओं के कारण पर्यावरण की पूर्णशुद्धि की कामना की गई है।[11]

पारिवारिक सुख समृद्धि तथा सर्वविध वैभव का आधार पर्यावरण की शुद्धता है। अतः अग्नि को प्रज्ज्वलित कर (यज्ञ करके) उसके द्वारा इष्टापूर्त (कूप तडागादि सम्पत्ति) प्रजा, पशु, अन्न ब्रह्मवर्चस् आदि भोग पदार्थों की प्राप्ति की आशा की गई है।[12] यज्ञाग्नि से कृमियों का भी नाश होता है।[13]

आज पर्यावरण प्रदूषण की भयावह समस्या विश्व के सामने चुनौती के रूप में है। प्रदूषणों में जल प्रदूषण, वायुप्रदूषण, मृत्तिका प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण, रेडियो सक्रियता सम्बन्धी प्रदूषण तथा वैचारिक प्रदूषण प्रमुख हैं । इन समस्त प्रदूषणों से रक्षा का एक मात्र उपाय वैदिक नियमपालन तथा अग्निहोत्र है। प्रदूषण की इस भयावह विभीषिका से हमारे वैदिक ऋषि परिचित थे । इसी कारण मानव को अनेक सन्मार्ग बताए हैं। आदिस्रष्टा ने ही अग्नि, आदित्य, वायु, अंगिरा आदि ऋषियों के माध्यम से जो वेदज्ञान मानव-कल्याण के लिए दिया, उसमें यज्ञक्रिया का उपदेश दिया । ध्वनि-प्रदूषण के लिए ही वेदों में मौन का आदेश दिया गया —''उन्मादिता मौनयेन वार्ता आतस्थिमा वयम्।''[14]

यज्ञ का महत्त्व इसी बात से प्रमाणित हो जाता है कि प्राकृतिक चिकित्सा, रोगाणु गणनाङ्क ओषधि विज्ञान, मानसिक व्यापार, असाध्य रोग निवारण, दुर्व्यसन निवारण, स्मैक से मुक्ति, शराब से मुक्ति, बीजाङ्कुरण, उतम फसल प्राप्ति, आदि क्षेत्रों में वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके अद्भुत परिणाम प्राप्त किये हैं। लेख विस्तार के भय से इनके उदाहरण देना असम्भव है।

वस्तुतः स्थूल पर्यावरण प्रदूषण के पीछे वैचारिक प्रदूषण मुख्य कारण हुआ करता है । प्रदूषित विचार मानवहिंसा, वृक्षनाश, असंतुलित औद्योगीकरण, अत्यधिक भूदोहन, सांस्कृतिक बिखराब आदि का जनक हो रहा है । मानसिक प्रदूषण से बचने के लिए ही ऋषि ने कहा है -

''दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतं वदेत् वाचं, मनः पूतं समाचरेत् ।।''[15]

मानसिक प्रदूषण प्राकृतिक प्रदूषण से भी ज्यादा भयावह है इसी कारण वैदिक ऋषि ने विद्या बुद्धि की देवी सरस्वती को भी पवित्र करने वाली स्वीकार किया था।[16]

वस्तुतः यज्ञ एक विज्ञान है। ब्राह्मण ग्रन्थ इसका सूक्ष्म विवेचन करते हैं। यज्ञ से प्राण की शुद्धि होती है । 'स्वर्गकामो यजेत' कहकर यज्ञ को स्वर्ग प्राप्ति का साधन माना गया। यह यज्ञ विश्व शरीर का नाभि-रक्षण केन्द्र है ।[17] यज्ञ के बिना वर्चस्व नष्ट हो जाता है ।[18] यज्ञ के प्रयोगकर्ता सुख और समृद्धि की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेते हैं।[19] यज्ञ द्वारा आयु-स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है ।[20] वस्तुतः अग्निहोत्र स्वर्ग की नौका है ।[21] बिना यज्ञ के इस पृथ्वी पर ही मानव की स्थिति सम्भव नहीं फिर अन्यत्र की तो बात ही क्या ?[22] यज्ञ शेष का उपयोग सब क्लेशों को छुड़ाने वाला होता है।[23] वस्तुतः यह यज्ञ मानवीय कर्मठता का प्रतीक है।[24]

इस प्रकार स्पष्ट है कि पर्यावरण प्रदूषण मुक्त समाज की अवधारणा में यज्ञ का प्रमुख स्थान है । वैदिक ऋषियों ने भावी संकटों का अनुमान ही नहीं अपितु ज्ञान करके ही ब्रह्माण्ड के समग्र नौ अङ्गों की शान्ति का विधान किया है ।[25] साथ ही मधुर लोक जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है ।[26] अतः सकल लोक को पर्यावरण प्रदूषण मुक्त करके मधुमय सागर (विश्व-प्रेम) में अवगाहन कराना ही सच्चा यज्ञ है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
   अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। श्रीमद्भगवद्गीता 7/4
2. अस्मात् त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय। यजुर्वेद 35/22
3. यजुर्वेद 18/29 तथा 22/34
4. 'अग्निहोत्र' – मनोहर माधवजी पोतदार । इन्स्टीट्यूट फॉर स्टडीज़ इन वैदिक सांइसेज़ अक्कलकोट, महाराष्ट्र।
5. अथर्ववेद 13/1/28
6. अथर्ववेद 8/6/10
7. अथर्ववेद 12/5/56
8. स नः पितेव सूनवेऽ अग्ने सूपायनो भव। यजुर्वेद 3/24
9. पावकोऽ अस्मभ्यꣳ शिवो भव। यजु० 17/7
   अग्ने पावका रोचिषा०। वही 17/8
   स नः पावक दीदिवोऽग्ने०। 17/9
10. अग्नि ऋषि पावमानः पाञ्चजन्यः। ऋ० 9/66/20
    अजीजनो हि पावमानः। यजु० 22/18
11. यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा। यजु० 19/41
12. उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च। यजु० 15/54

13. अथर्व० 1/28/1-2
14. ऋग्वेद 10/36-3
15. मनुस्मृति 6/46
16. पावकाः नः सरस्वती वाजेभिर्वाजनीवती। यज्ञं वष्टुधियावसुः। यजु० 20/84
17. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। यजु० 23/62
18. अयज्ञियो हतवर्चा भवति। अथर्व 12/2/36
19. ईजाना स्वर्गं यन्ति। अथर्व 18/4/2
20. आयुर्यज्ञेन कल्पताम् - यजु० 18/29
21. नौर्हवा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम् - शतपथ ब्राह्मण।
22. नायं लोकोस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः - गीता 4/31
23. यज्ञशिष्टाशिनः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः। गीता 3/13
24. यज्ञः कर्मसमुद्भवः। गीता 3/14
25. द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। यजु० 36/17
26. मधु वाताऽ ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधी।। मधुद्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमान् अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। यजु० 13/27-29।

The Prāṇa-tattva in the Ṛgvedic Upaniṣads

Dr. M.I. Khan

The word 'PRĀṆA' is formed from प्र+अन् + घञ् and is taken in various senses like the breath of life, breath, respiration, spirit, vitality, etc. [1] According to the Chāndogya-Upaniṣad, prāṇa, in plural meaning the five organs of vitality or sensation, known as prāṇa, Vac, Cakṣus, Śrotra and manas.[2] But in the Upaniṣadic thought, in general, prāṇa is of a subtle form, not gross, though, it is taken to be the Saguṇa Brahma. It is a force of life and it actuates the body, living in any region of the world. In the Vedas, we find casually some words like Vācaspati,[3] Kali,[4] Venaḥ,[5] Asunītiḥ,[6] etc., which are not found in the Aitareya and Kauṣītaki Upaniṣads. These words referred to in the Vedas stand for the prāṇa-vāyu, which retains other prāṇas and Hiraṇyagarbha as well. In the Praśnopaniṣad, it is said that Prajāpati wanted the creation of prajāḥ. He, therefore, practised penances and created prāṇa and rayi thereby. He thought that these were the means, by dint of which, all the prajaḥ were to be created :

"प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।"[7]

The Vedic seers took the prāṇa as the principal base of life or life-vitality, for vyaṣṭigata and samaṣṭigata life and it is for the reason that bodies - Agni, Sūrya, Pṛthivī, Vāyu, Prakṛti and all men and their actions have their origin in the prāṇa.[8] The Taittirīya-Upaniṣad renders that from the prāṇa alone, these creatures are born and being born, they live by the prāṇa and they go away and again return to it.[9] Similar notions find fullest expression in the Aitareya-Upaniṣad, where Soul is said to exist and create the world including the human beings having nose, eyes, ears, mouth, body, etc., and the Soul entered them with breath the prāṇa with other senses - vyāna, udāna, samāna, etc.[10] The second section of the first chapter says how various gross forms of the world, created by the Soul, entered the various organs of the man - the air entered the nostrils as breath, fire as speech in the mouth, the sun as sight the eyes and so on and so forth.

In the third chapter of the Aitareya-Upaniṣad, there is the mention of heart, mind, consciousness, knowledge of art and sciences, intellect, vision, thought, learning, wisdom, memory, determination, spirt of life, desire to enjoy, desire for seeing and touching, etc., which are but different names of that Soul, which is knowledge itself.[11] Here the prāṇa as spirit of life has been identified with Soul. Actually, Soul actuates the prāṇa, which becomes a living force and this force again pushes non-living indriyas for action. It is for the reason that the prāṇa has got an important place among the five prāṇas and ten indriyas. Originally the prāṇa is the breath, then the life and represents the Ātman : "In the olden period, all the vital powers - speech,

---

Professor, Dept. of Sanskrit, Delhi University, Delhi

breath, eye, ear, manas, etc., were called the prāṇas. Only gradually manas and the indriyas as the forces of conscious life were separated from the prāṇa, which with its five subdivisions is incessantly active in waking and in sleep, is consequently the special vehicle of life as such. In sleep, manas enters the prāṇa and causes the Soul to guard its lower nest by the prāṇa. It is from this perhaps that the later conception is derived that in sleep, while the organs of sense are absorbed into manas, the fires of prāṇa keep watch in the city of the body. These fires of praṇa which are on the watch in sleep, are themselves five in number, viz., prāṇa, apāna, vyāna, samāna, udāna.....Sometimes only two (prāṇa and apāna) are named, or three (prāṇa, apāna, vyāna), or four (prāṇa, apāna, vyāna, udāna), usually however all five."[12]

However, in the Aitareya-Upaniṣad, there is not such broad division, but in the Kauṣitaki-Upaniṣad, the prāṇa has been described vividly. Some broad concepts, in the light of this Upaniṣad, have been putforth here under the following headlines :

1. Prāṇa aṣ Brahman :

In the second chapter of the Kauṣitaki-Upaniṣad, the prāna has been identified with Brāhman.[13] The Ist verse of the chapter says that the Prāṇa is Brahman. The manas as messenger, the eye as watchman, the ear as announcer, and the speech as attendant serve the prāṇa. All these godheads being offerings to this prāṇa as Brahman, who does not ask for them (offerings).[14]

Here, the word gods stand for the organs-sensory and motor and they serve the prāṇa or Brahman as servants serve the king. As a result, there is life on the earth in body form and this life as such is visible. The commentators of the Upaniṣads are very much inclined to name this form of the prāṇa, the Saguṇa-Brahma, for it is a force of life, which surfaces, while Brahman enteres the body. At the same time, both are closely related and are inseparable. According to the Taittirīya-Upaniṣad, the servants of the prāṇa appear to be layers placed one after another, which surround the prāṇa and protect it and the prāṇa again surrounds Ātman.[15] In my opinion, the prāṇa or breath or life is an active force and associated with the indriyas turns into a gross form, hence may be called a saguna Brahma. But without Ātman, there is no life and leaving the indriyas, the very effect (kārya), the prāṇa of the cause, Ātman enters the subtle or nirguṇa Brahman.[16]

2. The Vāyu-prāṇa as the Principle of Cosmic and Psychic Life :

The allusion to this is found in one of the passages of the Kauṣitaki-Upaniṣad in reference to daivaḥ parimaraḥ, the death of divinities.[17] Here, Agni, Āditya, Candramas and Vidyut are reckoned to be the cosmic gods whereas Vāc, Cakṣus, Śrotra and manas are the psychic divinities. They correspond to each other. In their existential form, they remain as such, more and more with physical substance (स्थूल द्रव्य), but, at the time of dissolution, the former merge into Vāyu and the latter into the prāṇa. Actually, the former represents the Cosmic Brahman and the latter the psychic Brahman and at this stage, the cosmic and psychic Brahman are identical. When the cosmic divinities die, they give up their splendour and turn into other nature-objects, but their life returns to Vāyu. Similarly, psychic Brahman does not die and its splendour goes to other psychic forces, but psychic Brahman returns back to the prāna, equivalent to Vāyu.[18]

3. The Superiority of the Prāṇa over other Organs :

Undoubtedly, the Prāṇa-tattva is most important tattva in the body, because without it, the body cannot move for actions. This is an acknowledge fact. The Aittareya-Upaniṣad endorses this viewpoint as it says that

all divinities like speech, eye, ear and manas left the body and so did the prāṇa. Consequent upon, the body remained lifeless. To revive it, Vāc, etc., entered it, but failed to get it up. At the end, the prāṇa entered it and the dead body immediately got up.[19] As a result, all these divinities recognized the supremacy of the prāṇa.

Here is an Upaniṣadic teaching. In a way, this Upaniṣad exhorts us to know the importance of the Prāṇa, for one who becomes participant of the prāṇa, pulls with all these organs out of the body, enters the wind and becomes immortal. A similar view is held in the Praśnopaniṣad :

य एवं विद्वान् प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति[20]

REFERENCES & NOTES

1. Sir Monier Williams, A Saṁskṛt-English Dictionary, 1974, Delhi, p. 705
2. Ch Up., II. 7.1
3. AV., I. 1.2
4. ṚV., X. 121.1
5. Ibid., X. 123.1
6. Ibid., X. 59.5
7. Praś Up., I. 4
8. Ibid., II 5-6
9. Taitt. Up., III. 3
10. Ait.Up., I. 1
11. Ibid., III.2
12. Paul Deussen, The Philosophy of the Upaniṣads, Delhi, 1979, p. 275
13. K. Up., II. 1-2
14. Ibid., II.1
    ''प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्टी चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं सश्रावयितृ तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मणो एता सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति..................''
15. Taitt. Up., IV. 2
16. Aitt. Up., II. 12
17. Paul Deussen, Op.cit, p. 38
18. Ibid., pp. 38-39
19. Ibid., p. 40
20. Praś Up., III. 11

उपनिषदों में ओङ्कार

डॉ० वेदवती वैदिक

ओङ्कार अक्षर है। ओङ्कार अक्षर ही ब्रह्म है। ओङ्कार परब्रह्म है। ओङ्कार परम अक्षर है।[1] ओङ्कार और अक्षर दोनों पर्यायवाची है। अक्षर और ब्रह्म एक-दूसरे के पर्याय है। जैसे ब्रह्म के दो रूप हैं निर्गुण और सगुण वैसे ही ओङ्कार त्रिमात्रात्मक और अमात्रात्मक है। अक्षर शब्द के दो अर्थ हैं। प्रथमतः तो यह परब्रह्म का वाचक है। द्वितीयतः वाणी के माध्यम से जिन शब्दों का उच्चारण होता है उसके न्यूनतम पद 'अ' को भी अक्षर कहते हैं । मनुष्य के वक्त्रीतन्त्र के अन्तरतम भाग से 'अ' की मध्यम भाग से 'उ' की और बहिर्तम भाग से 'म्' की उत्पत्ति होती है । अतः 'अ' 'उ' 'म्' ये तीनों वर्ण न केवल सम्पूर्ण वक्त्रीतन्त्र का अपितु सम्पूर्ण वाक् का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए 'खं ब्रह्म'[2] को ओङ्कार शब्द से वाच्य माना गया । क्योंकि 'वायु' आकाश में व्याप्त रहती है। मुख में वायु के आघात से ही अक्षर की उत्पत्ति होती है । अक्षरों का समुदाय ही शब्दमयी वाणी है। वाणी ही 'वाक्' है। यही वाक् शब्द ब्रह्म के रूप में सहस्राक्षरा है। वाक् ही अमृत, अक्षर है। उसी वाक् का प्रतीक ओङ्कार है।

वेदों का सार ओङ्कारः[3]

प्रजापति ने लोकों के उद्देश्य से ध्यान रूप तप किया । अभितप्त लोकों से त्रयी विद्या की उत्पत्ति हुई । त्रयी विद्या से भूः, भुवः सुवः ये तीन अक्षर उत्पन्न हुए[4] और इन तीन अक्षरों का सार ओङ्कार है । जैसे पत्ते शङ्कुओं अर्थात् नसों से ओत प्रोत रहते हैं वैसे ही ओङ्कार से सम्पूर्ण वाक् व्याप्त रहती है । जैसे पत्तों को और नसों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता; वैसे ही ओङ्कार और वाक् को पृथक् करना असंभव है। ओङ्कार ही सम्पूर्ण वाक् है।[5]

ब्रह्मणो नेदिष्ठमभिधानं ओङ्कारः[6]

ओङ्कार ब्रह्म का अत्यन्त समीपवर्ती नाम है। यह ब्रह्म का वाचक है।[7] परन्तु आपाततः यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ब्रह्म और ओङ्कार का वाच्य-वाचक संकेत मनुष्य की कपोलकल्पना माना जाये अथवा दीपक और प्रकाश के समान नित्य धर्म माना जाये ? इस वाच्य ब्रह्म का वाचक ओङ्कार के साथ नित्य संबंध है । संकेत तो केवल ईश्वर के नियत किये हुए अर्थ को ही प्रकाशित करता है । जैसे पिता और पुत्र के नियत संबंध को संकेत से प्रकाशित किया जाता है ।[8] अतः ओङ्कार ब्रह्म का नाम भी हुआ और ब्रह्म की प्राप्ति में परम साधन भी, जैसे विष्णु आदि की प्रतिमाओं का विष्णु आदि के साथ अभेद रूप में चिंतन किया जाता है । उसी प्रकार ओङ्कार ही ब्रह्म है। ऐसे चिंतन करना चाहिए। अथवा ओङ्कार ही ब्रह्म का श्रेष्ठ आलम्बन है इस प्रकार ध्यान करना चाहिए।

रीडर, संस्कृत विभाग श्री अरविन्द महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ओमिति ब्रह्म

ऊँकार यह शब्द रूप ब्रह्म है । क्योंकि ऊँकार यह सर्वरूप है । समस्त शब्द रूप प्रपञ्च ओङ्कार से व्याप्त है । सम्पूर्ण वाच्य वाचक के अधीन रहता है । ऊँकार ब्रह्म है । सम्पूर्ण कार्यों का प्रारम्भ ओङ्कार से करना चाहिए । जैसे संगीत में गायन को आरम्भ करने से पूर्व आलाप किया जाता है। आलाप से प्राण वायु का क्रमशः आरोह होता है। उसी प्रकार ओङ्कार का उच्चारण करने में प्राणों को ऊपर की ओर खींचना पड़ता है ।[9] इसीलिए उसे ओङ्कार कहा जाता है। सामगान का आरम्भ भी ऊँकार से करते हैं। ऊँकार से ही समस्त ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं । यही सम्पूर्ण मंत्रों का सार है । ओङ्कार पूर्वक सामगान करने से वह फलसम्पन्न होता है । इसी प्रकार 'ऊँ शोम्' का उच्चारण कर 'शस्त्रों' अर्थात् गीतिरहित ऋचाओं का पाठ किया जाता है। अध्वर्यु 'प्रतिगर' अर्थात् प्रत्येक कर्म के प्रति ऊँकार ऐसा कहते हैं । ब्रह्मा ऊँ, कहकर 'अग्निहोत्र' प्रारम्भ करने के लिए आज्ञा देता है । अन्तेवासी ब्रह्मचारी ऊँकार के साथ 'वेदाध्ययन' प्रारम्भ करता है जिससे वह वेद और परब्रह्म को प्राप्त कर सके।[10] सार रूप में इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी कार्य यदि ऊँकार पूर्वक आरम्भ किया जाये तो वह फलसम्पन्न होता है।

ओङ्कार परापर ब्रह्म है[11]

ओङ्कार ही 'पर' और 'अपर' ब्रह्म है । जो कुछ भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान है वह भी ऊँकार है। जो त्रिकालातीत है वह भी ओङ्कार ही है।[12] यह त्रिकालातीत आत्मा अध्यक्षर है । अर्थात् अक्षर का आश्रय लेकर जिसका अभिधान किया गया है । वह अक्षर ओङ्कार है । यह 'ओङ्कार' पाद रूपों से विभक्त किये जाने पर मात्रा का आश्रय लेकर वर्तमान रहता है।[13] क्योंकि जो आत्मा के 'पाद है वे ही ओङ्कार की मात्रायें हैं । वे मात्रायें कौन सी हैं ? अकार, उकार, मकार ये ही वे मात्रायें हैं । परन्तु इसमें एक मात्रारहित भाग भी है। अतः ओङ्कार की मात्राओं को एक ओर तो चेतना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से और दूसरी ओर आत्मा के चार पादों से सम्बन्धित किया गया है ।[14] अर्थात् एक ओर तो ओङ्कार आत्मा की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्थाओं का प्रतीक है। दूसरी ओर इन विविध अवस्थाओं से संबंधित वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ और आत्मा का प्रतीक हैं।

जागरित स्थान	वैश्वानरः	अकारः	प्रथम मात्रा[15]
स्वप्नस्थान	तैजसः	उकारः	द्वितीय मात्रा[16]
सुषुप्तिस्थान	प्राज्ञः	मकारः	तृतीय मात्रा[17]

अमात्र ओङ्कार चतुर्थ तुरीयावस्था है। केवल आत्मा है। वह अव्यवहार्य प्रपञ्चोपशम, शिव और अद्वैत है ।[18] अतः ओङ्कार ही आत्मा है। 'अ' मात्रात्मक वैश्वानर संज्ञक आत्मा जागरितावस्था में स्थूल सांसारिक विषयों को[19], 'उ' मात्रात्मक तैजूस संज्ञक आत्मा स्वप्नावस्था में सूक्ष्म विषयों को[20], भोगता है । 'म' मात्रात्मक प्राज्ञः संज्ञक आत्मा सुषुत्यावस्था में प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप होता हुआ, आनन्दमय, आनन्द को भोगने वाला चेतोमुख है । प्राज्ञ सबका ईश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है । समस्त जीवों की उत्पत्ति और निलय का कारण है ।[21] सार रूप में यह कहा जा सकता है कि विभु विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है, प्राज्ञ घनप्रज्ञ है। इस प्रकार एक ही आत्मा इन तीन रूपों में वर्णित है। विश्व 'दक्षिण नेत्र' में रहता है।[22] दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष 'इन्ध' नाम से प्रसिद्ध है।[23] दीप्तिगुणविशिष्ट 'वैश्वानर' को इन्ध कहते हैं । तैजूस मन के भीतर रहता है। प्राज्ञः हृदयाकाश में उपलब्ध होता है। इन सबसे पृथक् अमात्रात्मक तुरीयावस्था है । वह न अन्तःप्रज्ञ है न बहिष्प्रज्ञ, न उभयप्रज्ञ है । न प्रज्ञानघन है । न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ । वह अदृष्ट होने से अव्यवहार्य है । कर्मेन्द्रियों से अग्राह्य है, अलक्षण अर्थात् लिङ्ग रहित है इसीलिए

अचिन्त्य है । अव्यपदेश्य है, अर्थात् शब्दों के द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । वह एकात्मप्रत्ययसार अर्थात् जाग्रत् आदि स्थानों में एक ही आत्मा है । ऐसा जो अव्यभिचारी प्रत्यय है उससे अनुसरण किए जाने योग्य है । वह प्रपञ्चोपशम है अर्थात् जिसमें जाग्रतादि अवस्थाओं का अभाव है। इसीलिए वह शान्त अर्थात् अविकारी है। अद्वैत अर्थात् भेद रूप विकल्प से रहित है, इसीलिए वह शिव है । यही चतुर्थ अर्थात् 'तुरीय' है । वह तीन पादों से विलक्षण है। वही आत्मा है और वही ज्ञातव्य है।[24]

ओङ्कार ब्रह्म का श्रेष्ठ आलम्बन

ऊँकार श्रेष्ठ आलंबन, परम आश्रय है ।[25] इस प्रणव अर्थात् ओङ्कार का अवलम्ब अर्थात् चिंतन करने से मनुष्य परापर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।[26] ओङ्कार के चार पाद ही चार मात्रायें हैं ।[27] यदि कोई व्यक्ति मृत्युपर्यन्त प्रणवोपासना करे तो उसकी क्या गति होती है ?[28] शैब्य सत्यकाम के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर पिप्पलाद ऋषि ने बताया कि, यदि वह ओङ्कार की प्रथम मात्रा 'अ' जो कि ऋग्वेदस्वरूपा है और जिसका 'भूः' अर्थात् पृथिवी लोक से संबंध है, उसका चिंतन करने से, उस पर ध्यान लगाने से मृत्यूपरांत पृथिवी लोक को प्राप्त करता है । अर्थात् ऋग्वेद की ऋचायें साधक को पुनः मानवशरीर में प्रविष्ट करा देती हैं । वह इस नए जन्म में तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न श्रेष्ठ मनुष्य बन अतिशय ऐश्वर्य को भोगता है ।[29] इसका तात्पर्य यह हुआ कि ओङ्कार के 'अ' पाद का ध्यान करने वाले साधक के जीवन में गुणों का आधान हो जाता है । क्योंकि तप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा उसके जीवन को श्रेष्ठता और उत्तमता प्रदान करते हैं । फलस्वरूप उसका पुनः जन्म भी निम्न योनियों में न होकर दुर्लभ मनुष्य योनि में ही होता है।

यदि साधक ओङ्कार की दो मात्राओं 'अ' और 'उ' पर ध्यानस्थ होता और उस अपर ब्रह्म के अङ्गभूत 'भूः' (मनुष्यलोक) और 'भुवः' (स्वर्गलोक) को लक्ष्य कर उपासना करता है तो वह मनोमय चन्द्रलोक को प्राप्त करता है।[30] यजुर्वेद के मंत्र उसे अंतरिक्ष में ऊपर की ओर चन्द्र लोक में पहुँचा देते हैं । परन्तु वहाँ स्वर्गलोक में पुण्यकर्मों के क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्युलोक में मानवशरीर धारण करता है।[31]

यदि साधक अ उ म् इन तीन मात्रों और पादों वाले ओङ्कार स्वरूप अक्षर ब्रह्म का आजीवन ध्यान करता है तो जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली से मुक्त होता है; उसी प्रकार साधक भी पापों से मुक्त हो जाता है।[32] तब सामवेद के मंत्र तेजोमय सूर्यमण्डल में से ले जाकर उसे ब्रह्मलोक में पहुँचा देते हैं । वहाँ वह, समस्त जीव समुदाय रूप चेतन तत्त्व से श्रेष्ठ, परात्पर शरीर रूपी पुर में शयन करने वाले पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है ।[33] इसका तात्पर्य यह कि ओङ्कार की तीन मात्राओं अ उ म् में से जब एक-एक का अलग-अलग ध्यान किया जाता है तो पौनःपुन्येन इस सतत् परिवर्तनशील जगत् में जन्म तो होता है परन्तु दुर्लभ मानव योनि में ही जन्म होता है । दूसरे, तप ब्रह्मचर्य तथा सत्य व्रतों का पालन करता हुआ वह जीवन के सार रूप, सर्वव्यापक तत्त्व ब्रह्म को जान लेता है । ओङ्कारोपासना से वह अजर-अमर परमतत्त्व को प्राप्त करता है । क्योंकि अ उ म् तीनों मात्राओं पर संयुक्त रूप में ध्यान लगाने से वह जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।[34]

ओमित्येत्दक्षरमुद्गीथ[35]

ओङ्कार यह अक्षर 'उद्गीथ' है । ओङ्कार वाङ्मय है और यह प्राण से निष्पन्न होता है । उसका उच्चारण करने में प्राणों को ऊपर की ओर खींचना पड़ता है इसी कारण उसे ओङ्कार कहते हैं ।[36] उद्गीथ शब्द में तीन वर्ण हैं । प्राण ही 'उत् है । क्योंकि प्राण से ही सब उठते हैं। निष्प्राण में गति दृष्टिगोचर नहीं होती। वाणी ही 'गी' है क्योंकि वाणी को 'गिरा' कहते हैं ।

प्राण से ही वाणी का उच्चारण होता है तथा अन्न ही 'थ' है क्योंकि अन्न में ही यह सब स्थित है । अन्न ही प्राण का दाम-रस्सी है ।[37] उद्गीथ भौतिक जगत् द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी, आदित्य, वायु, अग्नि आदि का प्रतिनिधित्व करता है।[38]

उत्	गी	थ = उद्गीथ
प्राण	गिरा	अन्न
द्यौ	अंतरिक्ष	अग्नि
सामवेद	यजुर्वेद	ऋग्वेद

उद्गीथ रसानां रसतमः[39]

सम्पूर्ण प्राणियों का रस-आश्रय पृथिवी है । पृथिवी का रस आप् (जल) है क्योंकि पृथिवी जल में ही ओत-प्रोत है। जल का रस ओषधियाँ हैं क्योंकि जल ओषधियों का जीवन है। ओषधियों का रस पुरुष है। क्योंकि पुरुष देह अन्न का परिणाम है। पुरुष का रस वाणी है। क्योंकि वाक् सारिष्ठा अर्थात् सबसे सारवान् है । वाक् का रस ऋक् है। ऋक् का रस साम है तथा साम का रस उद्गीथ ओङ्कार है ।[40] यही उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार सम्पूर्ण रसों में रसतम है । परमात्मा का प्रतीक होने के कारण परम-उत्कृष्ट है। यह परार्ध्य है। अर्थात् यह पर होते हुए भी अर्ध है । इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा जो उद्गीथ है वह प्रणव है[41] तथा जो प्रणव है वह उद्गीथ जिसके द्वारा नम्रतापूर्वक स्तुति की जाती है वह नीति-स्तुति अर्थात् प्रणव शब्द है।[42] वही स्वरसंज्ञक अक्षर ओङ्कार और उद्गीथ है।

महः ही ब्रह्म = ओङ्कार ।

भू, भुवः सुवः ये तीन व्याहृतियाँ है । महाचमस ऋषि के पुत्र ने चौथी व्याहृति 'महः' को जाना था । यह चौथी व्याहृति ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और सर्वप्रधान है । क्योंकि यह व्याहृति महः होने से ब्रह्म ही है। ब्रह्म सर्वात्मरूप है, सर्वरूप है। यही ओङ्कार है अन्य सब देवता उसके अङ्गभूत हैं।[43] इन व्याहृतियों में ही विभिन्न लोकों का चिंतन निहित है।

भूः	भुवः	सुवः	महः
पृथिवीलोकः	अंतरिक्षलोकः	स्वर्गलोकः	आदित्यः
अग्निः	वायुः	आदित्यः	चन्द्रमा
ऋचः	सामानि	यजूँषि	ब्रह्म
प्राणः	अपानः	व्यानः	अन्नम्

अर्थात् 'भूः' यह मानो पृथिवीलोक हैं, 'भुवः' यह अंतरिक्ष लोक है और 'सुवः' स्वर्गलोक है । यह आदित्य है । इसका तात्पर्य यह है कि भूः भुवः स्वः तीन व्याहृतियाँ तीन लोक वाले स्थूल ब्रह्माण्ड को वर्णित करती हैं । 'महः' नामक चौथी व्याहृति इस विराट् रूप को प्रकाशित करने वाले सूर्य की आत्मा है।

पुनः 'भूः' को अग्नि, 'भुवः' को वायु[44] और 'सुवः' को आदित्य बताया गया है । अग्नि वाणी की अधिष्ठाता है । क्योंकि अग्नि वाक् रूप में शरीर में प्रविष्ट हुई थी।[45] वाणी प्रत्येक विषय को अभिव्यक्त कर उसे प्रकाशित करने में समर्थ है । 'भुवः'

वायु है । वायु त्वगोन्द्रिय की अधिष्ठाता है और त्वक् इन्द्रिय स्पर्श को प्रकाशित करने वाली ज्योति है । 'सुवः' सूर्य है। सूर्य नेत्रेन्द्रिय का अधिष्ठातृ देव है । नेत्रेन्द्रिय भी सूर्य की सहायता से रूप को प्रकाशित करता है । 'महः' यह चौथी व्याहृति चन्द्रमा है। 'चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्'।[46] चन्द्रमा मन का अधिष्ठातृ देवता है। मन की प्रेरणा से मन के संसक्त होने पर ही इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्रकाशित करने में सक्षम हैं। मन के अनुपस्थित रहने पर इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत ज्ञान की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि लोक में प्रचलित है कि मैंने सुना नहीं, मेरा मन कहीं और था। अतः मन के उपस्थित रहने पर ही इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों को प्रकाशित करने में समर्थ होती है। जैसे सब ज्योतियों में चन्द्रमा प्रधान है; वैसे ही सम्पूर्ण इन्द्रियों में मन । इसी मन को 'महः' व्याहृति इसी लिए भी कहा गया कि चन्द्रमा अर्थात् मन से ही समस्त ज्योतिस्वरूप इन्द्रियाँ गौरवान्वित होती हैं।

'भूः' ऋग्वेद है। 'भुवः' सामवेद है । 'सुवः' यजुर्वेद है। 'महः' ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्म से ही त्रयी विद्या महिमान्वित होती है।[47] तात्पर्य यह है कि त्रयी विद्या में वर्णित समस्त ज्ञान परब्रह्म परमेश्वर से प्रकट होकर उन्हीं से व्याप्त हुआ है।

'भूः' यही प्राण है, 'भुवः' अपानः है । 'स्वः' व्यान है । इस प्रकार प्राण ही मानों ये तीनों व्याहृतियाँ हैं । अन्न ही 'महः' रूप में चौथी व्याहृति है।[48] क्योंकि अन्न से समस्त प्राण पुष्ट होते हैं । अतः संक्षेप में यह कहना अधिक समीचीन होगा कि लोक, देव, वेद और प्राण रूप अन्य व्याहृतियाँ आदित्य, चन्द्र, ब्रह्म एवं अन्न स्वरूप व्याहृत्यात्मक महः से व्याप्त हैं। यह लोक, अग्नि, ऋग्वेद और प्राण - ये पहली व्याहृति 'भूः' है, अंतरिक्ष लोक, वायु, साम और अपान- ये दूसरी व्याहृति 'भुवः' है, स्वर्गलोक, आदित्य, यजुष् और व्यान - ये तीसरी व्याहृति 'सुवः' है, आदित्य, चन्द्रमा ब्रह्म और अन्न - ये चौथी व्याहृति 'महः' है। 'महः' ही ब्रह्म है, ब्रह्म का अर्थ ओङ्कार है।

अतः सार रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वरसंज्ञक अक्षर ओङ्कार, उच्च स्वर में गाये जाने पर उद्गीथ और प्रकृष्ट रूप से नौति-स्तुति किये जाने पर 'प्रणव' संज्ञक हो जाता है।

साधक को आत्मा रूपी बाण को, उपासना द्वारा शुद्ध कर उसे प्रणव रूपी धनुष पर चढ़ाना चाहिए।[49] जैसे धनुष को पूरी शक्ति से खींचकर बाण को लक्ष्य पर छोड़ जाता है, जिससे वह अपने लक्ष्य को बींध सके । वैसे ही उद्गीथसंज्ञक ओङ्कार का त्रिमात्रात्मक उच्चारण करना चाहिए । यहाँ मात्राओं[50] का तात्पर्य है ह्स्व, दीर्घ और प्लुत मात्राओं से। अतः ध्यानस्थ साधक को ओङ्कार का प्लुत उच्चारण ही करना चाहिए । यही ओङ्कार के त्रिमात्रात्मक उच्चारण का अभिप्राय है । इसीलिए 'ओ३म्' लिखते समय ओ के बाद '३' यही अङ्क चिह्नित किया जाता है । दूसरे 'ओ३म्' का उच्चारण सतत अर्थात् बिना अन्तराल के करना चाहिए। फलस्वरूप मन शीघ्र एकाग्र हो संयमित हो जाता है। इस प्रकार भावपूर्ण मन से ओङ्कार का उच्च स्वर में उच्चारण कर उसके अर्थ अर्थात् अक्षर ब्रह्म का प्रगाढ़ एवं सुदीर्घ काल तक चिंतन करना चाहिए।[51]

बाण जैसे अपने लक्ष्य को बींधकर उसी में तन्मय हो जाता है । उसी प्रकार प्रमादरहित साधक प्रणव रूपी धनुष पर आत्मा का शरसंधान कर, ब्रह्मरूपी लक्ष्य को बींधकर उसी में तन्मय तल्लीन हो जाता है ।[52] अतः चित्त को ओङ्कार में समाहित करना चाहिए । यह ओङ्कार ही निर्भय ब्रह्म पद है ।[53] यह ओङ्कार ही अपूर्व अकार्य, अन्तर्बाह्यशून्य और अव्यय[54] है । प्रणव ही सबके हृदय में स्थित ईश्वर है। प्रणव ही सबका आदि, मध्य और अन्त है।[55] प्रणव को इस रूप में जानने पर साधक तद्रूपता को प्राप्त कर लेता है।[56]

यही सर्वव्यापी ओङ्कार जब प्रत्येक व्यक्ति के कण्ठ से उच्चारित होता है तो उसका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। क्योंकि सम्पूर्ण व्यष्टि और समष्टि की निर्मिति पांच तत्त्वों आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी से हुई है । आकाश इन पाँचों में सूक्ष्मतम है ।

ओङ्कार आकाश के द्वारा वायु के आघात से उत्पन्न होता है । उसकी भौतिक सत्ता उस कंपन, स्पन्दन या तरंगों के रूप में है जो शब्द से उत्पन्न होती है। यह ध्वनि नितान्त भौतिक है। पंचभौतिक जगत् का सूक्ष्म रूप ओङ्कार ध्वनि है। अतः जैसे कण्ठ से ओङ्कार निकलता है तो कण्ठ से उच्चरित वाणी से उस मनुष्य की प्रकृति का यथार्थ रूप अभिव्यक्त हो जाता है । या यों कहना अधिक तर्क संगत होगा कि प्रत्येक मनुष्य के कण्ठ से उच्चरित ओङ्कार वह संक्षिप्त सूक्ष्म पद है जो उसकी पंचभौतिक देह, पंचप्राण और पंचकोषों का सूक्ष्म और स्थूल परिचय दे देता है । शारीरिक रचना में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति-आत्मा की तीन अवस्थायें अ, उ, म का और मात्राविहीन मात्र तुरीयावस्था आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है । अतः ब्रह्म की सम्पूर्ण सृष्टि और मनुष्य के शरीर का न्यूनतम उदाहरण है ओङ्कार । इसीलिए कण्ठ से उच्चरित ओङ्कार मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है । प्रत्येक कण्ठ से उच्चरित ओङ्कार इसलिए भिन्न होता है कि प्रत्येक शरीर में रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेदा और मलमूत्र भिन्न-भिन्न है।[57] उसी प्रकार ओङ्कार ध्वनि भी।

ऊँकार केवल व्यक्तिगत श्रेय ही नहीं करता अपितु यह विश्वकल्याणकारी है । प्रणव व्यक्तिगत साधन का प्रतीक ही नहीं है अपितु स्वयं आदित्य सूर्य भी प्रणवगान करता हुआ समस्त विश्व की प्रदक्षिणा करता है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. ''एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।'' कठ० उप० 2/16
2. ''ऊँ खं ब्रह्म'' खं पुराणं वायु रं खमिति।'' बृह० उप० 1/5/1
3. ''ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवाअधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।'' ऋग्वेद 1/114/39
4. ''प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति।'' छां० उप० 2/23/2
5. ''तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यः ऊँकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुन सर्वाणि पर्वाणि संतृण्णान्येवमोङ्गारेण सर्वा वाक्संतृण्णोङ्कार एवेदꣳ सर्वमोङ्कार एवेदꣳ सर्वम् ।'' छा० उप० 2/22/3

   'अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।

   वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च।'' मनुस्मृति 2/76
6. ''यद्यपि ब्रह्मात्मादिशब्दा ब्रह्मणो वाचकास्तथापि श्रुतिप्रामाण्याद् ब्रह्मणो नेदिष्ठमभिधानमोङ्कारः। अतएव ब्रह्म प्रतिपत्ताविदं परं साधनम्। तच्च द्विप्रकारेण प्रतीकत्वेनाभिधानत्वेन च। प्रतीकत्वेन यथा विष्ण्वादिप्रतिमाभेदेनैवामोङ्कारो ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यः।।'' बृह० उप० शां० भा० 5/1/1 पृ० 1177
7. ''तस्य वाचकः प्रणवः'' - पातंजल योगदर्शन 1/27
8. ''किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ।'' वही व्यास भाष्य पृ० 71

   ''स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबंधः । संकेतस्त्वीश्वरस्यस्थितमेवार्थमभिनयति यथाऽवस्थितः पितापुत्रया संबंधः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता अयमस्य पुत्र इति।'' वही।
9. ''यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्कामयति तस्मादुच्यते ओङ्कारः ।'' अथर्वशिरस् उपनिषद्।
10. ''ओमिति ब्रह्म । ओमितीदꣳ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्यावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳ शोमिति । शस्त्राणि शꣳसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणाः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति।'' तैति० उप० 1/8
11. ''परं चापरं च ब्रह्मयदोंकारः''। प्रश्न उप० 5/2

12. ''ओमित्येतदक्षरमिदꣳ, सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। माण्डूक्य उप० 1

13. सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति। वही 8

14. ''सर्वंꣳह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।'' वही 2.

15. ''जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा''। वही 9.

16. ''स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा''। वही 10.

17. ''सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा। वही 11.

18. ''अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव।'' वही 12

19. ''जागरितस्थान बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशति मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। '' वही 14

20. ''स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशति मुखः प्रविविक्तभुक्ततैजसो द्वितीयः पादः। '' वही 14

21. ''यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।'' वही 5

22. ''एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौ हि भूतानाम् ।'' वही 6

23. ''बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वे ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एवं त्रिधा स्मृतः ।। मां० कां० शां० भा० 1

24. ''नान्तः प्रज्ञ न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं प्रज्ञं नाप्रज्ञम्, अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'' वही 7

25. ''एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।'' कठ० उप० 1/2/17

26. प्रश्न उप० 5/2/9

27. ''ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।'' मां० का० शां० भा० 24

28. ''अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै त्तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोक जयतीति।'' प्रश्न० उप० 5./.

29. ''स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनेव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।'' वही 5/3

30. ''अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते।'' वही 4

31. ''नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।'' मुं० उप० 1/2/10

32. ''यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथापादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः। ससामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनापरं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः।'' प्रश्न० उप० 5/5

33. ''तिस्रोमात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्य सक्ता अनविप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः।'' वही 5/6

34. ''ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्ततकवयो वेदयन्तब। तमोंकारेणवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतामभयं परं चेति।'' वही 5/7

35. ''तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सँसृज्यते।'' छां० उप० 1/1/6

36. ''अथ खलूदगीथाक्षराण्युपासीतोग्द्गीथ इतिप्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर त्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदꣳसर्वं स्थितम्।'' वही 1/3/6

37. ''अन्नं दाम''। बृह० उप० 2/2/1

38. ''द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थँ स सामवेद एवोधजुर्वेदो गी ऋग्वेदस्थम्। छां० उप० 3/3/7
39. ''स एष रसानाः रसतमः परमः परार्ध्यऽष्टमो यदुद्गीथः।'' वही 1/1/3
40. ''एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोरसः अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथ रसः।'' छां० उप० 1/1/2
41. ''अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यासौ वा आदित्य उद्गीथ एव प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।'' छां० उप० 1/5/7
42. योगसूत्र भोजवृत्ति 27
43. ''भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु हस्मैतां चतुर्थीं महाचमस्य प्रवेदते । मह इति । तब्रहम स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुविरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः। आदित्येन वावसर्वेलोका महीयन्ते ।'' तै० उप० 1/51
44. ''भूरिति वा अग्निः। भुवः इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमा।'' वही
45. अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्।'' ऐ० उप० 1/2/4
46. वही।
47. ''चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीषीः महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।'' तै० उप० 1/5/2
48. ''भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता वा एताश्चतस्रश्च्तुर्धा। चतस्रचतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।'' वही 1/5/3
49. ''धुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासमानिशितं सन्धयीत आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।'' मुं० उप० 2/2/3
50. तै० उप० 1/2/1
51. ''तज्जपः तदर्थ भावनम्।'' योगसूत्र 1/28
52. ''प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।'' मुं० उप० 2/2/4
53. ''युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।'' मा० का० 1/2/5
''अपूर्वेऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः।'' वही 1/27
54. ''प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्यहृदि संस्थितम्। वही। 1/28
55. ''सर्वस्य प्रणवो ह्यादिमध्यमन्तस्तथैव च।'' वही 1/27
56. ''एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्युश्नुते तदनन्तरम्।'' वही।
57. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'गीता नवनीत', पृ० 47-48

नैतिक शिक्षा का स्वरूप एवं महत्त्व
(उपनिषदों के आधार पर)

डॉ० शशिप्रभा कुमार

मानव-जीवन स्रष्टा का अनुपम उपहार है। मानव अपने ज्ञान-विज्ञान और बुद्धि-कौशल के कारण सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है[1], किन्तु दूसरी ओर मानव-जीवन की एक प्रतिष्ठा है - मानवता[2] और इस मानवता का निर्माण एवं विकास ही नैतिक शिक्षा का लक्ष्य है। वास्तव में मनुष्य आध्यात्मिक जीव है, उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें एक ऐसी दिव्य चेतना विद्यमान है जो उसे सदा उच्च से उच्चतर[3] बनने की प्रेरणा देती है, यही विशेषता मानव को अन्य प्राणियों से भिन्न ठहराती है । मनुष्य की इस अन्तर्निहित चेतना को प्रस्फुटित करना ही शिक्षा है - वह एक प्रयोजनवती प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपनी अन्तरङ्ग प्रकृति और उसकी अभीप्साओं को पूर्ण करने का प्रयास करता है । इस दृष्टि से सच्ची शिक्षा आत्मशिक्षा है - शिक्षक केवल मार्गदर्शक हो सकता है। ज्ञान मनुष्य में सहज एवं स्वभावसिद्ध है, अतः मनुष्य को वही सिखाया जा सकता है जो उसके अन्तःकरण एवं चेतना में पहले से गुप्तरूप में सुप्त है। शिक्षा ज्ञान की साधना है, ज्ञान आत्मा का प्रकाश है और मनुष्य की अन्तर्निहित ज्ञानशक्ति को प्रकाशित करना ही नैतिक शिक्षा का आदर्श है। अन्य शब्दों में, नैतिक शिक्षा मनुष्य को जीवन-कला सिखाने का मार्ग है। मात्र जीवन को जीना नहीं, अपितु उसे उदात्त, मानवीय आदर्शों से अनुप्राणित कर देना ही नैतिक-शिक्षा का साध्य है । जीवन के सर्वाङ्गीण विकास और परिष्कृत व्यक्तित्व-निर्माण के लिए आज ऐसी पावन, अवदात शिक्षा की ही अपेक्षा है।

शिक्षा एक वैदिक शब्द है और सर्वप्रथम ऋग्वेद[4] में ही इसका प्रयोग हुआ है । 'शिक्ष विद्योपादाने' धातु से टाप् प्रत्यय लगाकर शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है । तदनुसार 'शिक्ष्यते उपादीयते विद्या यया सा शिक्षा' अर्थात् जिसके द्वारा विद्या का उपादान किया जाये, वही शिक्षा है और शिक्षा से जिस विद्या की प्राप्ति की जाती है, वह सार्थक तभी होती है जब अज्ञान के बन्धन से मुक्त कराने वाली हो - 'सा विद्या या विमुक्तये'। ऐसी शिक्षा का मूल स्रोत वेद एवं वेदानुयायी शास्त्र ही हैं जिनमें ऋषियों ने उदात्त भाव भरे हैं । अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में उपनिषदों से प्राप्त संकेतों के आधार पर प्राचीन भारतीय शिक्षा के स्वरूप का किञ्चिद् आकलन अभीष्ट है।

वैदिक वाङ्मय में उपनिषद् विशिष्ट शिक्षानिधि के रूप में मान्य हैं । 'उपनिषद् शब्द ही प्रकट करता है कि इनमें उस गहन आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या का विवेचन है जो तत्त्वद्रष्टा आचार्यों के सान्निध्य में ही अधिगत की जा सकती है ।[5] किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि उपनिषदें स्वाध्याय पर अधिक बल देती हैं,[6] स्वाध्याय को और अध्यापन को ब्रह्मयज्ञ का[7] नाम देती हैं तथा शिक्षा को साध्य नहीं, अपितु ब्रह्मवर्चस् का साधन ही प्रतिपादित करती हैं।[8] वस्तुतः औपनिषदिक शिक्षण-पद्धति में व्याख्यान का नहीं, स्वाध्याय, संवाद और प्रश्न - पद्धति का ही प्राधान्य था - शिक्षार्थी की जिज्ञासा को अधिक महत्त्व दिया जाता था, गुरु का

रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भाषण उसके समाधान-हेतु ही होता था, यद्यपि उस युग में गुरु का माहात्म्य कम नहीं आँका गया, गुरु को देवतुल्य[9] मानने का सन्देश उपनिषदों में ही सर्वप्रथम मिलता है । मुण्डक एवं छान्दोग्य उपनिषदों में स्पष्ट निर्देश है कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिल सकता।[10] इस भाँति नैतिक-शिक्षा का मूल आधार गुरुभक्ति या गुरु के प्रति श्रद्धा का भाव उपनिषदों में ही सूत्र रूप में संकेतित है, साथ ही गुरु को योग्य, शास्त्रज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ एवं आचारवान् होना भी अनिवार्य बताया गया है,[11] तभी वह अपने अन्तेवासियों को सदाचारी एवं श्रेष्ठ बना सकता है।

दूसरी ओर, शिक्षार्थी की पात्रता एवं योग्यता पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है - शिष्य के लिए गुरुगृहवास अनिवार्य था,[12] गुरु उपदेश से अधिक अपने आचार से प्रभावित करता था तथा शिष्य को गुरु के लिए भिक्षावृत्ति[13] का भी आश्रय लेना पड़ता था और गुरु के कुल की अग्नि प्रज्ज्वलित रखने के लिए समिधायें लाना[14] तथा पशुपालन[15] भी उसके कर्त्तव्य थे । इन सब दैनिक क्रियाओं से शिक्षार्थी को विनय, शारीरिक श्रम एवं कष्ट, सहिष्णुता आदि मानवीय गुणों की महिमा सिखाई जाती थी। इससे यह भी सुस्पष्ट होता है कि केवल पुस्तकों में पढ़ा कर इन सद्गुणों की शिक्षा देना सम्भव नहीं, बल्कि जीवन का अभिन्न अंग बना कर ही नैतिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है। साथ ही, गुरु-शिष्य-सम्बन्धों एवं उन दोनों की योग्यता पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । वस्तुतः शिक्षक एवं शिक्षार्थी ये दो ही शिक्षा-पद्धति के स्तम्भ हैं । अतः जब तक शिक्षक शिक्षा देने के योग्य नहीं है और शिक्षार्थी शिक्षा ग्रहण करने में उद्यत एवं सक्षम नहीं है, तब तक कुछ भी सिखाना असंभव है । उपनिषत्कालीन ऋषियों ने इस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सत्य का भलीभाँति साक्षात्कार कर लिया था, इसीलिए कहा गया कि जिसका चित्त शान्त न हो,[16] जो दान्त, उपरत[17] एवं समाहित[18] न हो - वह शिक्षा का अधिकारी नहीं है, न ही अपुत्र और अशिष्य इस ज्ञान के पात्र हैं।[19] परवर्ती काल में सूक्तिकारों ने भी इसी तथ्य को सम्पुष्ट करते हुए कहा है कि जो सुख चाहता है, उसे विद्या कैसे मिल सकती है और जो विद्या का इच्छुक है, उसे सुख कहाँ ?[20] शिक्षा के इस आदर्श की आज के सुविधाभोगी शिक्षक एवं शिक्षार्थी वर्ग में कल्पना भी नहीं की जा सकती।

वस्तुतः उपनिषद् आत्मज्ञान-प्रतिपादक ग्रन्थ हैं, अतः उनमें आचार्य एवं शिष्य दोनों के लिए कठोर अनुशासन पर बल दिया गया है। यह अनुशासन बाह्य एवं शारीरिक भी है तथा आन्तरिक एवं नैतिक भी, तद्यथा - एक आचार्य एक समय में एक ही शिष्य को उपनिषद्-विद्या का व्याख्यान करे, न तो खड़ा हुआ आचार्य खड़े शिष्य को उपदेश दे, न चलता हुआ चलते हुए को, न लेटा हुआ लेटे हुए को, न ही ऊपर बैठा हुआ ऊपर बैठे हुए को - अपितु नीचे (भूमि पर) बैठा हुआ आचार्य नीचे बैठे हुए शिष्य को ही विद्यादान करे। विद्यार्थी भी न तो पीछे की तरफ झुक कर बैठे न आगे की ओर, न अधिक वस्त्रों से लदा हुआ हो, न ही आसन-मुद्रा बार-बार बदले, बल्कि घुटने ऊपर की ओर उठा कर बैठे, विशेष वेशभूषा पहन कर न बैठे तथा पढ़ने की चेष्टा ही करे। जब विद्यार्थी ने मांस खाया हो, रक्त देखा हो या मृतदेह के दर्शन किये हों, कोई अनुचित कर्म किया हो, शरीर पर तेल मालिश की हो, हजामत बनवाई हो (तत्काल) स्नान किया हो, वर्णलेप किया हो, माला पहनी हो, स्त्री-संसर्ग किया हो, लिखा हो या लिखाई मिटाई हो - तब-तब उसे अध्ययन नहीं करना चाहिए । जहाँ अध्ययन करे वहाँ अन्य कुछ न पढ़े, किन्तु जहाँ और कुछ पढ़े वहाँ इस (आत्मविद्या) को भी पढ़ सकता है । इस ब्रह्मज्ञान को जाने बिना कोई स्नातक नहीं बन सकता, अतः इस ज्ञान से कभी प्रमाद न करें - इस ज्ञान को ही सत्यज्ञान समझे।[21]

शारीरिक अनुशासन के उक्त नियमों द्वारा ही शिक्षार्थियों एवं शिक्षकों में उन नैतिक या मानसिक गुणों का विकास संभव हो पाता था जो उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हैं। गोपथ ब्राह्मण[22] में ब्रह्मचारियों के लिए ब्रह्मवर्चस्, यश, स्वप्न, क्रोध, श्लाघा, रूप एवं गन्ध - इन सात कामनाओं पर विजय पाने का विधान किया गया है तथा कहा गया है कि यदि ब्रह्मचारी इन

दुर्बलताओं से ऊपर उठ सकता है तो उसे ज्ञान की उपलब्धि अवश्य होगी और वह स्वयं यशस्वी एवं श्लाघनीय बनेगा । विद्यार्थी को ब्रह्मचारी या व्रतचारी कहना ही इस सत्य को सुव्यक्त करता है कि जब तक शिक्षार्थी 'व्रत'[23] नहीं लेते, तब तक ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि शिक्षक भी संयमी, सरल एवं निःस्पृह हों । तभी तो वेद में कहा गया है कि आचार्य ब्रह्मचारी रहकर ही ब्रह्मचारी बना सकता है ।[24] वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्मचर्य केवल विद्यार्थी-जीवन तक सीमित नहीं है, अपितु चारों आश्रमों में इसका अभ्यास एवं साधना विहित है।[25] केनोपनिषद् में तप, दम एवं कर्म को ज्ञान की प्रतिष्ठा कहकर यही तथ्य व्यक्त किया गया है।[26] कठ उपनिषद भी तप एवं ब्रह्मचर्य को ज्ञान (ओ३म्) का साधन निर्धारित करता है।[27] इसी भाँति, मुण्डक उपनिषद् में भी तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य एवं विधि के पालन का आदेश है[28] तथा प्रश्नोपनिषद्, भी तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा पर बल देता है।[29] इस प्रकार, उपनिषदों के अनुसार तप, श्रद्धा एवं ब्रह्मचर्य आदि नैतिक मूल्यों का अभ्यास शिक्षा के लिए अनिवार्य माना गया, साथ ही आचार्य एवं शिष्य के लिए सात्त्विक, शान्त, भोगरहित जीवन तथा प्रकृति के साहचर्य में निवास का विधान किया गया । छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्धों का उल्लेख हुआ है - यज्ञ, तप तथा श्रम[30] - उनसे यह सर्वथा सुस्पष्ट है कि शिक्षा में प्रकृति, परिवेश तथा नैतिक मूल्यों का सन्तुलित सामञ्जस्य ही मानव को मानव धर्म सिखा सकता है । इसीलिए उपनिषदों की शिक्षा किसी वर्ग, जाति, काल या देश की सीमाओं से संकुचित नहीं की जा सकती, वह सार्वभौम मानवता को आत्मज्ञान का सन्देश है जिसकी आज के भौतिकवादी युग में अधिक अपेक्षा है।

आज देश में विचारों का बाहुल्य है, प्रचार भी प्रचुर हो रहा है किन्तु आचार की कमी है, इसीलिए नैतिक शिक्षा का प्रश्न प्रखर हो रहा है। आचारहीन कोरा ज्ञान मनुष्य को रावण की तरह दम्भी बना देता है किन्तु दूसरी ओर औपचारिक स्कूली शिक्षा के बिना भी केवल आचार की शुद्धता व्यक्ति को परम सत्य का साक्षात्कार करा सकती है जैसे सन्त कबीर और गुरुनानक । आज सन्तों के दर्शन दुर्लभ हैं, ढोंगी और पाखण्डी जन बढ़ रहे हैं। अतः आज हमें आस्था एवं विश्वास जगाने वाली, परम्परा की रक्षा करने वाली, सच्चे मानवधर्म को सिखाने वाली उस शिक्षा की अपेक्षा है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से, एक प्राणी को दूसरे प्राणी से तथा समग्र मानव-जाति को प्रकृति एवं परम सत्ता से जोड़ सके।

उपनिषद्कारों की दृष्टि में मानव-व्यक्तित्व के पाँच स्तर या कोश हैं - शरीर (स्थूल, अन्नमय देह), प्राण, मन, बुद्धि एवं आत्मा।[31] अतः सर्वाङ्गीण एवं समग्र शिक्षा वही कही जा सकती है जो इन पाँचों के परिष्कार एवं विकास का पथ प्रशस्त करे। यदि शिक्षा केवल मानसिक एवं बौद्धिक उत्थान करेगी तो अधूरी रहेगी, किन्तु आज हम बौद्धिक उत्कर्ष को ही शिक्षा का पर्याय समझते हैं, इसीलिए सभ्यता का अद्भुत विकास होने पर भी स्वयं को अधूरा, अशान्त एवं असन्तुष्ट पाते हैं । आज शिक्षा का अर्थ मात्र साक्षरता है, अतः एक ओर तो साक्षरता के बढ़ते हुए आँकड़े देखकर हम भ्रमित होते हैं किन्तु दूसरी ओर दुष्ट, भ्रष्ट एवं अनैतिक जनों की समाज में प्रगति देखकर चकित भी होते हैं । शिक्षा को अनिवार्य, सर्वजनसुलभ तथा सस्ता बनाकर हम मनुष्यों को अक्षरज्ञान तो करा सकते हैं किन्तु सच्ची मनुष्यता नहीं सिखा सकते और जो शिक्षा मनुष्य को मनुष्यता नहीं सिखा सकती, वह नैतिक शिक्षा कदापि नहीं हो सकती । नैतिक शिक्षा का प्रयोजन मानव-जीवन के पाँचों स्तरों को व्यवस्थित करके उसे एक श्रेष्ठ और सदाचारी मानव बनाना है। उपनिषद्-शिक्षा का लक्ष्य भी प्रत्येक व्यक्ति को सत्य का उपासक तथा सच्चा और स्वस्थ नागरिक बनाना ही रहा है जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् के श्वेतकेतु-संवाद से संकेतित होता है - वहाँ कहा गया है कि शिक्षा का उद्देश्य ग्रन्थों को मस्तिष्क के कोष्ठ में भरकर रखना नहीं है, अपितु उनसे ज्ञान प्राप्त करना है।[32]

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी जीवन-निर्माण करने वाली शिक्षा तभी सम्भव है जब शिक्षक स्वयं सदाचारी हों तथा शिक्षार्थी सच्चे ज्ञान के उपासक हों। इसे सरकारी विषय बनाकर या पाठ्यक्रम में निर्धारित करके नहीं सिखाया जा सकता - स्वयं सत्य में

निष्ठ होने पर ही सत्यकाम और सत्यव्रत बन सकते हैं। व्यक्तिगत चयन[33] के आधार पर ही प्रत्येक को प्रेय या श्रेय मार्ग वरण करना होता है तथा स्वयं अपने प्रयास तथा परीक्षण से ही अपनी क्षमताओं का विकास किया जा सकता है । बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति द्वारा देवों, मनुष्यों तथा असुरों को दी गई 'द, द, द'[34] वाली शिक्षा का यही सन्देश है कि जिसके व्यक्तित्व में जो कमी है, उसे दूर करने की चेष्टा सिखाना ही वास्तविक शिक्षा का लक्ष्य है।

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य ऐसे शिक्षक एवं शिक्षार्थियों का निर्माण करना है जो मानव-समाज में उपयुक्त स्थान ग्रहण कर सकें क्योंकि शिक्षा अर्थवती होनी चाहिए, केवल अर्थकरी नहीं। मनुष्य की इतिकर्तव्यता केवल ज्ञान के अर्जन में नहीं है । मनुष्य-जीवन मात्र अस्तित्व नहीं है, उसका एक विशिष्ट प्रयोजन है और वह है 'आत्मज्ञान'। अतः सच्ची शिक्षा वही है जिससे आत्मा का सर्वोत्कृष्ट, सर्वाङ्गीण विकास हो - जो शिक्षा आत्मज्ञान न करा सके, आगे बढ़ने की प्रेरणा न दे सके, मनुष्य के जीवन को स्पर्श न करे - वह नैतिक शिक्षा नहीं हो सकती । छान्दोग्य उपनिषद् में जब नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण, विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, ललितकला तथा ब्रह्मविद्या आदि सब पढ़ लिए हैं, वे 'मन्त्रवित्' बन चुके हैं किन्तु 'आत्मवित्' नहीं,[35] तब उनका यही अभिप्राय है कि उनके पास पुस्तकीय ज्ञान तो बहुत है किन्तु आत्मज्ञान यानि वैयक्तिक शक्तियों के विकास की विद्या नहीं है । आज के अधिकांश शिक्षित व्यक्तियों की यही स्थिति है - डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, वाणिज्यशास्त्रविशारद, प्रबन्धकलानिष्णात तो बढ़ रहे हैं किन्तु आत्मवान् नैतिक व्यक्तियों के निर्माण की प्रक्रिया सर्वथा शिथिल हो गई है - संस्कारों एवं संस्कारी मानवों के अभाव की चुनौती प्रतिदिन उभर रही है, अतः वर्तमान काल में नैतिक शिक्षा का प्रश्न अतीव प्रासङ्गिक है।

नैतिक शिक्षा पाण्डित्य का पर्याय नहीं है, वह तो विवेकबुद्धि को जगाने का, जीवन को भली प्रकार जान लेने का ही नाम है। नैतिक शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास के साथ-साथ श्रेष्ठ आचरण को उत्पन्न करना है, स्वस्थ विचारधारा के साथ ही स्वभाव-माधुर्य को विकसित करना है । नैतिक रूप से शिक्षित व्यक्ति अपनी जीवन-कला में एक विशिष्ट परिष्कार कर देता है जो उसके लक्ष्यहीन जीवन-संग्राम की व्यर्थता में भी सार्थकता का समावेश करता है तथा फिर उसके लिए मनुष्य सम्बन्धी कोई भी वस्तु विजातीय, साधारण या अपवित्र नहीं रह जाती। अन्य शब्दों में शालीनता, निर्भयता एवं महत्ता ही नैतिक शिक्षा का सार है। विश्वविख्यात विचारक प्लेटो के शब्दों में ''शिक्षा का अर्थ आत्मा को इस प्रकार चक्रवत् संचालित करना है कि उसके नाना रूपों में एकत्व की, एकरूपत्व की उपलब्धि हो सके, भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों का पृथक्-पृथक् ज्ञान न हो।'' अतः केवल कुतूहल को सन्तुष्ट करने वाला ज्ञान नैतिक शिक्षा नहीं कहा जा सकता, न ही किसी ग्रन्थ के नवीनतम संस्करण से कुछ जानकारी मस्तिष्क में ठूँस लेना सच्ची शिक्षा का अर्थ है । वह शिक्षा वस्तुतः अधूरी एवं एकांगी है जो विद्यार्थियों के मन को व्यवस्थित करने का यथेष्ट अवसर देकर उन्हें आत्मज्ञान तथा विश्व में अपने स्थान का यथोचित बोध नहीं करा देती या जो अध्ययन काल में ही चारों ओर फैले विश्व के विषय में जीवन की प्रगति तथा मस्तिष्क के विकास की बुद्धि नहीं देती जिससे हमें उस आत्मतत्त्व का सम्यक् दर्शन हो सके जो छोटे-बड़े सभी प्राणियों के जीवन का आधार है। उपनिषद् के ऋषियों की दृष्टि में भी शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यों के मस्तिष्क को नवीन ज्ञान से भर देना ही नहीं, वरन् उनके पूर्ण आध्यात्मिक विकास में सहायता देना और आध्यात्मिक वस्तुओं का मूल्य समझाना है तथा उनकी दृष्टि इस क्षणभंगुर संसार से हटाकर कुछ नित्य पदार्थों की ओर तथा कोरे उपयोगितावाद से दूर अमरता की ओर ले जाना है[36] क्योंकि धन से तो मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता।[37]

यह अत्यन्त खेद एवं दुर्भाग्य का विषय है कि जिस उपनिषद् वाङ्मय तथा जिस संस्कृत वाणी में ऐसा शाश्वत, सार्वभौम एवं पावन ज्ञान सन्निहित है उसकी आज की शिक्षा-प्रणाली में घोर उपेक्षा हो रही है । यही कारण है कि आज शिक्षा के अवसर

एवं शिक्षित जनों की संख्या में वृद्धि होने पर भी उसमें हमारे चिन्तन की गूँज नहीं है, हमारी परम्परा की पकड़ नहीं है और मानवता का मान नहीं है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति जीवन के प्रति असन्तुष्ट है और अपनी-अपनी परिस्थितियों के साथ स्वयं को समायोजित कर पाने में अक्षम है । पाशविक अनैतिक प्रवृत्तियों का विष सर्वत्र व्याप्त है । शिक्षार्थियों का न तो शारीरिक तेज विकसित हो रहा है, न ही नैतिक बल - केवल अनैतिकता, भौतिकता एवं बौद्धिकता का चाकचिक्य बढ़ रहा है । पाश्चात्य आदर्शों पर आधारित हमारी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था विदेशी भाषा, विदेशी भूषा, विदेशी आचार-विचार का ही प्रचार कर रही है। अतः आज महती आवश्यकता है कि हम अपने देश की विपुल मेधा का समुचित विकास करने हेतु संस्कृत एवं संस्कृति को शिक्षा-पद्धति में सम्मानित स्थान दें तथा उन महनीय ऋषियों की अन्तःप्रज्ञा एवं तपःपूत जीवन-शैली से नैतिक शिक्षा के सूत्र-संकेतों को ग्रहण कर वर्तमान में पुनः उनकी प्रतिष्ठा का प्रयास करें । तदनुसार, नैतिक शिक्षा में मानवजीवन के वास्तविक उद्देश्य तथा महत्त्व का ज्ञान, सत्यासत्य - विवेक, ज्ञानार्जन की क्षमता का विकास, व्यक्तिगत चरित्र-निर्माण तथा सामाजिक दायित्व एवं सांस्कृतिक दाय का बोध समाविष्ट होना चाहिए । सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य 'मनुष्य' निर्माण ही हो, सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है जिस प्रक्रिया से मनुष्य की इच्छा शक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसी का नाम है शिक्षा''।[38] अन्त में, उपनिषद् के ऋषि के शब्दों में, यही प्रार्थना है कि हमारी शिक्षा हमें वीर्यवान् बनाए, हम तेजस्वी हों[39] तथा नैतिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु 'संस्कृत' एवं 'सक्षम' बनें - 'तेजस्वि नावधीतमस्तु'।

सन्दर्भ सङ्केत

1. महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति। मनुस्मृति, 7/8
   न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। महाभारत, शान्तिपर्व।
2. मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। ऋ० 10/53/6
3. उद्वयं तमसस्परि, स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।। यजु० 35/14
4. ऋ० 2/16/9 तथा 3/43/5
5. आचार्योद्धव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति। छान्दोग्य० 4/9/3
   अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति। कठोपनिषद्, 1/2/3
6. तैत्तिरीय उप० शिक्षावल्ली, 3/1
7. तैत्तिरीय आरण्यक, 2/9-15
8. शतपथ 13/2/6/10
9. तैत्तिरीय उप० शिक्षावल्ली, 3/2
10. मुण्डक, 1/2/3 एवं छान्दोग्य 4/9/3
11. मुण्डक, 3/10
12. 'आचार्यकुलवासिन्' छान्दोग्य 2/23/1
    'अन्तेवासिन्' वही 6/3/7 तथा तैत्तिरीय उप० 1/3/3, 2/1
13. छान्दोग्य, 4/3/5
14. वही, 4/10/1-2
15. वही, 4/4/5 तथा बृहदारण्यक 3/1/1-2
16. नाप्रशान्ताय दातव्यम् - श्वेताश्व० 6/22
17. कठ० 2/24

18. वही
19. श्वेताश्व० 6/22
20. सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतो सुखम् ?
21. ऐतरेय आरण्यक, 5/3
22. गोपथ ब्राह्मण 2/1/2/1-9
23. मुण्डक 3/2/10-11
24. आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते। अथर्व० 11/5/17
25. बृहदा० 4/4/22
26. केन० 4/8
27. कठ० 2/15
28. मुण्डक 1/2/11
29. प्रश्न० 1/10
30. छान्दोग्य, 2/23/
31. सर्वोपनिषत्सार, 2
32. छान्दोग्य, 6/1/2-3
33. गीता में श्रीकृष्ण अपना सम्पूर्ण-उपदेश देने के पश्चात् अर्जुन से यही कहते हैं - 'यथेच्छसि तथा कुरु'।
34. बृहदा० 5/2/1
35. सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्। छान्दोग्य, 7/1/3
36. येनाहं नामृता स्यां किमहंतेन कुर्याम्? बृहदा० 2/4/2
37. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। कठोप० 1/1/27
38. स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा, पृ० 8
39. कठ० शान्तिपाठ

On Gārgī and Maitreyī

Dr. G.U. Thite

A student of Saṁskṛt literature is likely to feel that in the vedic period there were some women who were great philosophers. They can be described as Brahmavādinis. Thus for example A.S. ALTEKAR in his book 'Position of Women in Hindu civilization (Delhi, 1962 (3rd edition)), p. 11-12 says that the lady philosopher Gārgī, "had the honour to be the spokesman of distinguished philosophers at the court of Janaka." He further says that Gārgī was "a dilectician and philosopher of high order." As far as ṚV is considered many hymns are ascribed to women rsis. It is also necessary to take into consideration the authorship of such female rsis.

According to the traditional definition of the concept of ṛṣi (yasya vākyam sa ṛṣiḥ, See Sāyaṇa on Ṛv. 10.10) anyone who utters a particular sentence is the ṛṣi of that sentence. The word ṛṣi therefore here does not necessarily mean the author or the original person from whose mind the thought expressed in that sentence has come out. This position creates problem in dialogue type hymns and leads to anomalies. Thus for example if this definition is accepted in a drama like Abhijñānaśākuntala we will have to accept Duṣyanta or Vidūṣaka as the ṛṣis of the sentences uttered by them and Śakuntalā or Priyamvadā as the ṛṣis of sentences uttered by them. Fortunately there is no difference of opinion as regards the authorship of Abhijñānaśākuntala and no one will take the characters like Duṣyanta as authors of the sentences uttered by them, In the field of ṚV however we do not know the authorship of many hymns and therefore we are likely to confound between the authors and ṛṣis. Thus for example Urvaṣī is regarded as the ṛṣi of the verses put in her mouth in ṚV 10.95. The same is the case of other characters like Yamī in ṚV 10.154 or Indrāṇī in Ṛv. 10.86. There are many such female characters to whom the status of ṛṣis is traditionally ascribed in connection with some Ṛgvedic mantras. It will be highly erroneous to consider these women ṛṣis as distinguished vedic women and to put them on par with rsis like Vaśiṣtha or Viśvāmitra who were not only authors of many vedic mantras but also intellectual leaders in vedic times.

In ŚB in the portion called Bṛhadāraṇyakopaniṣad, two women namely Gārgi Vācaknavī (14.6.6.1ff, 14.6.8.1ff) and Maitreyī (14.5.4.1ff, 14.7.3.1ff) appear. Out of these women Maitreyī is directly called Brahmavādinī (theologician). In Āsvalāyanagṛhyasūtra 3.4.4 also they are mentioned in the list of various acaryas to whom one has to gratify everyday. In ŚB 14.6.6.1 Gārgī asks Yājnavalkya a question about the principle on which everything is based. This question is asked by her in the assembly of scholars in the court of Janaka, where, some other scholars also question Yājñavalkya. Thus she asks : "The whole world is interwoven on waters lengthwise and crosswise, on what are the waters interwoven ?" Yājñavalkya replies : "On wind." She asks : "On what is wind interwoven ?" Yājñavalkya replies : "On aeriel space." The

---

Reader, Dept. of Sanskrit, University of Poona, Pune

questions and answers go on. Then we come to know that the aerial space is interwoven on the worlds of Sun, those on the worlds of gods, those on the worlds of Indra, those on the worlds of Prajāpati, those on the worlds of Brahman. Gārgī then asks : "On what are the worlds of Brahman interwoven ?" Then Yājnavalkya tells her not to question further. In ŚB 14.6.8.1ff also similar type of question is asked by her. In ŚB 14.5.4.3 and ŚB 14.7.3.3 Maitreyī asks Yājñavalkya about how to become immortal and then Yājñavalkya gives an explanation. Thus is case of Gārgī as well as Maitreyī we notice that it is Yājñavalkya who gives the philosophical expositions. Both Gārgī and Maitreyī try to create a forensic atmosphere but actually they do not have any philosophy of their own. They just ask sedantary questions but they cannot go beyond asking questions. Even as far as these questions are concerned, there are two possibiilities - the questions might have been asked by them out of simple puerile ludicism or out of feminine talkativeness or more probably it must be Yājñavalkya himself who himself must have briefed them to ask these questions. These two so called Brahmavādinīs do not appear to be more than female parrots who do not but re-echo Yājñavalkya's thoughts. It is therefore difficult to accept the title Brahmavādinī for either of them. At the most they can be called Brahmanuyoginīs (asking questions about Brahman).

In ŚB 14.7.3.1 Maitreyī is mentioned along with Kātyāyanī. It is said here that Yājñavalkya had two wives viz. Maitreyī and Kātyāyanī. The contrast between these two women is emphatically mentioned here by the statement that Kātyāyanī was Strīprajña (having the female intellectual capacities). Maitreyī on the other hand is said to be Brahmavādinī. It is implied that she had male intellectual capacities. It however appears that she is not much different from Kātyāyanī since as shown above she has not contributed to the doctrine of Brahman. On the other hand she seems to be more successful in winning the love of Yājñavalkya than Kātyayanī. Yājnavalkya clearly says "You being dear to me, have become something (more) dear." (priya khalu no bhavati sati priyamavṛtat /) (ŚB 14.7.3.5). It seems that even when entering into the stage of Samnyasa he does not intend to leave Maitreyī who also, along with him, is interested in Amṛtatva i.e. Mokṣa. Thus while Kātyayanī accompanies Yājnavalkya to attain Dharma and Artha, Maitreyī accompanies him for attaining Kāma and Mokṣa. Thus there is not much difference between Kātyāyanī and Maitreyī in degree but only in kind in being the complementary wives of Yājñavalkya. Kātyāyanī is more Strīprajña than Maitreyī. And since Maitreyī also has not displayed any original thinking she can also be called Strīprajña only and not Puruṣaprajña. She seems to be more interested in Yājñavalkya than in Amṛtatva. She exhibits her interest in Amṛtatva when she notices that Yājñavalkya is on the verge of being interested in Amṛtatva.

On the basis of the above details one may remark that Gārgī or Maitreyī had some interest in philosophical discussions. It is also possible that they received a lot of encouragement from Yājñavalkya and they used to accompany him in philosophical discussions. But it will be too farfetched to conclude that they themselves were distinguished philosopher. They were rather perenial students of Yājñavalkya.

वेद-संरक्षण में अनुक्रमणियों की भूमिका

डा० माया मालवीय

'अनुक्रमणी' का अर्थ है सूची, किसी विषय की सुव्यवस्थित क्रमबद्ध विषय-तालिका। अनुक्रमणी ग्रन्थ से तात्पर्य है प्राचीन वैदिक संहिताओं के विभिन्न अंशों का क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक, सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करने एवं सम्बद्ध समस्त ज्ञेय बिन्दुओं पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ। वेद हमारे सम्पूर्ण ज्ञान, धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य और संस्कृति के मूल स्तम्भ एवं हमारी अस्मिता हैं । इस तथ्य को समझते हुये हमारे पूर्वज तत्त्वदर्शी ऋषि प्राचीन काल से ही इस अमूल्य धरोहर की सुरक्षा के प्रति जागरूक एवं प्रयत्नशील थे। पदपाठादि विधियाँ एवं शिक्षा-कल्प-निरुक्त आदि छः वेदाङ्ग इसी प्रयास की विविध कड़ियाँ हैं। वेदाङ्गों से भी जो विषय या बिन्दु विवेचन से छूट गये थे, या जिन्हें वहाँ उनकी अप्रासंगिकता के कारण पर्याप्त या उचित महत्त्व और विस्तार नहीं दिया गया था, उन्हें इन अनुक्रमणियों में विशेष स्थान दिया गया। वैदिक संहिताओं की शाखागत विशेषताओं, वर्गों, मन्त्रों की संख्या, ऋषि, देवता, छन्द और तत्सम्बन्धित आख्यानों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करना अनुक्रमणियों का उद्देश्य है। इस प्रकार संहिताओं के मूल स्वरूप की रक्षा, उन्हें प्रक्षेप, परिवर्तन और भ्रंश इत्यादि दोषों से बचाने, मन्त्रों के क्रम और संख्यादि को सुनिश्चित करने के लिये वेदाङ्गों के पूरक रूप में 'अनुक्रमणी-साहित्य' की रचना की गई है। ये अनुक्रमणियाँ युगों से वेदार्थ को जानने-समझने एवं सुरक्षित रखने में जागरूक प्रहरी एवं पथ प्रदर्शक का कार्य कर रही हैं। अनुक्रमणियों के चौखटे में संहिताओं का ताना-बाना कसा रखा है। उसमें वेदों का एक-एक अक्षर, मंत्र, सूक्त, छन्द, देवता, ऋषि और उनका गोत्रादि गणना करके रख दिये गये हैं, इसी कारण अपने आविर्भाव काल से वे अब तक ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं।

ऋग्वेद की प्राचीन अनुक्रमणियों में शौनक, कात्यायन एवं माधव की अनुक्रमणियाँ हैं। कात्यायन कृत 'ऋक् सर्वानुक्रमणी' की टीका में षड्गुरुशिष्य ने कात्यायन को आचार्य शौनक का शिष्य कहा है—'एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् कात्यायनः'[1]। कात्यायन ने अपनी 'सर्वानुक्रमणी' के प्रारम्भिक वाक्य में 'यथोपदेशम्' शब्द के प्रयोग से संभवतः शौनक के प्रति अपनी अधमर्णता ही व्यक्त की है। 'वेदार्थदीपिका' में 'यथोपदेशम्' पद की व्याख्या में षड्गुरुशिष्य 'शौनकोपदेशानुक्रमणीदशक' का उल्लेख करते हैं।[2] षड्गुरुशिष्य ने अनेक बार इन अनुक्रमणियों का उल्लेख एवं उद्धरण दिया है जिससे प्रतीत होता है कि उनके समय ये अनुक्रमणियाँ प्रयोग में थीं। षड्गुरुशिष्य ने अपनी 'वेदार्थदीपिका' में शौनक कृत आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी और पदानुक्रमणी का कहीं उल्लेख और कहीं उनके अंशों को उद्धृत किया है। स्पष्टतः ये अनुक्रमणियाँ पहले वेद के विभिन्न पक्षों को अलग-अलग लेकर थीं। बाद में कात्यायन ने 'ऋग्वेद' की सभी अनुक्रमणियों के विषयों को संक्षिप्त कर 'सर्वानुक्रमणी' नामक ग्रन्थ में समाविष्ट किया। षड्गुरुशिष्य 'सर्वानुक्रमणी' को कात्यायनकृत मानते हैं– ''सर्वानुक्रमणी सैषा कात्यायन मुनेः कृतिः''[3]। षड्गुरुशिष्य ने 'बृहद्देवता' को भी अनुक्रमणी ही माना है। माधवभट्ट की अनुक्रमणियाँ मूलतः उनके 'ऋग्वेद - भाष्य' 'ऋगर्थदीपिका' के आठों अष्टकों के प्रति अध्याय के प्रारम्भ में ऋग्वेद के स्वर,

---

प्रवाचक, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद

आख्यात, निपात, शब्दावृत्ति, छन्द, देवता, मन्त्रार्थ आदि विषयों को लेकर व्याख्यान स्वरूप हैं। 'यजुर्वेद' की तीन अनुक्रमणियाँ प्राप्त हैं। एक तैत्तिरीयों की आत्रेयी शाखा की उसके सम्पूर्ण संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक के लिये, दूसरी चारायणीय शाखा की 'मन्त्राषाध्याय' नाम से और तीसरी माध्यन्दिन शाखा की कात्यायन कृत सर्वानुक्रमसूत्र नाम्नी अनुक्रमणी है। इसी प्रकार 'सामवेद' के लिये 'आर्षेय ब्राह्मण' और 'अथर्ववेद' के लिये 'बृहत्सर्वानुक्रमणी' नामक अनुक्रमणी ग्रन्थ हैं। अनुक्रमणी होते हुये भी 'आर्षेय ब्राह्मण' अपने 'ब्राह्मण' अभिधान के कारण ब्राह्मण साहित्य में परिगणित होता है।

'ऋग्वेद' की अनुक्रमणियों में 'सर्वानुक्रमणी' अपने नाम को सार्थक करते हुये अपने में ऋग्वेद के सभी विषयों को सूत्र शैली में समाहित किये हुये है। इसकी सूक्ष्म विवेचन पद्धति का एक निदर्शन प्रस्तुत है—

''अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके सूक्तप्रतीकऋक्संख्यऋषि दैवतछंदास्यनुक्रमिष्यामो यथोपदेशम्''।[4]

षड्गुरुशिष्य इसकी व्याख्या में अनुक्रमणी के नौ ज्ञातव्य विषयों का उल्लेख करते हैं—

''अत्र शास्त्रे सर्वत्र नवार्था ज्ञातव्याः। सूक्तादिः। ऋक्संख्या। छन्दः। पादः। अक्षराणि। दैवतं। ऋषेर्नाम। गोत्रं च। क्वचित्कथेति च।''[5]

एक दूसरा उदाहरण सर्वानुक्रमणी का देखें— ''अग्निं नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः''[6]

इसमें 'अग्निं' पद से ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र 'अग्निमीळे पुरोहितम्' का प्रतीक दिया गया है। नव संख्या से सूक्त की समस्त ऋक्संख्या सूचित की गई है। मधुच्छन्दा ऋषि का नाम है और 'वैश्वामित्र' से ऋषि का गोत्र बताया गया है।

अनुक्रमणियों के ज्ञान का महत्त्व

वेदों के पठन-पाठन, वैदिक यज्ञों के यजन-याजन और उनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये अनुक्रमणियों के ज्ञान की आवश्यकता बताई गई है। इनके ज्ञान के अभाव में श्रौत-स्मार्त-कर्म की फल प्राप्ति नहीं होती। ऋषि, देवता एवं छन्द आदि के अज्ञान से मंत्रकंटकत्व और यागकंटकत्व दोष उत्पन्न होते हैं। 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में कात्यायन सामवेदीय 'आर्षेय ब्राह्मण' के वचनों को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि ऋष्यादि के ज्ञान से रहित व्यक्ति स्थाणु हो जाता है, नरक में जाता है और नष्ट हो जाता है—

''न ह्येतज्ज्ञानमृते श्रौत-स्मार्त-कर्मप्रसिद्धिः। मंत्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविद्यार्जनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति। एताभ्यामनेवंविदो यातयामानि च्छंदांसि भवन्ति। स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान्भवतीति विज्ञायते।''[6]

षड्गुरुशिष्य इसकी व्याख्या में कहते हैं—

''अग्निहोत्रादिविश्वसृजामयनान्तं श्रुतिविहितं कल्पसूत्रे व्याख्यातं कर्म श्रौतम्। निषेकादिश्मशानान्तं स्मृतिगृह्यविहितं स्मार्तं सदाचारादिकर्म। प्रशब्द आदिकर्मणि। --- प्रकृतत्वात् सर्वानुक्रमणीगतं ज्ञानम्। अस्माज्ज्ञानादृते श्रौतस्मार्तकर्मणोः फलप्रदानसंभवाय वादोऽपि नास्ति.....।''

प्रमाण में वेदार्थदीपिकाकार ने प्राचीन वचन उद्धृत किये हैं जिन्हें सायण ने भी अपने 'ऋग्भाष्यभूमिका' में स्थान दिया है।

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ।

तथा

ऋषिच्छन्दो देवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि ।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ।।

और भी

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ।।

माधवभट्ट[7] के मतानुसार सम्प्रदाय, परम्परा की शुद्धि और अपने पापों के मार्जन के लिये समय-समय पर ऋचाओं की गणना अवश्य करनी चाहिये। इसी प्रकार छन्दों यथा अतिच्छन्दों, द्विपदाओं, प्रगाथों, न्यून अक्षरों वाले पादों और अवसानों के सम्बन्ध में भी अवश्य जानना चाहिये। इससे व्यक्ति समस्त संशयों से मुक्त हो जाता है।[8] देवताविषयक ज्ञान के प्रसंग में[9] देवताओं, प्रत्यक्ष-परोक्ष देवताओं, देवता वाचक पद से रहित मन्त्र, अश्व, कपिञ्जल, ओषधि इत्यादि देवताओं और प्रयाज, देवयाज, वसु, रुद्र आदि के देवत्व पर प्रकाश डाला गया है। अन्य वेदों की अनुक्रमणियों में भी इसी प्रकार अनुक्रमणी-गत ज्ञान का महत्त्व बताया गया है।

अनुक्रमणियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक संहिताओं के संकलन के साथ ही उनकी रक्षा के प्रयासों को गति मिल गई थी। 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र[10] में वेदाध्ययन के प्रसंग में आये एक सूत्र में 'अनुवाकाध्ययनम्' पद से 'अनुवाकानुक्रमणी' सदृश रचना-विधा से तात्पर्य प्रतीत होता है । आर्षेय ब्राह्मण एवं शौनकीय अनुक्रमणियाँ उपलब्ध निदर्शन मात्र हैं। अतः स्पष्ट है कि अनुक्रमणियों की चक्रव्यूह सदृश सुरक्षा प्रणाली के कारण ही वेदों का मूल स्वरूप सुरक्षित रह सका। अनुक्रमणी-साहित्य का यह हमारे लिये बहुत बड़ा योगदान है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. वेदार्थदीपिका, कात्यायनज्ञ सर्वानुक्रमणी ऑफ दि ऋग्वेद, सम्पा० ए० ए० मैक्डानल, आक्सफोर्ड, 1886, पृ० 1.
2. वही, 1.1
3. वेदार्थदीपिका, वही, पृ० 167 श्लोक 11.
4. वही, 1. पृ० 1
5. वेदार्थदीपिका, 1.1
6. वही, 1. पृ० 1
7. ऋगर्थदीपिका 5.27
8. वही, षष्ठ अध्याय
9. वही, सप्तम अध्याय
10. अविहितमनुवाकाध्ययनमाषाढवासन्तिकयोः (1.3.16)।

वेदार्थपारिजातकारकृतस्य श्रीजिज्ञासुमतसमीक्षणस्य समीक्षणम्

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा

श्री जिज्ञासुमहाभागैर्वेदार्थनिकषरूपाः केचन नियमाः प्रतिपादिताः। यथा—

१. वेदे सार्वभौमिकनियमानां प्रतिपादनं युक्तं येन मानव-समाजे परस्परविरोधो न स्यात्।

२. कस्यचिज्ज्ञातिविशेषस्य देशविशेषस्य सम्बन्धेन तत्र न भाव्यम्। ईश्वरीयैर्गुणैः कर्मभिः सृष्टिनियमैश्च विरोधो यत्र न स्यात् स एव वेदार्थः।

३. यः 'सर्वज्ञानमयो हि सः' इति रीत्या सर्वविद्याप्रकाशकः स्यात्।

४. यत्र मानवज्ञानसम्बन्धिनीनां सर्वासामावश्यकतानां पूर्तिः स्यात्, स एव वेदार्थः।

५. यश्च न्यायादिशास्त्रीयनियमविपरीतो न स्यात्, यश्च तर्कनिकषैः परीक्षितुं शक्येत।

६. यश्च मानवजीवितापेक्षितानि सर्वाण्यङ्गानि पूरयेत्।

७. यत्र व्यक्तिविशेषस्येतिहासोल्लेखो न स्यात्।

८. यश्चाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकत्रिविधार्थबोधकः स्यात् स वेदार्थः।

६. यश्चाप्तसम्मतः स्यादृषिमुन्यादिधारणाविपरीतो न स्यात्।

१०. यस्याज्ञा आज्ञान्तेरण न विरुध्येत।

एतद्व्याख्यानप्रसंगे तैः प्रोक्तम्—'सर्वतन्त्रसिद्धान्ताः सार्वभौमनियमाश्च त एव भवन्ति, ये सर्वमान्याः सर्वानुकूलाः, यान् सर्वे सदैव मन्यन्ते मंस्यन्ते च, ये च प्राणिमात्रस्य हितकारकास्ते सर्वमान्याः सर्वतन्त्रसिद्धान्ता एव सुखशान्तिप्रतिपादका भवन्ति। यथा—'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्-मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' (यजु० ३६।१८)----। तत्कथमीश्वरज्ञानं स्याद्येन देशेषु जातिषु च परस्परं विघटनं स्यात्। समताप्रतिपादनेन मानवहृदयवैषम्यनिवारणमेव तदीयं ध्येयम्' (पृ० ४३) इति।

अत्र वेदार्थपारिजातकाराणामयमाक्षेपः—

''प्रमाणानां वस्तुतन्त्रत्वेन पुरुषाभिप्रायानुसरणासंभवात्। वेदानुसारेणैव वेदार्थः प्रामाणिकः। अन्यस्य त्ववेदार्थत्वमेव। क्रिया हि पुरुषाभिप्रायानुसारिण्यो भवन्ति --। ज्ञानं तु न तथा। --- तस्मात् पूर्वत एव काञ्चिद् धारणां मनसि निधाय वेदार्थावगमाय तद्व्याख्यानाय नैव प्रवर्तितव्यम्। वृद्धव्यवहार-व्याकरणनिघण्टुनिरुक्तादिसापेक्षपदपदार्थशक्तिग्रह-सहकृतश्रौतसूत्रपूर्वोत्तर मीमांसान्यायाद्यनुगृहीतोपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वत्वफलोपपत्तिरूपैस्तात्पर्यग्राहकलिंगयुक्तैर्वेदवाक्यैरेव योऽर्थो निर्धार्येत स एव वेदार्थः।

— वेदार्थ - पृष्ठ ७६०

निदेशक, राजप्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जयपुर

अत्रोच्यते - यथा व्याकरणदयो भवन्निर्दिष्टा नियमा वेदार्थस्य निर्धारकास्तथा वेद ईश्वरकर्तृक ईश्वरीयं ज्ञानं वेत्येषोऽपि नियमो वेदस्वरूपान्तःपातीति वेदार्थस्य निर्धारक इत्यायातम्। किञ्च 'वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्। योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा' इति प्रतिपादयद्भिर्मम्मटाचार्यैर्व्यंग्यार्थस्य निर्धारणे वक्तुर्वैशिष्ट्यं स्पष्टतः स्वीकृतम्। वक्तुरस्य वैशिष्ट्यं यथा व्यंग्यार्थस्य निर्धारणे तथा यत्र कुत्रचिद् वाच्यार्थस्यापि निर्धारणे। अतएव कृतिविशेषस्य समीक्षार्थमाधुनिकसमीक्षाशास्त्रे कर्तृव्यक्तित्वसमीक्षणस्यापि सन्निवेशः। वेदे सार्वभौमनियमानां प्रतिपादनमित्यादयो ये नियमाः श्रीमद्भिर्जिज्ञासुमहाभागैर्निर्दिष्टास्ते वेद ईश्वरकर्तृक इत्यस्यैव नियमस्य सहजा परिणामा इत्येषामपि वेदस्वरूपान्तः पातित्वम्। न च व्याकरणादिषु नियमेषु सत्सु अन्येषामत्राकिञ्चित्करत्वमिति वाच्यम् श्रौतसूत्र- पूर्वोत्तरमीमांसान्यायादिरूपेण भवद्भिरपि नियमान्तराणां स्वीकृतत्वात्।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयमाक्षेपः —

सर्वमान्यसर्वतन्त्रस्यार्थस्य सर्वैरेव सर्वदैव ज्ञातस्यार्थस्य बोधकत्वे ज्ञातज्ञापकत्वेनाप्रामाण्यमेव वेदानामापतेत्।''

— वेदार्थ पृ० ७६१

अत्रोच्यते यत्र हि सर्वे सर्वमान्या अर्थाः पूर्वतो ज्ञाताः, न चैतदावश्यकं यद्वेदगतं सर्वमज्ञातार्थज्ञापकमेव स्यात्।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरेयं वाचोयुक्तिर्यद् वेदाक्षरैरेव तत्त्वनिर्णयो युक्त इति वेदार्थनिर्धारकाणां नियमान्तराणामकिञ्चित्करत्वम्। किञ्च शक्तिग्रहो लोकैकाश्रित इति लौकिककोषादिव्यतिरिक्तानां साधनानामत्राकिञ्चित्करत्वम्—

''यदुक्तं लौकिककोषाद्यनुसारेण वाच्यवाचकभावं निर्धार्य्य वेदार्थकरणादेव वेदार्थविलोपो जात इति, तदप्यमनोज्ञम्, शक्तिग्रह्य लोकैकसमधिगम्यत्वात्। अलौकिकैरर्थैर्लौकिकानां शब्दानां सम्बन्धग्रहासम्भवात्। — — — अतएव वेदाक्षरैरेव तत्त्वनिर्णयो युक्तः।'' — वेदार्थ पृ० ७६१

अत्रोच्यते-एतत्तु सत्यं यद्वेदाक्षरैरेव तत्त्वनिर्णयो विधेयः। परमेभिरक्षरैस्तत्त्वनिर्णयोऽयं कथं स्यादित्येतत् सम्बन्धिनामर्थनिर्धारकाणां नियमानामवलम्बनमत्रापरिहार्यम्। किञ्च कोषादितत्त्वानामत्रापेक्षणीयतेति तेऽपि यथावसरमवलम्बनीयाः।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयमाक्षेपः

''क ईश्वरः? के वा तदीया गुणाः? कानि वा तदीयानि कर्माणि? के वा सृष्टिनियमाः ? यदि प्रामाण्यमन्तरा वा तदधिगमः सम्भवति कृतं वेदप्रामाण्येन। वेदार्थज्ञानात्पूर्वं तदज्ञाने कथं तदनुसारेणार्थकरणं संभवति।'' — वेदार्थ पृ० ७६२

अत्रोच्यते—ईश्वरस्य तद्गुणादीनाञ्च वेदे स्थाने स्थाने संकीर्तनमिति स्पष्टार्थानामेवंविधानामंशानामुपयोगोऽस्पष्टार्थानामंशानामर्थस्य निर्धारणे विधेयः।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयमाक्षेपः

''वेदस्य सर्वविद्याग्रन्थवत्त्वमपि वेदादेव ज्ञायते न पुरुषाभिप्रायेण—। अन्यथा तन्त्रीसंदेशविज्ञानासिद्धये तरुतारशब्दाश्रयणवद् वर्तमानकम्प्यूटरराकेटादिविज्ञानस्यापि वैदिकत्वसाधनाय तादृशब्दाभासाश्रयणापातो न्यूनतापत्तिर्वा स्यात्।''

— वेदार्थ पृ० ७६२

अत्रोच्यते — वैदिकशब्दैरर्थनिर्धारणे अर्थानामिव शब्दानामप्युपयोगः, शब्दाश्चैतेऽर्थनिर्धारणाय नियमविशेषाश्रिता इति न हि शब्दाभासाश्रयणसम्भावना। किञ्चानेकेषामाधुनिकविज्ञानानां वेदे या स्थितिः सा बीजरूपेति न हि न्यूनतापत्तिः।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयमाक्षेपः —

''मानवजीवनस्य कान्यङ्गानि तज्ज्ञानसम्बन्धिन्यश्च का आवश्यकता इत्यपि दुर्ज्ञानम्।'' परिवर्तिनि संसारे तेषामैकरूप्याभावात्।'' — वेदार्थ पृ० ७६२

अत्रोच्यते — मानवजीवनस्याङ्गादिषु विशेषेण सह सामान्यस्यापि स्थितिः, सामान्यस्य चैतस्य वेदादधिगम इति सर्वं सुस्थम्।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयमाक्षेपः —

''न्यायादिशास्त्राणि वेदानुगामीनि न वेदास्तदनुगामिनः वेदानां तदनुसारित्वे स्वात्मस्वरूपस्याप्यनिर्णयापातात्। न्यायवैशेषिकानुसारेण ज्ञानादिगुणक आत्मा, सांख्ययोगरीत्या असंगश्चेतनस्वरूप आत्मा। एवमणुत्वमहत्त्वादिविरुद्धाभिप्रायाणाम् तेषामनुसरणे कथं वेदार्थनिर्धारणं स्यात्? अपि च, एवं तर्कनिकषैर्वेदार्थपरीक्षणमपि दुर्घटम्, तर्काप्रतिष्ठानस्य वेदान्तसूत्रैरेव प्रतिपादनात्, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इति श्रुतिविरोधाच्च। मनुनापि वेदशास्त्राविरोधिना तर्केण वेदार्थानुसन्धानमुक्तम्। स्वर्गाग्निहोत्रहोमयोस्तर्कागम्यत्वमेव, वेदार्थस्य प्रमाणान्तरगम्यत्वे वेदस्यानुवादकत्वेनाप्रामाण्यापत्तेः।'' वेदार्थ पृ० ७६२

अत्रोच्यते — न्यायादिशास्त्राणि वेदानुगामीनीति वेदार्थनिर्धारणे तेषामुपयोग इत्यायातम्। किञ्चैतदर्थनिर्धारणे न्यायादिशास्त्रव्यतिरिक्तानामपि तत्त्वानां यथावसरमुपयोग इति न हि आत्मस्वरूपनिर्धारणे वैषम्याविर्भावः। अपरञ्च ''नैषा तर्केण मतिरापनेया'' इत्यनेन न हि एतत्तात्पर्यं यद्वेदार्थनिर्धारणे तर्कस्यानुपयोगोऽपितु एतदेव तात्पर्यं यदात्मोपलब्धौ आत्मज्ञानस्य सत्यपि प्रत्यक्षकारणत्वे न हि तत्र तर्कस्य परोक्षकारणत्वं निवार्यते। अतएव वेदशास्त्राविरोधिना तर्केण वेदार्थोऽनुसन्धेय इति मनोर्वचः।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयमाक्षेपः —

''व्यक्तिविशेषेतिहासानुल्लेखाग्रहोऽपि न वेदार्थत्वनिकषः, शब्दार्थशक्त्या जायमानोल्लेखस्यापलापानर्हत्वात्। -- किञ्च, व्यक्तिविशेषेतिहासो वेदेषु नैव प्रतीयते, प्रतीयमानोऽपि वा नाभ्युपेतव्यः। -- प्रतीयते चेत् कथं प्रतीतिशरणैस्तदपलापो युक्तः, प्रमाणभूतवैदिकशब्दजनितायाः प्रतीतेः प्रमारूपत्वात्। --। अपि च, ऋक्संहितायामुर्वशीपुरुरवा आदीनामुपवर्णनमस्त्येव। यच्च 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्' (वा० सं० ३।६८) इति मन्त्रे 'चक्षुर्वै जमदग्निः' (८।१।२।३) इति शतपथवचनाच्चक्षुष एव जमदग्नित्वम्' इति, तदपि चिन्त्यम् तावतापि जमदग्निकश्यपादीनामपलापायोगात्। 'योषा वाव गोतमाग्निः' (छा० ५।७।१) इति प्रमाणेन योषायामग्नित्वारोपेऽपि वस्तुभूतस्याग्नेर्नापलापः सम्भवति।'' — वेदार्थ पृ० ७६३

अत्रोच्यते — वेद ईश्वरकर्तृक इत्यत्र व्यक्तिविशेषेतिहासस्योल्लेखोऽयुक्तः। किञ्च वेदस्येश्वरकर्तृकत्वमिति तत्त्वं वेदार्थनिर्धारकतत्त्वेष्वन्तर्भूतमित्यस्योपेक्षणेनार्थविशेषस्य या प्रतीतिः सा न हि तात्विकीति ज्ञेयम्। अपरञ्च 'चक्षुर्वै जमदग्निः' इत्यत्र न हि जमदग्नौ चक्षुष आरोप अपितु जमदग्निरित्यस्य चक्षुरित्यर्थः।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयमाक्षेपः —

''दयानन्देन सत्यार्थप्रकाशे लिखितम् - 'यस्येतिहासो भवति तस्य जन्मनोऽनन्तरमेव स लिख्यते" (सत्यार्थ प्रकाशे पृ० २२७) इति। तेनैव 'अग्ने देवेषु प्रवोच' (ऋ० १।२७।४) इति मन्त्रभाष्ये - हे अनन्तविद्यामय जगदीश्वर देवेषु सृष्ट्यादौ जातेषु पुण्यात्मस्वरग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रवोचः प्रोक्तवान् इति व्याख्यातम्। तद्रीत्याप्यनेनेतिहास एव सिध्यति। किञ्च, ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले चतुर्विंशं सूक्तमारभ्य त्रिंशं सूक्तं यावत् शुनः शेपस्याख्यानं प्रसिद्धम्।'' —वेदार्थ पृ० ७६४

अत्रोच्यते — महर्षिदयानन्दमहाभागैर्वेदे व्यक्तिगतेतिहासस्य निराकरणम् न तु सर्वगस्य। अनेन यत्र व्यक्ति-विशेषस्य नाम्नः प्रतीतिस्तत्र तत् प्रकारान्तरेण व्याख्येयम्।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयमाक्षेपः —

अत एवाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन वेदार्थत्रैविध्यमपि न मुख्यम्, अर्थभेदेन वाक्यभेदप्रसंगात्। — तथापि मुख्यार्थाविरोधेनैव लाक्षणिका गौणा अन्येऽर्थाः। कैश्चिदपि तथाऽव्याख्यानाच्च। केषाञ्चिन् मन्त्राणामनेकार्थत्वप्रदर्शनेऽपि समेषामाद्योपान्तमन्त्राणां संगतिभिस्तन्निर्वाहो न केनचित् कृतः। यथा कर्मार्थता आर्षप्रमाणसिद्धा न तथान्यार्थता।

—वेदार्थ पृ० ७६६

अत्रोच्यते — न हि अर्थत्रैविध्यस्य प्राधान्यमपितु वेदानां ब्रह्मणि तात्पर्यमित्याध्यात्मिकस्यार्थस्य प्राधान्यमाधिदैविकस्याधिभौतिकस्य चार्थस्य तदुपकारकत्वम् इति ज्ञेयम्। किञ्च केषाञ्चिन्मन्त्राणामनेकार्थताप्रदर्शनेन सरणिरियं पूर्वमपि मनाक्स्पृष्टेति भवतां सम्मतम्। महर्षिदयानन्दमहाभागैः सरणिरियमर्थनिर्धारकतत्त्वानुरोधेन स्वपरिणतिं नीतेति साऽभिनन्दनीया। अपरञ्च वेदस्य कर्मार्थत्वं न हि महर्षिणा सर्वथा निराकृतमपितु आधिदैविकार्थे आधिभौतिकार्थे च तस्यान्तर्भाव इति सर्वं सुस्थम्।

वेदार्थपारिजातकाराणामपरोऽयं तर्कः - ''वेदांगोपांगानामन्येषां वाऽऽर्षग्रन्थानां वेदव्याख्याने वेदार्थनुष्ठाने चोपयोगः। यत्तु ऋषिभिः सरलो वेदार्थः कुतो न कृतः (पृ० ५०) इत्याशङ्क्य निरर्थं बहु जल्पता ब्रह्मदत्तेन तेषां सार्वज्ञ्याभावादसामर्थ्यं दर्शितम्, यच्च तेनैव 'यास्कपाणिनिपतञ्जलिव्यासजैमिनिभिरेकैकविभागमेवाश्रित्य वेदार्थोपदेशः कृतः (पृ० ५०) इति साकूतमीरितम्, तदतीव मन्दम्। तथात्वे त्वदीयदयानन्दीयभाष्यं सुतरामपूर्णमशुद्धं च सिध्यति। यत्र मन्दरो मज्जति तत्र परमाणोः का कथा ? यत्राषाढवाते चलति द्विपेन्द्रोऽपि कम्पते तत्र चक्रीवतः का कथा। ऋषयोऽपि यदि वेदार्थं व्याख्यातुं न प्रभवन्ति तदा पदे पदे स्खलितस्य दयानन्दस्य व्याख्यानं सर्वतोभद्रमित्युक्तिरुपहासायैव।

वस्तुतस्तु — 'तस्मान्नाल्पश्रुतैर्मन्दैः कार्यो वेदार्थनिर्णयः' इति वेंकटमाधवीयवचनेन सामाजिकैः शिक्षा ग्राह्या। एवंविधा अर्धनास्तिकाः सम्पूर्णनास्तिकेभ्योऽपि दुश्चिकित्स्या भवन्ति। —वेदार्थ पृ० ७६८

अत्रोच्यते — आर्षग्रन्थानां वेदव्याख्याने उपयोग इति स्वीकृतमेवास्माभिः। वेदे ज्ञानकर्मोपासनादयो विषया इत्येषु अन्यतमस्य प्राधान्यदृष्ट्या पूर्वैर्यद्व्याख्यानं प्रस्तुतं तत्स्वाभाविकमेव। महर्षिदयानन्दमहाभागैः पुनर्मन्त्रेषु सविशेषं दत्तदृष्टिभिः पूर्ववर्तिनोऽखिलस्य साहित्यस्य साहाय्येन यत् त्रिविधं व्याख्यानं प्रस्तुतं तत्र कश्चन विशेष इति निश्चितम्।

अद्वैतवाद

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

भारत की वैचारिक परम्परा में दर्शन व धर्म एक दूसरे के पूरक हैं। दर्शन की नींव पर ही धर्म का भवन खड़ा किया जाता है । 'दृष्' (दर्शन) धातु से दर्शन धर्म निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है —'दृश्यते ज्ञायते सत्यमनेनेति दर्शनम्' अर्थात् जिससे सत्य को जाना जा सके उस ऊहापोह रूपी सन्नियत विचारश्रृंखला को दर्शन कहते हैं । इसी दार्शनिक सत्य का धारण करना उसका कार्यान्वित होना 'धर्म' है । दर्शन का सम्बन्ध विचार से है, धर्म का आचार से। इस प्रकार दर्शन का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप धर्म कहलाता है । दर्शन व धर्म के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही हमारे यहाँ वेद, उपनिषद्, गीता आदि दर्शन के ग्रन्थ भी हैं और धर्म के भी।

महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है—'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः' जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है ।[1] हमारी संहिताएँ, उपनिषदें तथा दर्शनशास्त्र जगत् को व्यवहार जगत् और परमार्थ जगत् के रूप में विभक्त करना स्वीकार नहीं करते । दोनों में यथार्थ एवं समन्वय बुद्धि होना सम्यक् दर्शन है । अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है । 'अभ्युदय' का प्रसिद्ध अर्थ ऐहिक सुख अर्थात् वर्तमान जीवन में भौतिक साधनों द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य है । भविष्यत् का आधार वर्तमान है । मरने के बाद क्या होगा ? इससे पहले यह जानना आवश्यक है कि हम जीवित कैसे रह सकते हैं। स्थूल को जानने पर सूक्ष्म के प्रति जिज्ञासा एवं प्रवृत्ति जागृत होती है और उसे जानने की क्षमता प्राप्त होती है । अतः जन्मान्तर की चिन्ता करने से पहले वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं को जुटाना आवश्यक है । मोक्ष प्राप्ति में साधन रूप शरीर तथा 'भोगापवर्गार्थदृश्यम्' की उपेक्षा नहीं की जा सकती । तत्त्वज्ञान अर्थात् विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के उपकरणों की उपलब्धि एवं उनका समुचित उपयोग संभव है। द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य ज्ञान से अभ्युदय की सिद्धि का यही अर्थ है। अभ्युदय के साथ-साथ द्रव्यादि पदार्थों का ज्ञान निःश्रेयस् की सिद्धि में भी उपयोगी है । यह ठीक है कि द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओं के जनक हैं, परन्तु अपने स्वरूप में वे 'श्वोभावाः' क्षणभंगुर अथवा नश्वर हैं । पदार्थों की इस वास्तविकता को जान लेने पर विवेकी पुरुष आत्मवित् हो जाता है अर्थात् अपने को पहचानने लगता है । द्रव्यादि पदार्थ परिणामी एवं नश्वर हैं; इनसे भिन्न एक आत्मतत्त्व ही अविनाशी तत्त्व है—ऐसा जान कर वह देह और उसकी वासनाओं में लिप्त न रहकर जन्म-जन्मान्तर के आवर्त्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है । यही ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस् के मार्ग में प्रवृत्त करता है । अभ्युदय और निःश्रेयस् में टकराव होने पर वह 'परोक्षप्रिया इव हिदेवाः' के अनुसार निःश्रेयस् को चुन लेता है। इसी रूप में तत्त्वज्ञान निःश्रेयस् की सिद्धि में सहायक है।

चमत्कारों में विश्वास रखने वाला अथवा ऐन्द्रजालिक प्रदर्शनों में रुचि लेने वाला व्यक्ति ही संसार को किसी मायावी की लीला मान सकता है । सृष्टि के रंगमंच पर किसी के हाथ की कठपुतली बनकर नाचने वाले हम नहीं हैं । हमारे जीवन का कोई

पूर्व प्रिंसिपल व फेलो, पञ्जाब विश्वविद्यालय

लक्ष्य है, किसी अदृष्ट शक्ति से प्रेरणा पाकर हमें कुछ बनना है । संसार को मिथ्या या स्वप्न मानने वाले व्यक्ति के लिए तत्त्वज्ञान का कोई अर्थ नहीं है । किन्तु मनुष्य सृष्टि के आरम्भ से ही तत्त्व की खोज करता आया है। यदि वह संसार को मिथ्या, स्वप्न या अध्याय मानता तो वह अपने सर्वतोन्मुखी ज्ञान की अभिवृद्धि न कर पाता । सृष्टि में अभिव्यक्त ऋत और सत्य को जान कर मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति करता है । साधारणतः धर्म विषयक जिज्ञासा चित्त को ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के लिए तैयार करती है । ऐसे व्यक्ति जो सीधे ब्रह्मजिज्ञासा में तत्पर हो जाते हैं, वे हैं, जिन्होंने पूर्वजन्म में अपेक्षित कर्तव्यों का पालन किया होता है।

जगत् के मूल कारण अथवा तत्त्व की खोज में दार्शनिकों की रुचि सदा से रही है । दृश्यमान जगत् में हम चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकार की सत्ताओं का अनुभव करते हैं। तब वह मूल तत्त्व क्या है जिसका यह सारा जगत् रूपान्तर मात्र है ? एक विचारधारा के अनुसार एकमात्र मूल तत्त्व अचेतन है। अवस्था विशेष में आकर वही विकसित होकर चैतन्य में परिवर्तित हो जाता है। चेतन नाम की पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली कोई वस्तु नहीं है । भारतीय दर्शन में यह विचारधारा उसके प्रवर्त्तक बृहस्पति तथा उसके प्रचारक चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध हैं । भारतीय विचारदारा से प्रभावित यूनानी दर्शन को छोड़कर, पश्चिम का सम्पूर्ण दर्शन, जो हीगल तथा कालमार्क्स जैसे भौतिक तत्त्वज्ञों के सहारे आधुनिक पश्चात्य दर्शन के रूप में विकसित हुआ है, इसी विचारधारा का पोषक है । सर्वथा समान न होते हुए भी चार्वाक तथा पश्चात्य दर्शन मूलतः एक हैं।

दूसरी विचारधारा के अनुसार एकमात्र यथार्थ सत्ता चेतनब्रह्म है । उससे भिन्न अन्य कोई तत्त्व अपना अस्तित्व नहीं रखता है। जितना जड़ व चेतन जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी अपनी वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । एकमात्र ब्रह्म तत्त्व ही विभिन्न रूप में भासता है । इस विचारधारा को पल्लवित व पुष्पित करने का श्रेय आचार्य शंकर को है। उन्होंने कुछ प्राचीन ग्रन्थों को इसका आधार बनाया और इसी के अनुकूल उनकी व्याख्या की । इनमें वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) एकादश उपनिषद् और गीता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तीसरी विचारधारा के अनुसार चेतन व अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों की वास्तविक सत्ता है और दोनों के सहयोग से ही सृष्टिरचना संभव है । चेतन तत्त्व दो हैं—जीवात्मा और परमात्मा । अचेतन तत्त्व प्रकृति या प्रधान के नाम से जाना जाता है। यह वैदिक विचारधारा है जिसका निर्देश एवं संकेत वेद के अनेक सूक्तों व मन्त्रों में उपलब्ध होता है । इन विचारों को दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्राचीन काल में महर्षि कपिल को और चिरकाल से तिरोहित इस विचारधारा को वर्तमान में प्रवहमान करने का श्रेय महर्षि दयानन्द को है।

बुद्ध ने वैदिक परम्परा के नाम पर होने वाले भ्रष्टाचार के विरुद्ध विद्रोह किया। उनके उपदेशों में ईश्वर के निषेधपरक कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलते। परन्तु कालान्तर में उनके शिष्यों ने वार्षगण्य तथा चार्वाक के विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध मत के मन्तव्यों में से ईश्वर को निकाल दिया। जब यह नास्तिक विचारधारा अति को पार कर गई तो इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। इस पर कुछ विद्वानों ने घोषणा कर दी कि यथार्थ सत्ता एक मात्र ब्रह्म ही है, अन्य सब अज्ञानजन्य भ्रम है । इन विद्वानों ने बौद्धमत की ब्रह्म क्रियाओं को तो ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया, परन्तु उनके 'शून्य' के आसन पर अपने ब्रह्म को बिठा दिया। इसी विचारधारा को आगे चल कर गौड़वाद और शंकराचार्य ने पुष्ट किया।

अद्वैतवाद के बौद्ध रूप का प्रभाव गौड़पाद की कारिकाओं में स्पष्ट है। शंकराचार्य भी उससे अछूते नहीं रहे । इन भावनाओं से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह डाला । इसके विपरीत दूसरे विद्वानों का कहना है कि शंकर

उपनिषदों के पूर्ण ज्ञाता थे । उनमें प्रतिपादित दार्शनिक तत्त्वों की अनुभूति उन्हें अवश्य रही होगी। ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों की ही शिक्षा का प्रतिपादन किया गया है । उपनिषदों में अद्वैतमत की प्रतीति कराने वाली अनेक श्रुतियाँ थीं और उनके विशेष अध्ययन से उपनिषदों में अद्वैतमत की ही मुख्य धारा प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है । उसी से प्रभावित होकर उसी के आधार पर शंकर ने अपना अद्वैतवाद का गगनचुम्बी महल खड़ा किया है।

शंकर के पश्चात् रामानुजाचार्य, भास्कराचार्य, विज्ञानभिक्षु, वल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि अनेक आचार्य हुए । इन सभी ने अद्वैतवाद का पोषण किया। किन्तु सबका अद्वैतवाद एक दूसरे से भिन्न था । अनेकों ने अपने-अपने अद्वैतवाद के प्रचारार्थ उनका नामकरण भी किया—विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत । इनमें कौन सच्चा है और कौन झूठा यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है । इतना निश्चित है कि वे सभी सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि सत्य का स्वरूप सदा एक ही हो सकता है । अतः उसका निर्धारण करना सरल कार्य नहीं है । समय-समय पर पारदर्शी विद्वान् उसे जानने का प्रयत्न करते आये हैं।

वैदिक दर्शन के महान् आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि सभी ने अपनी विचारधारा का आधार उपनिषदों को बनाया। जिन आचार्यों ने उपनिषदों पर अपने भाष्य नहीं लिखे उन्होंने भी अपने दर्शनशास्त्र का आधार इन्हीं ग्रन्थों को बनाया । यद्यपि इन सभी आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में भारी मतभेद है । तथापि उनमें से प्रत्येक अपने सिद्धान्त को उपनिषद् मूलक बताता है। शंकर के अनुसार उपनिषद् अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं तो रामानुज के अनुसार वे विशिष्टाद्वैत के प्रेरणास्रोत हैं । मध्व इन्हीं में द्वैतवाद का दर्शन करते हैं । सम्भवतः इसी कारण मैक्समूलर ने उपनिषदों के विषय में यह धारणा बना ली कि इनमें कोई नियमित व सुस्पष्ट विचारधारा नहीं मिलती—

"The souls are regarded as the effects of Brahman, since they cannot exist apart from him. . . . . The soul is not one with God, since it differs in essential character from him."[2]

वस्तुतः शंकर का अभिमत अद्वैतवाद या मायावाद उपनिषदों तथा षड्दर्शनों में कहीं दिखाई नहीं देता । वहाँ पारमार्थिक तथा व्यावहारिक सत्ताओं के भेद की बात भी कहीं नहीं मिलती । उपनिषदों में कहीं-कहीं जीवात्मा तथा परमात्मा में आपाततः तादात्म्य की प्रतीति विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किए जाने के कारण है। जीव, जगत् और ब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध अभेदपरक मानने से वेदों, उपनिषदों तथा दर्शनशास्त्रों के उन असंख्य वाक्यों से विरोध होगा जिनमें इनके पारस्परिक भेद पर बल देते हुए जीव के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किये जाने की प्रेरणा की गई है।

संसार में सुख-दुख प्रत्यक्ष हैं । शंकर की घोषणा है—"यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति"[3]— जिस प्रकार संसारी जीवात्मा सांसारिक दुःखों को अनुभव करता है, वैसे ईश्वर नहीं करता, दुःखों को सदा अनुभव करने वाला जीवात्मा और कभी भी अनुभव न करने वाला ईश्वर—ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? स्पष्टतः दो मानकर भी अद्वैत की स्थापना कैसे हो सकती है ? शांकर भाष्य में उपलब्ध अनेक परस्पर विरोधी वचनों से सिद्ध होता है कि शंकर जैसे प्रकाण्ड विद्वान् भी ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का प्रतिषेध करने के प्रयास में सफल नहीं हो सके।

शंकर के जगत् के मिथ्यापरक दर्शन में सांसारिक जीवन अथवा नागरिक कर्तव्यों का कुछ भी अर्थ नहीं । यदि यह संसार और इसके रिश्ते-नाते सब मिथ्या हैं तो हमें इसमें रुचि लेने की क्या आवश्यकता है । यदि हमें जीवन के क्रीड़ा-क्षेत्र में खेलना है तो हम अपने भीतर यह भावना रखकर, कि यह सब छलावा मात्र है और इससे प्राप्त होने वाले पुरस्कार शून्य हैं, खेल में भाग नहीं ले सकते । इस प्रकार की प्रकल्पना का सबसे बड़ा दोष यह है कि हम ऐसे प्रमेय पदार्थों में लगे रहने को बाध्य होते हैं

जिनके अस्तित्व का हम बराबर निषेध कर रहे होते हैं। यदि बन्धन और मोक्ष, जीवात्मा और जगत् सब मिथ्या हैं तो वस्तुतः एक मिथ्या आत्मा, इस मिथ्या जगत् में, मिथ्या, बन्धनों से, मुक्त होने का मिथ्या प्रयास कर रहा है। कोई भी दर्शन इस प्रकार के मत को युक्तियुक्त मान कर शान्ति की खोज में लगे मनुष्यों को शान्ति प्राप्त नहीं करा सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य की दार्शनिक सन्तुष्टि इसी में होती है कि सम्पूर्ण जगत् का पर्यवसान एकत्व में हो। परन्तु दर्शन का लक्ष्य सत्य की खोज करना है, न कि अपनी भावना की सन्तुष्टि के लिए सत्य का गला घोटना। हमें अच्छा लगे या न लगे, किन्तु वस्तुस्थिति यही है कि हम न ब्रह्म थे, न हैं और न कभी होंगे । जिस प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञ है, उसी प्रकार जीव अल्पज्ञ है और प्रकृति अज्ञ है । तीनों स्वभाव से ऐसे हैं, और ऐसे ही बने रहेंगे । यही वैदिक दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। अद्वैतवाद की घोषणा करने वाले भी इस तथ्य को झुठला नहीं सके । शुद्ध चेतन ब्रह्म के साथ अनादि माया की कल्पना करके उन्हें प्रकारान्तर से स्वीकार करना पड़ा कि केवल ब्रह्म तत्त्व समस्त चेतनाचेतन जगत् का मूल नहीं हो सकता।

सन्दर्भ-सङ्केत

1. वैशेषिक दर्शन 1.1.2
2. Max Muller, Vedānta Philosophy, p. 20.
3. वेदान्त, शाङ्करभाष्य, 2.3.46

A Note on Ākāsādhikarana in the Light of Bhāmati

Dr. S. Ranganath

Ākāsādhikarana is one of the important Adhikaranas in the Brahma Sutras of Bādarāyana. Vācaspati Misra says that in the previous Adhikarana namely Antaradhikarana, Brahman in its extraordinary appearance is described as Upāsya, but not the Jivātman residing in the body of Āditya. He says that in the present Adhikarana the Brahman as the Upāsya as gleaned from the Udgītha in the manifestation of its extraordinary form. The present Adhikarana does not intend to present Bhūtakāsa as the Upāsya.

The pūrva paksa view is that the Visaya Vākya from the Chāndogya Upanisad namely "Asya lokasya kā gatih iti ho vāca" etc. as referring to the Bhūtākāsa itself. The purva paksa does not deny the application of the term Ākāsa to Brahman, but its view is that it is only a secondary application while the primary application of the term ākāsa is only with reference to Bhūtākāsa. According to the purva paksha the subsequent portion of the statement namely "sarvāni ha vā imāni bhutāni ākāsādeva samutpādyante" etc. should be somehow interpreted to suit the context of Bhutakasa because the question "Asya lokāsya kā gatih" and the answer "ākāsa iti" are mainly referring to Bhūtākasā. In the context of the particular question and the particular answer, the subsequent statement being the adjectives are only subordinate.

Thus Vācaspati Misra elucidates the substance of the purva paksa presented by the Bhasyakara only to highlight the Siddhanta answer to it.

Following the line of the Bhasyakara's argument, Vācaspati Misra ridicules the pūrva paksa view by saying that "yadyapi ākāsa padam prasanartham, tathapi yat prstam tadeva prativaktavyam. Amran prstah kovidaran acaste. Tadiha asya lokasya ka gatih it. prasnah, drsyamāna nāmarupa prapanca mātra gati visayah iti tadanurodhāt yaeva sarva lokasya gatih sa eva akasa sabdena prati vaktavyah. Na ca bhūtākasa sarvasya lokasya gatih, tasyāpi lokamadhya patitatvat."

Although the term ākāsa is used in its primary sense, even then, the answer should be inkeeping with what is intended by the question. When somebody asks about the mangoes no wise person would refer to Kovidaras. The question here is, asya lokasya kā gatih-what is the source of this universe ? Thus the question pertains to the source of this universe in all its visible forms and names. Hence the answer should accordingly refer to that source of the universe which is intended by the word ākāsa. The bhasyakāra cannot be regarded as the source of such a universe because he is a part and parcel of the same universe.

Reader, Dept. of Sanskrit, N.M.K.R.V. College for Women, Bangalore

Again following the line of argument of the Bhāṣyakāra, Vācaspati Miśra thrashes the pūrva pakṣa by showing how inconsistent is their understanding of the answer given to the question. In order to fall in line with their line of thinking one should interpret the word asya in the statement "sarvāṇi ha vā imāni bhutāni ākāśādeva samutpadyante" as referring to something having a limited scope, and further the term eva will have to be taken in the sense of the either being the only source, which is absolutely untenable. This cannot be the only source because tejas and other elements are also spoken as the source of the universe because they are all part and parcel of the universe. Hence the ultimate source of the universe should be Brahman alone. Similarly, the final resort of the world is Brahman. The world is finally absorbed into Brahman. Hence the term ākāśa refers to Brahman and nothing else. This is the conclusion of the Adhikaraṇa arrived at by the Bhāṣyakāra and well supported by Vācaspati Miśra with his additional arguments.

पाणिनीय धात्वधिकार के रहस्य

डॉ० पुष्पा दीक्षित

पाणिनि अष्टाध्यायी को पढ़ने की दो विधियाँ विश्व में प्रचलित हैं। एक प्राचीन विधि, जिसमें अष्टध्यायी के सूत्रों को अष्टाध्यायी के क्रम से ही पढ़ा जाता है। द्वितीय नवीन विधि है, जिसमें उन्हीं सूत्रों को प्रक्रिया की दृष्टि से प्रयोग को लक्ष्य करके पढ़ा जाता है।

प्रक्रिया वाली जो नवीन विधि है, उसके बिना समग्रता नहीं आती, अत: उससे बचने के लिए स्वामी दयानन्द ने पुन: अष्टाध्यायी के सूत्र क्रम से अष्टाध्यायी को पढ़े जाने हेतु उद्घोष किया, प्रयास किया तथा ग्रन्थों का प्रणयन किया। दोनों पद्धतियों से देश में लोग व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन कर रहे हैं, किन्तु पाणिनि के मन में यह सारा शास्त्र प्रणीत करने के पीछे कौन सा विज्ञान था उसका दर्शन ये दोनों विधियाँ नहीं करा पातीं। ये विधियाँ स्थूल से सूक्ष्म तक चलती हैं परन्तु वास्तव में एक स्थूल दृष्टि होती है एक सूक्ष्म दृष्टि होती है और तीसरी होती है तत्त्व दृष्टि। इस अन्तिम दृष्टि से विचार करने पर दोनों ही दृष्टियाँ अपने आप अधिगत हो जाती हैं। उस दृष्टि से व्याकरण शास्त्र को आज के द्रुतयुग में व्यवस्थित करने की एक महती आवश्यकता है, जिससे इतने क्लिष्ट शास्त्र के रहस्यों को ऐसे खोल दिया जाए कि पूरे व्याकरण शास्त्र (अष्टाध्यायी) की संरचना के आधार हस्तगत हो जाएँ। उन आधारों को जाने बिना आप किसी भी विधि से पढ़िए-पढ़ाइये, रहस्य रहस्य ही बने रहते हैं। नव्य कहते हैं बारह वर्षों में व्याकरण पूर्ण होता है। ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी कहते हैं, चार वर्षों में होता है। यह चार वर्षों में तब होता है जब गुरुजी लगातार चार वर्षों में सम्मुख बैठा कर पढ़ाएँ, तब भी प्रक्रिया की कमजोरी बनी ही रहती है। इस समस्त विज्ञान पर सर्वथा नवीन दृष्टि से विचार किया गया है। इस विज्ञान को यदि दो महीने में समझ लिया जाए तो फिर पूरा व्याकरण स्वयं पढ़ा जा सकता है। यह है पाणिनि व्याकरण की संरचना का विज्ञान। इसे इस लेख में केवल धात्वधिकार को लेकर लिखा गया है।

धात्वधिकार को इस प्रकार देखें–धात्वधिकार का सम्बन्ध तिङन्त और कृदन्त से है जो अष्टाध्यायी ३।१।९१ से ३।४।११७ तक चलता है। इसके पूर्व के जो सूत्र तृतीयाधिकार में हैं, वे भी ले देकर धातु से ही सम्बन्ध रखते हैं। श्री जिज्ञासु जी ने इन अधिकारों को व्यवस्थित करने का अत्यन्त श्लाघ्य प्रयत्न किया है तथापि उस विधि में भी आद्यन्त गुरु अपेक्षित है ही। वह विधि भी तत्त्व दृष्टि तक नहीं पहुँचा पाती। क्रम यह होना चाहिए कि सबसे पहले व्याकरण शास्त्र के रहस्य जाने जाएँ, उसके विज्ञान को समझा जाए, उसके बाद अष्टाध्यायी क्रम से श्री जिज्ञासु जी ने जो अधिकार प्रकरणों को सुव्यवस्थित किया है, उन्हें पढ़ा जाए, उसके बाद कौमुदी में प्रवेश किया जाए। यदि रहस्य, संरचना के आधार, आपको ज्ञात हैं तो ये ग्रन्थ अपने गूढ़ार्थ का प्रकाशन स्वयमेव कर देंगे, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। तो दोनों विधियों को सोपान न्याय से ग्रहण किया जाए, विरोधी भाव से नहीं, तभी लक्ष्य सिद्धि हो सकती है।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिलासपुर, (म० प्र०)

लकार

लकारों को लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् इस क्रम से पढ़ाने की रुढ़ि है। काशिका वाले क्रम को इस सब से कोई प्रयोजन नहीं है। भगवान् पाणिनि ने भी कोई यह क्रम तो बनाया नहीं है। यह व्यवस्था तो वस्तुतः अ, इ, उ इस अकारादि क्रम से बना ली गई है, अ से लट्, इ से लिट्, उ से लुट् आदि। इससे हुआ क्या? इससे यह हुआ कि सारे सार्वधातुक तथा आर्धधातुक लकारों की खिचड़ी बन गई। लट् लकार में जब छात्र ले देकर भवति सिद्ध करता है तभी उसके ऊपर सार्वधातुक लकार की पूरी प्रक्रिया को छोड़कर आर्धधातुक लिट् लकार का बभूव टूट पड़ता है, जिसमें बाकी सब कुछ तो आर्धधातुक है ही 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा को प्राप्त करने वाले तिङ् प्रत्यय तक लिट् च सूत्र से यहाँ आर्धधातुक हो गए हैं तो छात्र की बुद्धि में भटकाव होता है।

यदि इन लकारों में से लट्, लोट्, लङ् तथा विधिलिङ् इन चार सार्वधातुक लकारों को एक साथ पढ़ा दिया जाए तो दोनों प्रक्रियाएँ बुद्धि में अलग-अलग स्थापित हो जाती हैं। आर्धधातुक लकारों में भी लुट् के बाद लृट् और लृट् के बाद लृङ् पढ़ाकर अन्त में एकदम पृथक् विधि वाले लिट् तथा अन्त में लुङ् पढ़ाया जाए जिसके प्रत्यय बारह प्रकार के होते हैं तो तिङन्त की विधि अत्यन्त सरल हो जाती है। एक धातु को लेकर उसके १० लकार बनाने की तुलना में यह अत्यन्त सरल होता है कि भ्वादि गण के सारे धातु एक साथ (१० १०) अपने सामने रख लीजिए और सबके लट् लकार के रूप बना लीजिए। यहाँ यह ध्यान दीजिए कि इस गण में दॄ, नॄ, श्रा, ज्ञा, मदी, शमो - ये छह धातु मित् कार्य हेतु दूसरे गणों से आए हैं। उन्हें हटाकर अलग रख लीजिए तथा अक्षू, तक्षू, श्रु, धिवि तथा कृवि - ये पाँच धातु ऐसे हैं जिनके अङ्ग अदन्त नहीं बनते हैं तो इन ग्यारह धातुओं को हटाने पर ९९९ धातु ऐसे बचते हैं जिनके अङ्ग सारे सार्वधातुक लकारों में अदन्त ही बनते हैं। इन सारे धातुओं को छात्र के सामने रखकर उसे इत् संज्ञा का पूरा प्रकरण (उपदेशेऽजनुनासिक इत्। हलन्त्यम्। न विभक्तौ तुस्माः। आदिर्ञिटुडवः। षः प्रत्ययस्य। चुटू। लशक्वतद्धिते। तस्य लोपः) पढ़ा दीजिए।

अब उसे पाँच सूत्र और बताइए (इदितो नुम् धातोः। मिदचोऽन्त्यात्परः। उपाधायां च। धात्वादेः षः सः। णो नः)।

इसके बाद उसे कर्तरि शप् बतला कर सार्वधातुकार्धधातुकयोः, पुगन्तलघूपधस्य च तथा एचोऽयवायावः — ये तीन सूत्र बताइए। इतने सूत्रों का उपयोग सिखाने के बाद आप देखिए कि उसके पास १०१०-११=९९९ अदन्त अङ्ग तैयार हैं, किन्तु इनमें से ४० धातु यहाँ अपवाद हैं तो इनके अङ्ग आप अलग से बनवा दीजिए, इसके लिए तेरह सूत्र और बताने पड़ेंगे-

गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्यः आयः। वाभ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः। कृपो रो लः। मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य। गुप्तिज्किद्भ्यःसन्। दंशसञ्जस्वञ्जां शपि। रञ्जेश्च। पाघ्राध्मा०। इषुगमियमां छः। ऋते रीयङ्। कमेर्णिङ्। ऊदुपधाया गोहः।

इन सबके अङ्ग भी अदन्त ही बनेंगे, तो हमने देखा कि ९९९ अङ्ग अदन्त तथा११ अङ्ग अनदन्त बनेंगे।

इसके बाद प्रत्यय तैयार करके रख लीजिए। लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् के प्रत्यय जिन्हें कि सारे सार्वधातुक लकारों में सारे अदन्त अङ्गों में लगना है उन्हें सामने रख लीजिए। अब आपके पास ९९९ अदन्त अङ्ग तैयार हैं जो धातु + शप् को जोड़कर बने हैं इन्हें तीन सूत्र (अतो गुणे, अतो दीर्घो यञि और आद् गुणः) बता कर प्रत्ययों में जोड़ दीजिए तो भ्वादि गण के ९९९ धातुओं के चारों लकारों के रूप छात्र केवल दो घण्टे में बना डालता है।

इसी विधि से लोट्, लङ् तथा विधिलिङ् लकारों को पढ़ाया जाए।

भ्वादि के बाद दिवादि, तुदादि, चुरादि के सार्वधातुक लकार ही इसलिए पढ़ाया जाना चाहिए कि इन लकारों में इन समस्त धातुओं के अङ्ग अदन्त नहीं बनते हैं। इनकी विधि एक समान है।

इसके बाद शेष छः गणों के सार्वधातुक लकार इसलिए पढ़ाया जाना चाहिए कि इन लकारों में इन समस्त धातुओं के अङ्ग अदन्त ही बनते हैं। इनकी विधि एक समान है।

इसके बाद आर्धधातुक लकारों में प्रवेश करने के पूर्व सेट् अनिट् धातुओं तथा सेट अनिट् प्रत्ययों का विवेचन करके यह स्पष्ट कर दिया जाए कि इन छः लकारों के लिए दसों गणों का कोई भेद नहीं है। दसों गण यहाँ एक हैं। भ्वादि का नी धातु (नेष्यति), क्रयादि का क्री धातु (क्रेष्यति) तथा जुहोत्यादि का भी धातु (भेष्यति) यहाँ एक समान हैं। गणों के भेद को बुद्धि से हटाकर, वह आर्धधातुक लकारों में प्रवेश करे। उसके पास सेट् अनिट् धातुओं को पहचानने की विधि निश्चित हो, बस। तो यहाँ सबसे पहले लुट् लकार को लेकर सम्पूर्ण धातु पाठ के समस्त (१६४३) धातुओं के लुट् लकार बनाने की विधि, उसे बताइए। इसके लिए धातुओं की संख्या कोई परेशानी नहीं है। वे धातु १६४३ हों, चाहे १६ लाख ४३ हों कोई अन्तर नहीं पड़ता कि बशादि झषन्त धातुओं को छोड़ कर सारे धातु ऐसे हैं, जिनके रूप बनाते समय विकार केवल अन्तिम इक् या उपधा के लघु इक् को होता है। विकरण के धातु पर प्रभाव डालने का यह अधिकतम क्षेत्र है। तो आपको दृष्टि धातु के अन्तिम अच् पर तथा उपधा तक रखना चाहिए बस। यदि धातुओं को इस दृष्टि से देखा जाए, तो सारे धातु मुट्ठी में आ जाते हैं।

सारे धातुओं का विभाजन इस प्रकार कीजिये :--

अजन्त धातु — आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, ऋकारान्त, ॠकारान्त, एजन्त

हलन्त धातु — अदुपध, इदुपध, उदुपध, ऋदुपध तथा शेष।

यह विचार धातु में स्वर की स्थिति को देख कर कीजिए क्योंकि स्वर पर जो प्रभाव धातुरूप बनते समय होता है उसका क्षेत्र लगभग इतना ही होता है।

इन तेरह वर्गों में संसार के सारे धातु आ जाते हैं जिनकी संख्या कितनी भी हो उन्हें इन वर्गों में बाँटा जा सकता है क्योंकि धातु रूप बनाते समय, इसकी प्रक्रिया बताते समय भगवान् पाणिनि की दृष्टि यही थी। धातु के रूप को बनाने की विधि वस्तुतः प्रतिधातु अथवा प्रतिगण से भिन्न नहीं है।

गणों की उपयोगिता केवल सार्वधातुक प्रत्ययों में है। आर्धधातुक लकारों में तथा आर्धधातुक कृत् प्रत्ययों की दृष्टि में तो दसों गणों के धातु एक समान हैं। अतः धातु सम्बन्धी किसी भी विधि का अध्ययन अध्यापन करते समय हमें प्रत्ययों के विषय में भी एक निश्चित दृष्टि बना लेनी चाहिए। वह दृष्टि इस प्रकार हो--

- प्रत्यय
  - सार्वधातुक
    - पित्
    - अपित्
  - आर्धधातुक
    - कित्, ङित्
    - अकित्, अङित्

प्रत्यय इन चार प्रकार के वर्गों में बँट कर ही धातु पर अपना प्रभाव डालते हैं चाहे वे तिङ् प्रत्यय हों अथवा कृत्।

तो धातु सम्बन्धी समस्त कार्य करते समय हमें उपर्युक्त विधि से धातुओं तथा प्रत्ययों को बुद्धिस्थ करके इस अधिकार में प्रविष्ट होना चाहिए।

तिङ् सम्बन्धी समस्त विधि को तीन हिस्सों में पढ़ने से वह नितान्त सुगम हो जाती है।

१. भ्वादि, दिवादि, तुदादि, चुरादि के लट्, लोट्, लङ् तथा विधिलङ् के रूप

२. अदादि, जुहोत्यादि, स्वादि, तनादि तथा क्र्या दि के लट्, लोट्, लङ् तथा विधिलिङ् के रूप

३. सभी गणों के लुट्, लृट्, लिट्, आशीर्लिङ्, लुङ्, तथा लृङ् के रूप।

इस वर्गीकरण का वैशिष्ट्य यह है कि जहाँ आप नव्य पद्धति में एक धातु लेते हैं और उसके दसों लकारों के रूप बना लेते हैं, उसके स्थान पर करना यह है कि आप ऊपर दिए वर्गीकरण के अनुसार धातुओं का एक वर्ग बना लीजिए और उस वर्ग में आने वाले समस्त धातुओं के रूप एक लकार में बना डालिए। जैसे आपको लृट् लकार के रूप बनाना, है तो पूरे धातु पाठ को सामने रखिए और उसका विभाजन इस प्रकार कीजिए।

१. **आकारान्त धातु —** (सारे अनिट् होते हैं) इनके रूप (पा + स्यति) पास्यति के समान बनेंगे तो अब भ्वादि का पा हो, अदादि का या हो, जुहोत्यादि का दा हो या क्रयादि का ज्ञा हो, सभी के रूप ऐसे ही बनेंगे।

२. **इकारान्त धातु** — शीङ्, श्वि, डीङ्, श्रि — इन चार धातुओं को छोड़ कर शेष सभी इकारान्त धातु अनिट् हैं, चाहे वे किसी भी गण के हों तो इनके रूप नी +स्यति= नेष्यति के समान बनेंगे फिर चाहे वह धातु भ्वादि का नी (नेष्यति) हो, चाहे क्रयादि का क्री (क्रेष्यति) हो, चाहे जुहोत्यादि का भी (भेष्यति) हो।

३. **ह्रस्व उकारान्त धातु** — इनमें यु, रु, क्ष्णु, स्नु, नु, क्षु – इन छः धातुओं को छोड़ कर शेष सारे अनिट् होते हैं चाहे वे किसी भी गण के हों।

४. **दीर्घ ऊकारान्त धातु** — ये सभी सेट् होते हैं, तो इन के रूप भविष्यति के समान बनेंगे।

५. **ह्रस्व ऋकारान्त धातु** — वृङ्, वृञ् को छोड़ कर ये सभी धातु अनिट् होते हैं चाहे वे किसी भी गण के हों किन्तु लृट् लकार में आकर वे सभी के सभी सेट् हो जाते हैं।

६. **दीर्घ ॠकारान्त धातु** — ये सभी सेट् होते हैं तो सभी गणों के दीर्घ ॠकारान्त धातुओं को लीजिए और इनके रूप तॄ + स्यति=तरिष्यति के समान बनाइए।

७. **एजन्त धातु —** सभी गणों के एजन्त धातु अनिट् होते हैं इन्हें आत्व करके गै + स्यति = गास्यति के समान बनाइए चाहे वे किसी भी गण के हों।

इस प्रकार सारे धातुओं का सेट् अनिट् विचार करके पूरे धातु पाठ के सारे धातुओं के रूप एक साथ लृट् लकार में बना कर ,एक लकार का पूरा कार्य समाप्त करते हुए दूसरे लकारों में प्रवेश कीजिए।

इस विधि से आप सारे धातुओं के रूप एक लकार में बनाइए फिर सारे धातुओं के रूप दूसरे लकार में बनाइए। इसी प्रकार एक लकार लेकर उसका समग्र विचार करके समस्त धातुओं पर उसके प्रभाव को देखकर तब अगले लकार में प्रवेश कीजिए। इससे सरल अन्य कोई भी विधि व्याकरण शास्त्र को समझने की हो नहीं सकती।

भगवान् पाणिनि तो हमें अष्टाध्यायी दे गए। उसमें तो कोई निर्देश है नहीं कि आप लकार पकड़ कर चलें या धातुओं के गण पकड़ कर चलें। पर यह निश्चित है कि अष्टाध्यायी को अष्टाध्यायी के क्रम से पकड़ कर चलें तभी शीघ्र सिद्धि होगी, अन्यथा भटकाव होगा।

महाभाष्य और काशिका में जो सूत्रक्रम यथावत् चल रहा था वह परम्परा नव्य व्याकरण के आने से विलुप्त हो चली थी उसका पुनरुद्धार महर्षि दयानन्द ने किया। उस पर भारत के अनेक व्याकरण अध्येता चल रहे हैं पर एक विरोध की स्थिति लेकर। यह विरोध उचित नहीं है। हमें तो सरलतम मार्ग से मुट्ठी में भर लेना है अष्टाध्यायी को, तो उसके लिए हमें पाणिनि के मन्तव्य को समझना होगा।

"तुल्यास्यप्रयत्नम्" एक समीक्षा

डॉ० वी० के० सिंह

अष्टाध्यायी (१.१.९) में सवर्ण सञ्ज्ञा के प्रतिपादन में 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' का कथन किया गया है। इस पद का समास विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है—

(१) 'तुल्य आस्ये प्रयत्नो यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्' अर्थात् त्रिपदबहुव्रीहि के रूप में; अथवा

(२) 'आस्यञ्च प्रयत्नञ्च आस्यप्रयत्नौ तौ तुल्यौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्' अर्थात् द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि के रूप में।

'तुल्य आस्ये प्रयत्नो यस्य वर्णस्य येन वर्णेन सह, स समानजातीयं प्रति सवर्णसंज्ञो भवति' कहकर काशिकाकार प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हैं[1] तथा सिद्धान्तकौमुदीकार अपनी वृत्ति —ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसञ्ज्ञं स्यात् — में 'एतदद्वयम्' पद के सन्निवेश से द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि पक्ष के समर्थक प्रतीत होते हैं । दोनों वैयाकरण विद्वत्समाज में समादृत हैं, किसी एक के कथन को सहसा निरस्त नहीं किया जा सकता है । फलतः सहज जिज्ञास्य है कि कौन सा पक्ष स्वीकार किया जाय। प्रस्तुत शोधनिबन्ध में इसी विचिकित्सा के समाधान का प्रयास किया गया है। अस्तु !

'अस क्षेपणे' धातु में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३.३.११३) सूत्र से करण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय के योग से 'आस्ये' शब्द निष्पन्न है जिसका अर्थ हुआ मुख—अस्यते क्षिप्यतेऽस्मिन्ननेनेति आस्यम् - मुखम् ।[2] यदि प्रस्तुत स्थल में इसी (मुखवाची) 'आस्य' शब्द का ग्रहण माना जाय तो 'क-च-ट-त-प' की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने लगेगी क्योंकि इन सब का आभ्यन्तर प्रयत्न 'स्पृष्ट' है तथा स्थान (मुख) समान है ।[3] इस दोष के निराकरण के लिए मुखवाची 'आस्य' शब्द से 'तत्र भवः' अर्थ में तद्धित प्रत्यय यत् का योग करके आस्य पद की सिद्धि मानी जाती है—आस्ये भवमास्यं ताल्वादिस्थानम् । इससे आस्य शब्द मुख में विद्यमान कण्ठ, तालु प्रभृति उच्चारणस्थानों का बोधक हो जाता है ।[4] अब 'क-च-ट-त-प' प्रभृति सवर्ण संज्ञक नहीं हो सकते क्योंकि आभ्यन्तर प्रयत्न (स्पृष्टत्व) के समान होने पर भी उनके उच्चारण स्थान (क्रमशः कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठ) अलग-अलग हैं।

प्र पूर्वक 'यती प्रयत्ने' धातु में 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (३.३.९०) सूत्र से (भाव अर्थ में) नङ् प्रत्यय के योग से 'प्रयत्न' शब्द बना है जिसका अर्थ हुआ—प्रयास । वैयाकरण इन्हें द्विविध मानते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य ।[5] **आभ्यन्तर प्रयत्न** चार हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत तथा **बाह्य प्रयत्न** ग्यारह—संवाद, नाद, घोष, विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित । प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में इन उभय प्रयत्नों की आवश्यकता होती है जिसे अधोनिर्दिष्ट तालिका में देखा जा सकता है—

रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

आभ्यन्तर प्रयत्नबोधक तालिका

स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	विवृत		संवृत
क् ख् ग् घ् ङ्	य्	अ	ए	उच्चारणकाल में ह्रस्व 'अ'
च् छ् ज् झ् ञ्	व्	इ	ओ	
ट् ठ् ड् ढ् ण्	र्	उ	ऐ	
त् थ् द् ध् न्	ल्	ऋ	औ	
प् फ् ब् भ् म्		ऌ		
			श्	
			ष्	
			स्	

बाह्य प्रयत्नबोधक तालिका

विवार, श्वास, अघोष	संवार, नाद, घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
क् ख्	ग् घ् ङ्	क् ग् ङ्	ख् घ्	अ
च् छ्	ज् झ् ञ्	च् ज् ञ्	छ् झ्	इ
ट् ठ्	ड् ढ् ण्	ट् ड् ण्	ठ् ढ्	उ
त् थ्	द् ध् न्	त् द् न्	थ् ध्	ऋ
प् फ्	ब् भ् म्	प् ब् म्	फ् भ्	ऌ
				ए
श्	य् व्	य् व्	श्	ओ
ष्	र् ल्	र् ल्	ष्	ऐ
स्	ह्		स्	औ
	[सारे स्वर]	[सारे स्वर]	ह्	

प्रश्न यह है कि उक्त प्रयत्न क्यों किये जाते हैं और कहाँ किये जाते हैं ? आचार्य कात्यायन (वाजसनेय प्रातिशाख्य 1.8) का कहना है कि जिस प्रकार वेणु, शंख आदि वाद्य यन्त्रों में ध्वनि उत्पादन की क्षमता रहते हुए भी उनसे ध्वनि नहीं निकलती, उसके लिए वादक का प्रयत्न नितान्त अपेक्षित होता है, उसी प्रकार मनुष्य के उच्चारणावयवों[6] में वर्णोत्पादन का सामर्थ्य होते हुए भी उसके लिए वक्ता को प्रयास करना पड़ता है। वर्णोच्चारण की प्रक्रिया यह है कि वक्ता जब कुछ कहना चाहता है तो शरीरस्थ वायु एक प्रकार के आन्तरिक हलचल से युक्त हो जाती है और श्वासनलिका के मार्ग से स्वरतन्त्रियों से होती हुई मुख (काकलक से ओष्ठ तक) में पहुँचती है। यहाँ कण्ठ, तालु इत्यादि स्थानों पर जिह्वा प्रभृति करण[7] के द्वारा वायु को विविध प्रकार से (स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट आदि रूपों में) रोका अथवा छोड़ा जाता है । इन प्रयत्नों के फलस्वरूप वर्णों की उत्पत्ति होती है।

ध्यातव्य है कि विवक्षानुसार हृत्प्रदेश से वायु को प्रेरित करना प्रयास है, इस प्रयास के बिना वायु 'मुख' में नहीं पहुँच सकती (जिससे कि वर्णोच्चारण होता है) इसलिए वर्णोच्चारण के प्रति यह प्रयास अपरिहार्य तो है परन्तु वर्णों का सुस्पष्ट उच्चारण 'मुख' में किये गए प्रयत्नों से ही सम्भव है । इस प्रकार स्पृष्टादि प्रयत्न वर्णोत्पत्ति के साक्षात् कारण हुए, फलतः इन्हें आभ्यन्तर (अत्यन्त निकटस्थ) प्रयत्न कहा गया है।[8]

बाह्य प्रयत्न वह कहलाता है जो मुख के बाहर किया जाय—मुखाद् बहिः बाह्यः । 'मुख के बाहर' का अर्थ ओष्ठ के पश्चात् नहीं अपितु काकलक से पूर्व (स्वर तन्त्रियों आदि में सम्पन्न) है [9] क्योंकि मुख की एक सीमा (ओष्ठ से काकलक तक) निर्धारित कर दी गई है, इस सीमा के बाहर जो भी है वह 'मुख से बाहर' कहलायेगा। चूँकि स्वरतन्त्रियाँ उक्त सीमा से बाहर हैं इसलिए तत्र सम्पन्न प्रयत्न बाह्य हुआ । 'बाह्य' का अर्थ ओष्ठ के पश्चात् मानना सर्वथा भ्रान्त एवम् अनुपयुक्त है, क्योंकि—

(१) शास्त्रीय रूप से ओष्ठ 'मुख' की सीमा का आरम्भ बिन्दु है अन्तिम बिन्दु नहीं—'ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकात्' । फलतः 'मुख के बाहर' का सीधा अर्थ हुआ 'मुख सीमा के अन्तिम बिन्दु के बाद' ।

(२) प्रयास का अर्थ है चेष्टा । यह वक्ता की इच्छा पर निर्भर है अर्थात् वह चाहे तो प्रयास करे या न करे। स्पष्ट है कि मुख में आभ्यन्तर प्रयत्न के सम्पन्न हो जाने पर वर्णोत्पत्ति हो जाती है, वर्णोच्चारण के पश्चात् वक्ता उसे रोकने की इच्छा होने पर भी नहीं रोक सकता अर्थात् तदुपरान्त वह कोई प्रयास (प्रयत्न) नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में ओष्ठ के पश्चात् कोई प्रयत्न सम्भव ही नहीं है । इसके विपरीत उपरिलिखित अर्थ ग्रहण करने पर 'बाह्य प्रयत्न' में भी प्रयत्न संज्ञा की सार्थकता देखी जा सकती है । वक्ता इच्छानुसार हृदयस्थ वायु को प्रेरित कर सकता है अथवा नहीं कर सकता । बाह्य प्रयत्न सम्पन्न हो जाने पर भी वह चाहे तो आभ्यन्तर प्रयत्न करके वर्ण का उच्चारण कर दे या रोक ले । इस प्रकार बाह्य प्रयत्न आभ्यन्तर प्रयत्न के पूर्व किये जाते हैं जिससे (वर्णोत्पत्ति के प्रति) इनकी बाह्यता सिद्ध है।[10]

यह तथ्य भी स्मर्तव्य है कि एक कोटिक वर्णों के लिए एक आभ्यन्तर प्रयत्न स्वीकृत है[11] जबकि एक जैसे वर्णों के बाह्य प्रयत्न एक साथ तीन—'विवार, श्वास, अघोष' अथवा 'संवार, नाद, घोष'—बताये गये हैं ।[12] इसका रहस्य यह है कि जब वक्ता द्वारा प्रेरित वायु स्वरतन्त्रियों में पहुँचती है तो दो स्थितियाँ बनती हैं—स्वरतन्त्रियाँ कभी अलग-अलग रहती हैं, कभी परस्पर मिली रहती हैं । वे जब अलग-अलग रहती हैं तब यह स्थिति 'विवार' (विगतः वारः आवरणम्) कहलाती है । 'विवार' की दशा में वायु अनायास आगे बढ़ जाती है, यही 'श्वास' है और इसके कारण उत्पन्न होने वाली ध्वनि 'अघोष' कहलाती है । जब स्वरतन्त्रियाँ मिली हुई रहती हैं तब यह स्थिति 'संवार' (सम्यक् वारः आवरणम्) कहलाती है, 'संवार' के कारण वायु को स्वरतन्त्रियों से घर्षण करते हुए आगे बढ़ना पड़ता है, घर्षण में स्वाभाविक रूप से कुछ गूँज उठती है (जैसा कि किसी भी घर्षण

में व्यावहारिक रूप से देखा जा सकता है) यही 'नाद' है और इस नाद के कारण उत्पन्न होने वाली ध्वनि 'घोष' कही जाती है । इस प्रकार 'विवार, श्वास, अघोष' अथवा 'संवार, नाद, घोष' वर्णोत्पत्ति की कारण कार्यश्रृंखला की पौर्वापर्यव्यवस्था के द्योतक हैं—

कारण	अवान्तरव्यापार	कार्य
विवार	श्वास	अघोष वर्ण
संवार	नाद	घोष वर्ण

इसीलिए इनका एक साथ उल्लेख किया जाता है।

उपरिलिखित विवेचन से स्पष्ट है कि बाह्य प्रयत्न वर्णोत्पत्ति के प्रति साधारण कारण हैं जबकि आभ्यन्तर प्रयत्न विशिष्ट कारण । अब प्रश्न यह उठता है कि 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' में 'प्रयत्न' शब्द किसके लिये प्रयुक्त है—आभ्यन्तर प्रयत्न या बाह्य प्रयत्न या दोनों के लिए। तत्त्वबोधिनीकार की मान्यता है कि 'प्र' उपसर्ग के बल से यह आभ्यन्तर प्रयत्न का सूचक है[13] परन्तु यदि प्रयत्न शब्द 'प्रकृष्टो यत्नः' के रूप में आभ्यन्तर प्रयत्न का बोधक माना जा सकता है तो 'प्राक्तनो यत्नः' के रूप में बाह्य प्रयत्न का भी सूचक हो सकता है (क्योंकि बाह्य प्रयत्न, आभ्यन्तर प्रयत्न से पहले अर्थात् प्राक्तन होता है)। ऐसी स्थिति में समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

यदि 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' में समासविग्रह पर ध्यान दें तो ज्ञात होता है कि 'तुल्यः आस्ये प्रयत्नं यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्' रूप विग्रह में अर्थ होगा 'ताल्वादि स्थान से विशिष्ट प्रयत्न की समानता ।' ताल्वादि स्थान से विशिष्ट प्रयत्न 'आभ्यन्तर प्रयत्न' ही हो सकता है 'बाह्य' नहीं क्योंकि बाह्य प्रयत्न तो मुख (ताल्वादि स्थानों) के बाहर होता है। इस प्रकार त्रिपद बहुव्रीहि परक व्याख्या में प्रयत्न से 'आभ्यन्तर प्रयत्न' का ग्रहण होगा । अब यदि 'आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ तौ तुल्यौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्' रूप विग्रह स्वीकार करें तो अर्थ होगा 'ताल्वादि उच्चारण स्थान और प्रयत्न की समानता' । यहाँ प्रयत्न शब्द से आभ्यन्तर अथवा बाह्य किसी का भी ग्रहण किया जा सकेगा क्योंकि दोनों प्रयत्न हैं। यदि द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि परक अर्थ स्वीकार कर लें तो दो अनुपपत्तियाँ होंगी—

(१) ककार और ङकार परस्पर सवर्ण नहीं हो सकेंगे क्योंकि दोनों का उच्चारण स्थान एक (अर्थात् कण्ठ) होने पर भी उनके बाह्य प्रयत्न अलग-अलग हैं। ककार का बाह्य प्रयत्न है 'विवार, श्वास, अघोष' जबकि ङकार का 'संवार, नाद, घोष । ऐसी परिस्थिति में 'शङ्कर' प्रभृति स्थलों में 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८.४.५८) जैसे विधान व्यर्थ हो जायेंगे।

(२) चकार और शकार परस्पर सवर्ण होने लगेंगे क्योंकि दोनों का उच्चारण स्थान एक (अर्थात् तालु) है और बाह्य प्रयत्न भी एक (विवार, श्वास, अघोष) है। इस दशा में 'अरुश्च्योतति' में 'झरो झरि सवर्णे' (८.४.६५) सूत्र से चकार (सवर्ण झर्) परे रहते शकार (सवर्ण झर्) का लोप होने लगेगा।

भाव यह है कि द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि व्याख्या का आश्रय लेने पर सवर्ण संज्ञा अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोषों से युक्त हो जायेगी । एतद्विपरीत त्रिपद बहुव्रीहि विषयक व्याख्या में प्रयत्न शब्द से 'आभ्यन्तर प्रयत्न' का निर्धारण हो जाता है अर्थात् स्पष्ट हो जाता है कि केवल आभ्यन्तर प्रयत्न ही सवर्ण संज्ञा के लिए अनिवार्य है, बाह्य प्रयत्न नहीं ।[14] अतएव बाह्य प्रयत्नों की भिन्नता होने पर भी ('स्पृष्ट' इस) आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता के कारण ककार और ङकार परस्पर सवर्ण सिद्ध हो जाते हैं अथवा चकार शकार में बाह्य प्रयत्नों की समानता होने पर भी आभ्यन्तर प्रयत्नों की भिन्नता (क्रमशः 'स्पृष्ट' एवं 'विवृत') से उनकी सवर्णता उत्पन्न नहीं होती।

अवधेय है कि भट्टोजिदीक्षित ने अपनी वृत्ति में 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' का समास विग्रह नहीं बताया है अपितु उसके फलितार्थ 'ताल्वादिस्थान' और 'आभ्यन्तर प्रयत्न' (सवर्ण संज्ञा के लिए) की समानता का उल्लेख किया है। यदि प्रयत्न शब्द से केवल आभ्यन्तर प्रयत्न का ग्रहण किया जाय तो द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि परक विग्रह भी दोषरहित हो सकता है परन्तु यह (आभ्यन्तर प्रयत्न रूप) अर्थ तब तक निश्चित ही नहीं किया जा सकता जब तक कि त्रिपद बहुव्रीहि परक विग्रह स्वीकार न कर लिया जाय (जैसा कि विवेचन हो चुका है) । इस प्रकार भट्टोजि दीक्षित प्रकारान्तर से काशिकाकार के ही अनुयायी हैं और उनका अभिमत एक है। निष्कर्षतः 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' में 'त्रिपद बहुव्रीहि' परक विग्रह ही ग्राह्य है जैसा कि काशिकाकार ने निर्दिष्ट किया है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. एतेन तुल्यास्यप्रयत्नशब्दस्त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिरिति दर्शयति । व्याधिकरणानामपि गमकत्वाद् बहुव्रीहिर्भवत्येव, यथा - कण्ठेकालः, उरसिलोमा इति। — न्यास, वही (1/1/9 पर)
   तद्धितान्त आस्यशब्दो न स्वाङ्गवाच्येवेति 'अमूर्धमस्तकात्' इत्यलुग् न भवति—पदमञ्जरी, तत्रैव।
2. आस्यम् = मुखम् । तत्पुनः ओष्ठात्प्रभृति प्राक् काकलकात् । काकलकं नाम ग्रीवायामुन्नतप्रदेशः, लोके यः कण्ठमणिरित्युच्यते। —
3. यदि.......आस्यशब्दस्येदं ग्रहणं स्यात्, क-च-ट-त-पानामपि सवर्णसंज्ञा स्यात्, ण्यदन्तस्यास्यशब्दस्य वाच्येऽर्थे तेषां तुल्यत्वात् प्रयत्नविषयस्य।—न्यास
4. तद्धितान्तोऽप्यास्यशब्दोऽस्ति—आस्ये भवमिति 'शरीरावयवाच्च' इति यदि कृते 'यस्येति च' इत्यकारलोपे 'हलो यमां यमि लोपः' इति यलोपे च कृते आस्यमिति । एतश्च मुखान्तर्वर्तिनां ताल्वादीनां वाचकम्।—न्यास
5. यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। —सि० कौ०, 1/1/9 पर।
6. उच्चारणावयवों का विशद विवरण डॉ० विजयशंकर पाण्डेय कृत वैदिक ध्वनिविज्ञान (पृष्ठ 57-66 में द्रष्टव्य है।
7. यदुपक्रम्यते तत् स्थानम्। येनोपक्रम्यते तत् करणम्। —चतुरध्यायिका, 1/18
8. आभ्यन्तरत्वं पुनरेतेषां स्थानकरणप्रयत्नव्यापारेणोत्पत्तिकाल एव सम्भवात्। —न्यास
9. काकलकाधस्ताद् गलविवरसंकोचविकासश्वासोत्पत्तिध्वनिविशेषरूपनादतद्विशेषरूपाघोषघोषप्राणाल्पत्वं महत्त्व-रूपकार्यकरत्वमेषाम् ......गलविवर विकासादि कराश्चास्य बहिर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद् बाह्या इति। —नागेश भट्ट, लघुशब्देन्दुशेखर, पृष्ठ 24
10. बाह्यत्वं पुनरेतेषां वर्णनिष्पत्ति कालादूर्ध्वं वायुवशेनोत्पत्तेः —पदमञ्जरी
11. तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम् । ईषत्पृष्टमन्तःस्थानाम् । विवृतमूष्मणां स्वराणां च । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। —सि० कौ०
12. तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः खयः,...........शषसाश्चेत्येषां विवारः श्वासोऽघोषश्च । अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्च। —सि० कौ०
13. आभ्यन्तरेति। एतच्च प्रशब्दबलाल्लभ्यते। तत्त्वबोधिनी (सि० कौ० 1/1/9 पर)
14. सवर्णसंज्ञा में बाह्य प्रयत्न भले ही अनिवार्य न हों, वर्णों के सादृश्यबोध (स्थानेऽन्तरतमः सूत्र की दृष्टि से) अतीव उपादेय हैं । इन्हीं के आधार पर 'अभ्यासे चर् च' (8/4/54) सूत्र में झश् के जश् और खय् के चर् का विवेक हो पाता है।

The words (nouns) which differ with the meaning of their roots

Dr. Goparaju Rama

In Sanskrit literature each noun derives with the meaning of one Root or the other. The Word राम derives from the Root ''रमु क्रीडायाम्'' (घञ्) Here the word राम as well as its root hold some sense or meaning with each other. Similarly we find many such words which are derived from the Roots and which keep a sense with them altogether. Such as :

वायुः	=	वातीति वायुः (उण् युकुच)	=	वा गतिगन्धनयोः (Root)
वञ्चकः	=	वञ्चतीति (ण्वुल्)	=	वञ्चु प्रलम्भने
रुद्रः	=	रुदतीति (रक्)	=	रुदिर् अश्रुविमोचने
रेणुः	=	रयतीति (नुः+नित्)	=	री गतिरेषणयोः
ज्ञः	=	जानातीति (कः)	=	ज्ञा अवबोधने
गृध्नः	=	गृध्नातीति (क्नुः)	=	गृधु अभिकांक्षायाम्
दण्डः	=	दाम्यतीति (डः)	=	दमु उपशमे
द्यौः	=	द्योतत इति (क्विप्)	=	द्युत दीप्तौ
धरणिः	=	धरतीति (अनिः)	=	धृञ् धरणे
धेनुः	=	धयतीति (नुः)	=	धेट् पाने
पतिः	=	पातीति (डतिः)	=	पा रक्षणे
पादः	=	पद्यतइति (ऊः)	=	पद गतौ
स्वप्नः	=	सुप्यत इति (नन्)	=	ञिष्वप् शये
नेता	=	नयत इति (तृच्)	=	णीञ् प्रापणे
जिष्णुः	=	जयतीति (इष्णुच्)	=	जि जये
तन्तुः	=	तनोतीति	=	तनु विस्तारे

Reader, Ganga Nath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, Allahabad

In all the above words, each word keeps a kind of correlation with that of the meaning of each root against it.

In an apparently parallel contrast to the above view there exist certain words that can not keep any substance with the meaning of the Root. However they are in day to day usage. Here, the root keeps some meaning while the word derived from it holds entirely a different meaning. Such as :

आर्द्रम् = The word is derived from the Root ''अर्द हिंसायाम् (रक्). The root gives the meaning हिंसा and its derived word the meaning is ''Wetness''.

श्वसुरः = The root is ''अशू व्याप्तौ'' (उरन्) The meaning of the derived word is ''Father-in law''. There is contrast between the Root and the Word.

स्वसा भगिनी = The Root is ''असु क्षेपणे'' (कन्) The meaning of the word is ''SISTER''

कपालम् = The root is ''कपि चलने'' (कालन्) The meaning is ''The Skull.

कदम्बः (वृक्ष भेदः) = The root is ''कदि आह्वाने रोदनेच'', The meaning of the world is ''A kind of tree''

किल्बिषम् = The root is ''किल श्वैत्यक्रीडनयोः'' (ष्टिपच्) The meaning of the word is ''The Sin''

चपलम् = The root is ''चुपमन्दायां गतौ'' (कालः) The meaning of the word is '' चाञ्चल्य''

सरसिजम् = The root is ''जनी प्रादुर्भावे'' (डः) The meaning of the word is LOTUS

नौः = The root is ''णुद प्रेरणे'' (क्विप्) The meaning of the word is ''The Boat''

तमालः = The root is ''तमु कांक्षायाम्'' (कालन्) The meaning of the word is ''A kind of a tree''

दिनम् = The root is ''दोऽवखण्डने'' (इनच्) The meaning of the word is ''The Day''

पशुः = The root is ''दृशिर् प्रेक्षणे'' (तुक्-पशिरादेशः) The meaning of the word is animal

निद्रा = The root is ''द्रा कुत्सायाम्'' (रक्) The meaning of the word is ''Sleep''.

मृणालम् = The root ''मृण हिंसायाम्'' (कालन्) The word renders a different meaning tham the Root.

यमुना = The root is ''यम उपरमे''. The meaning of the word is River, the Yamuna.

वक्त्रम् = The root is ''वञ्चुगतौ'' (रक्) = The meaning of the word is ''The face''.

लांगूलम् = The root is ''लग आस्वादने'' The meaning of the word is ''The Tail.

रुधिरम् = The root is ''रुधिर् आवरणे'' (किरच्) The meaning of the word is ''The Blood.

In all the above instances the meaning of the Root is different while the meaning of the word that is derived from the root is different. These words are is our daily use.

What the lingusitics say in this matter with regard to the non-correlation of meaning between the Root and the word is a different story. In my view these sets of words originally pertain to devote the very meaning of the root, they are derived from. In the long run of their utilisation in day to day usage the meaning of these words might hae changed, thus rendering non-correlation to the fact.

पाणिनि की वर्णमालाएँ

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

वेदाध्ययन में सर्वाधिक सहायक होने के कारण वेदपुरुष के मुख रूप में कल्पित शब्दार्थ विश्लेषण की महती विधा व्याकरण है— 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। इसकी गणना षडङ्गों में अन्यतम है।[1] पतञ्जलि के अनुसार पुरातन काल में उत्तराविद्या के नाम से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित था,[2] उन्होंने ऋग्वेद से व्याकरणशास्त्र की प्रयोजनसूचिका ऋचा उद्धृत कर उसका व्याकरणपरक अर्थ भी प्रस्तुत किया है।[3] केवल यही नहीं, प्रत्युत् व्याकरण साहित्य में उपलब्ध अनेक संज्ञाओं यथा- धातु, प्रतिपादिक, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वरादि पारिभाषिक संज्ञाओं में से कुछ पदों का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है।[4] आचार्य यास्कानुसार वैदिक ऋषि व्याकरणज्ञान से पूर्णतः परिचित थे— नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च वैयाकरणाः।[5]

व्याकरण के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन हेतु पाणिनि मुनि ने वर्णमाला की दो विधाओं को अष्टाध्यायी में स्वीकार किया - ऐन्द्र वर्णमाला[6] तथा माहेश्वर वर्णमाला।[7] अष्टाध्यायी के सूत्र स्वयं इस तथ्य की उद्घोषणा करते हैं।

शास्त्रज्ञ समाज भी वर्णमाला (६५ वर्णों से समन्वित) के दो प्रकारों का उपयोग कर रहा था[8] जिनमें से प्रथम - ऐन्द्र वर्णसमाम्नाय को उद्देश्य अथवा लौकिक क्रम तथा द्वितीय - माहेश्वर वर्ण समाम्नाय को उपदेश अथवा शास्त्रीय क्रम कहा जासकता है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के व्याख्यान के लिए उपदेश अथवा शास्त्रीय क्रम को आधार बनाया किन्तु आवश्यकतानुसार उद्देश्य अथवा लौकिक क्रम का भी उपयोग किया। प्रतिशाख्यों ने उद्देश्य (लौकिक) क्रम को मान्यता देते हुए साहित्य में उसका प्रचुर प्रयोग किया। वर्णक्रम ऐन्द्र हो अथवा माहेश्वर, दो भागों में विभक्त है - योगवाह तथा अयोगवाह। सर्वप्रथम प्रतिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों द्वारा स्वीकृत वर्णक्रम की योगवाह ध्वनियों का स्वरूप प्रस्तुत है—

ऐन्द्र वर्णमाला

[योगवाह ध्वनियाँ]

स्वर[9] —	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः
व्यञ्जन[10] —	क ख ग घ ङ
	च छ ज झ ञ
	ट ठ ड ढ ण
	त थ द ध न
	प फ ब भ म
अन्तःस्थ[11] —	य र ल व
ऊष्म ध्वनियाँ[12] —	श ष स ह
संयुक्त व्यञ्जन[13] —	क्ष त्र ज्ञ

रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

[अयोगवाह ध्वनियाँ]

1.	विसर्जनीय	-	:	5.	ह्रस्व	-	ॐ
2.	जिह्वामूलीय	-	ᳵ	6.	दीर्घ	-	ॖ
3.	उपध्मानीय	-	ᳶ	7.	अनुनासिक	-	ँ
4.	अनुस्वार	-	ं	8.	अक्षर	-	ळ

अयोगवाह रूपों का उच्चारण स्वरों की सहायता से परिपूर्ण होता है। अतः ये अयोगवाह रूप हैं। योगवाहों की प्राथमिकता तथा अयोगवाहों की गौणता का यही कारण है। इन अयोगवाहीय रूपों में विसर्जनीय का उच्चारण कण्ठ से,[14] जिह्वामूलीय का जिह्वामूल से,[15] उपध्मानीय का ओष्ठ से[16] तथा यम शीर्षक के अन्तर्गत समाहित अन्तिम चार - ह्रस्व, दीर्घ, अनुनासिक तथा ळ अक्षर[17] में से प्रथम तीन एवं अनुस्वार नासिका से[18] उच्चरित होते हैं।

विद्वत् परिषद् में लोकप्रिय इस अनादि नित्या वाक्[19] रूप वर्णमाला के रूपनिर्धारण का आधार उच्चारण प्रक्रिया है, यह तथ्य स्वतः सिद्ध है। प्रत्येक वर्ण अपनी सामर्थ्यानुसार योग्य और उचित स्थान ग्रहण किए हुए हैं। वर्णक्रम के निरीक्षण से इसे सरलता पूर्वक प्रमाणित किया जा सकता है।

वर्णमाला के पर्याप्त महत्त्वपूर्ण अंश-योगवाह ध्वनियों को अध्ययन की सुविधा हेतु दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- १. स्वर वर्ग, २. व्यञ्जन वर्ग। स्वर वर्ग को प्राथमिकता प्रयत्न के आधार पर प्राप्त हुई है। स्वरों का प्रयत्न अस्पृष्ट है[20], व्यञ्जनों का स्पृष्ट।[21] अतः स्पृष्टप्रयत्नजन्य व्यञ्जनों से पूर्व अस्पृष्ट प्रयत्नजन्य स्वरों का स्थान समुचित है। स्वरों की प्राथमिकता का एक यह भी कारण है कि स्वर अपनी ही सत्ता से उद्भासित[22] होते हैं जबकि व्यञ्जन स्वरसापेक्ष हैं।[23]

स्वर वर्ग तथा व्यञ्जनवर्ग में अन्तः प्राथमिकता प्राणवायु के प्रयोग से उद्भूत वर्णों के आधार पर सुनिश्चित है। एक ही प्राणवायु कण्ठ, मूर्धा, तालु, दन्त, ओष्ठ, नासिका आदि स्थानों में भ्रमण करती हुई जिस क्रम से स्वरों तथा वर्णों को जन्म देती है, उसी क्रम से वर्णमाला का स्वर तथा व्यञ्जन समुदाय निर्मीत होता है।[24] स्वरों में पहले एक स्थानीय सामान्य स्वर (Simple Vowels) तब द्विस्थानोच्चारित सन्ध्यक्षर (Diphthongs)।[25] सामान्य स्वरों में पहले एकमात्रिक ह्रस्व स्वर तब ह्रस्व स्वर का द्विमात्रिक दीर्घीकृत रूप।[26] समग्र स्वरों के उच्चारण में सर्वप्रथम कण्ठ स्थित अ आ तदनन्तर तालु स्थित इ ई, ओष्ठ्य स्थित उ ऊ, मूर्धा स्थित ऋ ॠ, दन्त्य स्थित लृ ॡ। यहाँ एक विचारणीय तथ्य यह है कि उच्चारण स्थानानुसार वर्णों का क्रम निर्धारण होने से कण्ठ्य अ आ के तुरन्त पश्चात् मूर्धन्य ऋ ॠ को स्थापित करना चाहिए था, मध्य में इ ई, उ ऊ का व्यवधान क्यों कर उपस्थित हो गया। इसके दो कारण थे — प्रथम तो ऋ ॠ तथा लृ ॡ के प्रयोग की (इ ई, उ ऊ की अपेक्षा) न्यूनता, द्वितीय इनमें व्यञ्जनांश र् ल् का मिश्रण,[27] इन्हें परस्पर सवर्णी भी कहा गया।[28]

सन्ध्यक्षरों में प्रथम तालव्यान्त ए ऐ[29] अइ आइ अथवा आए पुनः ओष्ठ्यान्त ओ औ[30] — अउ आउ अथवा आओ। ऐ ए तथा औ ओ रूप क्यों नहीं, इस कारण कि ए ओ का प्रयत्न विवृततर[31] है तथा ऐ औ का विवृततम[32] तब विवृततर का विवृततम के पूर्व पाठ समुचित है। अब स्थिति है स्वर के साथ नासिकत्व के मिश्रण अर्थात् अनुनासिक की।[33] प्रस्तुत वर्णमाला में स्वर के पश्चात् सदा ही योजित होने के कारण अनुस्वार की गणना स्वरों की श्रेणी में की गई है, प्रतीक रूप में अं अर्थात् प्रथम वर्ण अ के साथ प्रयोग दर्शाया गया है। यही स्थिति विसर्ग की भी है, स्वतन्त्र सत्ता का त्याग कर देने के कारण यह

विसर्जनीय[34] कहलाते हैं तथा सदा स्वरों की सहायता से उच्चरित होने के कारण प्रतीक रूप में अः अर्थात् प्रथम वर्ण अ के साथ चिह्नित हैं। अधिसंख्य शिक्षा ग्रन्थों में त्रिमात्रिक प्लुत स्वर को नहीं दर्शाया गया है।

व्यञ्जनों का वर्गीकरण भी पर्याप्त रोचक है - सर्वप्रथम स्पर्श तब अन्तःस्थ और अन्त में ऊष्म। उच्चारण कण्ठ से प्रारम्भ होता है। अतः सबसे पहले कण्ठोच्चरित कवर्ग प्रस्तुत है जो कण्ठ्य अ के साथ परिगणित है। कण्ठ के पश्चात् प्राणवायु उच्चारण का प्रयत्न करती हुई क्रमशः मूर्धा को प्राप्त करती है। अतः तालुजन्य च वर्ग के स्थान पर मूर्धाजन्य ट वर्ग का आहरण समुचित था। यहाँ इस व्यतिक्रम का कारण सम्भवतः उच्चारण स्थान नहीं करण है। मुख में कवर्ग का करण जिह्वामूल, च वर्ग का जिह्वा-मध्य तथा ट वर्ग का जिह्वाग्र है, इसी क्रम से क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग का पाठ है। प्राणवायु मूर्धा का स्पर्श करती है अतः मूर्धा से टकरा कर परुषवर्णी टवर्ग उच्चरित होता है। मूर्धा के पश्चात् प्राणवायु तालु को छूती हुई चवर्ग की ध्वनियों को जन्म देती है। तालु से घूम कर दन्त्य तक आकर श्वासवायु तवर्ग का उच्चारण करती है। अतः तवर्ग प्रस्तुत होता है। अन्त में श्वासवायु मुख के बाह्याङ्ग अधरोष्ठ के स्पर्श से पवर्ग को उच्चरित करती हुई मुख के बाहर निकल जाती है।[35]

इन समग्र वर्णों में भी भिन्न-भिन्न प्रयत्नों के आधार पर इनका स्थान निर्धारण किया गया है।[36] समग्र वर्गों के पाँचों वर्णों का स्थान और प्रयत्न एक होने से क्रम व्यवस्था का निर्धारण बाह्य प्रयत्न के आधार पर हुआ है। प्रत्येक वर्ग में प्रथम दो अघोष हैं शेष तीन सघोष।[37] अघोषों में प्रथम क च ट त प - अल्पप्राण प्रयत्न से युक्त हैं। द्वितीय वर्णों - ख छ ठ थ फ के प्रयत्न हैं महाप्राण। सघोषों में प्रथम वर्ण ग ज ड द ब - अल्पप्राण तथा द्वितीय घ झ ढ ध भ - महाप्राण प्रयत्न समन्वित हैं। वर्गों के आरम्भिक चारों वर्णों में प्रथम-अल्पप्राण, द्वितीय-महाप्राण, तृतीय-अल्पप्राण, चतुर्थ - महाप्राण - इस क्रम विशिष्ट में उच्चारण की सुविधा है। द्वितीय महाप्राण के पश्चात् तृतीय अल्पप्राण के उच्चारण से चतुर्थ महाप्राण के उच्चारण के लिए प्राणवायु पुनः संचित हो जाती है अथवा दूसरे शब्दों में दो महाप्राणों के पास-पास उच्चारण से वक्ता को असुविधा स्वाभाविक थी इस असुविधा से रक्षा के लिए द्वितीय तथा चतुर्थ महाप्राण के मध्य अल्पप्राण के उच्चारण का विधान किया गया।

प्रत्येक वर्ग का अपना स्पर्शी अनुनासिक भी है। ये वर्गों के अन्तिम अर्थात् पञ्चम वर्ण - ङ ञ ण न म - द्विस्थानीय हैं। इनके उच्चारण में स्वस्थान के साथ नासिक का भी सहयोग रहता है। अतः द्विस्थानीय वर्णों का पाठ एकस्थानीयों के पश्चात् अर्थात् अन्त में किया गया है।

पाठक्रम में अब अन्तःस्थों - य र ल व की व्यवस्था दी गई है। वहाँ भी श्वासवायु के भ्रमणानुसार उच्चरित वर्णों की व्यवस्था है। कण्ठ्य अन्तःस्थ प्राप्त नहीं है तब तालव्य - य, मूर्धन्य-र, दन्त्य-ल, दन्त्योष्ठ्य-व के क्रम से अन्तःस्थों का स्थान निश्चित किया गया है।

अब बारी आती है ऊष्म ध्वनियों की, वहाँ भी तालु, मूर्धा और दाँतों के प्रयोग से श ष स के उच्चारण का विधान है। यहाँ तालुजन्य शकार का मूर्धाजन्य षकार से पूर्व पाठ स्थान भेद पर आधारित न होकर करण माध्यम पर आधारित है। अतः करण जिह्वामध्य तालव्य शकार को पूर्व में[38] तथा करण जिह्वाग्र मूर्धन्य षकार को बाद में[39] स्थान दिया गया है। पता नहीं क्यों यहाँ कण्ठ से उच्चारित ह को अन्त में स्थान दिया गया ? सम्भवतः इस कारण कि पूर्व घोषित तीनों प्रकार के वर्ण मात्र अघोष हैं जबकि ह में अघोषत्व तथा सघोषत्व दोनों के गुण वर्तमान हैं। एक अन्य समाधान यह भी दिया जा सकता है कि हकार का अपना कोई उच्चारण स्थान नहीं होता, उसका उच्चारण स्थान परवर्ती स्वर निश्चित करता है[40] अर्थात् ह - ह् अ, अ के प्रभाव से यहाँ ह कण्ठ्य है, हि - ह् इ के प्रभाव से ह तालव्य है तथा हु - ह् उ के प्रभाव से ह ओष्ठ्य है।

दो ध्वनियों में अन्तः पद परिवर्तन के परिणामस्वरूप जो नूतन ध्वनि हमारे उच्चारण में उपलब्ध होती है वह संयुक्त व्यञ्जन कहलाती है।[41] संयुक्त व्यञ्जन भाषा की महत्त्वपूर्ण इकाई हैं। समग्र संयुक्त व्यञ्जन दो वर्णों का मिश्रण होने के कारण स्व-स्व स्थान से उच्चरित होते हैं। यह सामान्य वर्णों की अपेक्षा अधिक भारयुक्त माने गए हैं,[42] इस कारण यह अपने पूर्ववर्ती वर्ण को अधिक प्रभावित करते हैं, लेखन में नहीं मात्र भाषा के उच्चारण में। उच्चारण काल में पूर्व वर्ण पर अधिक बल देना होता है।

स्पष्ट है कि शिक्षा ग्रन्थों एवं प्रतिशाख्यों में वर्णित वर्णसमाम्नाय की वर्णक्रम व्यवस्था ध्वनि सिद्धान्त पर आधारित है। इस सुनिश्चित क्रम व्यवस्था की वैज्ञानिकता में कोई दोष नहीं, कोई न्यूनता उपलब्ध नहीं होती है।

पाणिनि व्याकरण की प्रमुख आधारशिला माहेश्वर (शिव) सूत्र संख्या में चतुर्दश हैं तथा व्याकरण शास्त्र के व्याख्यान में पूर्णतया समर्थ हैं। इन सूत्रों के आदि में माहेश्वर शब्द क्यों कर-आ गया, इस विषय में भारतीय परम्परा एक कथा का आख्यान करती है। भाषाशास्त्र जिज्ञासु पाणिनि ने घोर तपस्या से शिव को प्रसन्न किया और उनके अनुग्रह से अक्षर समाम्नाय प्राप्त कर सम्पूर्ण व्याकरण का प्रवचन किया।[43] सम्भवतः यह मान्यता इस तथ्य पर आधारित है कि पौराणिक परम्परा शंकर को ज्ञान का देवता स्वीकार करती है।[44] नाद से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है, शंकर नादपुत्र हैं—वन्दे नादतनुम्। शंकर के डमरू की ध्वनियाँ ही अष्टाध्यायी में सूत्र रूप से संकलित की गई[45] यथा गान कला में हम किसी वाद्य यन्त्र के माध्यम से षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद - स्वर प्राप्त कर लेते हैं। वस्तुतः पाणिनि समाधि द्वारा वैखरी से क्रमशः मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा वाणी में स्थित हुए। षट्चक्र का भेदन कर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर शिव रूपी नाद के साक्षात् में समर्थ हुए।[46]

सारस्वत भाष्य में उल्लिखित श्लोकानुसार माहेश्वर व्याकरण विशाल रूप में उपलब्ध था, कालान्तर में यह व्याकरण तथा इसके अध्येता समाप्तप्राय हो गए। सम्भव है पाणिनि ने पूर्व परम्परा से शिव सूत्रों का अध्याहार किया हो।[47] इस साक्ष्य के अनुसार शिवसूत्र अपाणिनीय सिद्ध हुए यद्यपि अपौराणिक परम्परा इन्हें पाणिनि रचित ही मानती है। प्राचीन वैयाकरणों में स्कन्दस्वामी[48] ने इन्हें स्पष्ट रूप से पाणिनि की रचना माना है। वर्तमान काल में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अष्टाध्यायी भाष्य में इस तथ्य की पुनः विवेचना कर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है तथा महाभाष्य की सहायता से इन्हें पाणिनि विरचित प्रमाणित किया है।[49] युधिष्ठिर मीमांसक भी इन्हें पाणिनि कृत मानने के पक्ष में हैं।[50]

इस मत के समर्थक वैयाकरण इन सूत्रों को माहेश्वर सूत्र न कहकर 'प्रत्याहार सूत्र'[51] संज्ञा देते हैं। यद्यपि पाणिनि ने इनकी कोई संज्ञा नहीं दी केवल 'अथ शब्दानुशासनम्' कह कर सूत्र प्रस्तुत कर दिए—

अथ शब्दानुशासनम्

प्रत्याहार (माहेश्वर) सूत्र

अइउण्। ऋलृक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषसर्। हल्। इति

इन चौदह प्रत्याहार सूत्रों का अध्ययन हम दो दृष्टियों से कर सकते हैं —

१. प्रचलित पाणिनि वर्णमाला के आधार पर[52]

२. ध्वनियों के आधार पर[53]

प्रथम के अनुसार - मूल भारोपीय ध्वनियों से प्राप्त वर्णमाला के समान प्रत्याहार सूत्रों में सर्वप्रथम समग्र स्वरों[54] का गणन है, ऊष्म ध्वनि है,[55] अन्तःस्थ है[56] और अन्त में समग्र व्यञ्जन है[57] व्यञ्जनों का क्रम विपरीत है, सर्वप्रथम पञ्चम वर्ण अर्थात् अनुनासिक वर्ण[58] तत्पश्चात् सघोष महाप्राण चतुर्थ व तृतीय व्यञ्जन,[59] तदनन्तर अघोष महाप्राण द्वितीय तथा प्रथम वर्ण,[60] तदनन्तर तालव्य मूर्धन्य तता दन्त्य सकार[61] और अन्त में अघोष ह ध्वनि[62] व्यवस्थित है।

द्वितीय के अनुसार - पाणिनि के मत में मूल ध्वनि अ है जो यण्, सम्प्रसारण, गुण, वृद्धि, ह्रस्वादेश, सन्धि सबसे परे है। कुछ विद्वानों ने यह संख्या तीन मानी है[63] - अ इ उ। कुछ ने ऋ लृ का समावेश कर पाँच मूल ध्वनियाँ[64] स्वीकार की है। मेरे विचार में अ को ही मात्र मूल ध्वनि [65] के रूप में स्वीकार करना पाणिनि का उद्देश्य था। यह अ प्रत्येक स्थिति में अपरिवर्तनीय है, समग्र विकृतियों से रहित है, जबकि इ उ ऋ लृ निरन्तर परिवर्तनशील है, गुण,[66] वृद्धि,[67] यण्[68] से प्रभावित हैं।

दीर्घ आ ह्रस्व अ का ही विकसित रूप (lengthened vowel) है। ए ओ तथा ऐ औ - अपने पूर्व स्थित वर्ण अ इ उ ऋ लृ का ही परिणाम हैं। इस प्रकार इन ध्वनियों के आधार पर अ को मूल ध्वनि मान कर समग्र स्थानों अर्थात् मुख के प्रत्येक भाग से उसका उच्चारण कण्ठ के समान ही वैध माना गया।[69] अ के साथ इ उ ऋ लृ के सहयोग से विपरिणमित स्वर ए ओ गुण तथा गुणों की वृद्धि स्वरूप प्राप्त ऐ औ कुल मिलाकर अच् कहलाए।[70]

ह की आवश्यकता पाणिनी को दो बार दो विभिन्न स्थलों पर अनुभव हुई। माहेश्वर वर्ण समाम्नाय के वर्णक्रम में ह को दो बार[71] ग्रहण करने से अनेक सूत्रों में लाघव प्राप्त हो सकता था तथा प्रयोग काल में अनावश्यक वर्णों के न आने से ये मध्यगत वर्ण अव्यवस्था या अनियमितता उत्पन्न करने में भी अक्षम थे।

यण् अर्थात् य् व् र् ल् इक् प्रत्याहार का विपरिणमन है। यणों का संकोचन[72] भी इक् प्रत्याहार में होता है। अतः अ के स्थानापन्नी ह को[73] व्यञ्जनक्रम में सर्वप्रथम स्थापित कर अ के पश्चात् आने वाले इक् के स्थानापन्नी यण् प्रत्याहार की क्रम व्यवस्था है। व्यञ्जनों की क्रम व्यवस्था का एक अन्य आधार वर्णों के उच्चारण में होने वाले प्रयत्न विशेष हैं। उदात्त,[74] अनुदात्त,[75] स्वरित[76] के भेद से उच्चरित स्वर समुदाय के अनन्तर हश् प्रत्याहार - ह् य् व् र् ल् ञ् म् ङ् ण् न् झ् भ् घ् ढ् ध् ज् ब् ग् ड् द् है जिसका प्रयत्न संवार[77] नाद और घोष है तथा हश् प्रत्याहार के पश्चात् आगत खय् प्रत्याहार - ख् फ् छ् ठ् थ् च् ट् त् क् प् का उच्चारण प्रयत्न विवार[78] श्वास अघोष है । सर्वान्त में पुनः पठित हकार विसर्ग का स्थानापन्नी है तथा प्रयत्न में अघोष ही है।

वर्ण समाम्नाय में सर्वप्रथम आगत स्वर अल्पप्राण है। स्वरों में सन्ध्यक्षरों - ए ओ तथा ऐ औ इस क्रम के उपदेश का आधार प्रयत्न है। विवृततर प्रयत्नजन्य ए ओ पूर्व में तथा विवृततम प्रयत्नजन्य ऐ औ पश्चात् उपदिष्ट हैं। स्वरों के पश्चात् स्थापित व्यञ्जनों में यण् प्रत्याहार व ञम् प्रत्याहार [अनुनासिक पञ्चम वर्ण] अल्पप्राण हैं। झष् प्रत्याहार [वर्गों के चतुर्थ वर्ण] महाप्राण, जश् प्रत्याहार [वर्गों के तृतीय वर्ण] अल्पप्राण, ख् फ् छ् ठ् थ् [वर्ग द्वितीय वर्ण] महाप्राण, चय् प्रत्याहार [वर्ग प्रथम वर्ण] अल्पप्राण तथा शल् प्रत्याहार महाप्राण प्रयत्न समन्वित हैं। यहाँ भी उच्चारण की सुविधा के लिए अल्पप्राण महाप्राण का क्रम रखा गया है।

भाषा का स्वरूप विशेष रूप से वर्णमाला के सम्यक् उच्चारण पर आश्रित रहता है, इसीलिए अति प्राचीन काल से ही वेदों के शुद्ध उच्चारण को महत्त्व दिया गया है और शुद्ध उच्चारण की परम्परा को सुरक्षित रख सहस्त्रों वर्षों तक लेखबद्ध हुए बिना भी श्रुत परम्परा से श्रुतियों की रक्षा की गई । अशुद्ध उच्चारण से इष्ट प्राप्ति असम्भव है। अतः ब्राह्मण कदापि वाणी को दूषित न करे। प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में भी शुद्ध उच्चारण ज्ञान के पश्चात् ही शब्दों का उपदेश किया जाता था।[79] पाणिनि की भी यह

मान्यता थी कि वर्णों का समुचित उच्चारण सम्यक् प्रयत्न से ही सम्भव है, उसी कारण प्रयत्न को आधार बनाकर उन्होंने वर्ण समाम्नाय का उपदेश संसार को दिया। किन्तु सूत्र रचना की प्रेरणा पाणिनि को मिली कहाँ से ? मेरे विचार में फिट् सूत्र पाणिनि के प्रेरणा बिन्दु थे। पाणिनि ने सुप् विभक्ति से पूर्व जिस अर्थवान् शब्द को प्रतिपादिक कहा[80] वही प्रतिपादिक पाणिनि पूर्व आचार्यों में फिट् नाम से प्रख्यात था।[81]

प्रत्याहार सूत्र इतने व्यवस्थित क्रम में रखे गए हैं कि महर्षि पतञ्जलि से लेकर आधुनिक काल तक के संस्कृत भाषा के सभी वैयाकरणों ने वर्णमाला के इसी क्रम को आधार मानकर व्याकरण ग्रन्थों की रचना की।[82] प्रत्याहार सूत्र शिव प्रदत्त हों या मौलिक, पाणिनि ने उन्हें पूर्ण अधिकार के साथ समग्र उत्तरदायित्व वहन करते हुए मानों आत्मसात् कर लिया और व्याकरण के क्षेत्र में ऐसी लक्ष्मण रेखा की परिधि बना दी जिसे उनके बाद आने वाले किसी भी वैयाकरण के लिए उल्लंघित कर जाना असम्भव हो गया। प्रत्येक सार्थक ध्वनि से युक्त प्रत्याहार सूत्र अथवा वर्णमाला देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो पाणिनि अपने युग के सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्री हों। पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है कि प्रकरण विशेष में सूत्रों का स्थापन होने से एक भी वर्ण अनर्थक नहीं है, समग्र वर्णमाला के आनर्थक्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

पाणिनि साहित्यकार थे[83] अतः प्रचलित ध्वनियों के प्रयोग में पूर्णतया सक्षम थे, किन्तु प्रत्याहार बनाने की सुविधा[84] तथा भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण[85] - इन दो कारणों से उन्होंने शिव सूत्रों की रचना की और एक-एक ध्वनि की गम्भीर सत्ता पर विचार कर उसे शिव सूत्रों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया। पाणिनि व्याकरण में ध्वनियों का वर्गीकरण प्रत्याहारों में आबिद्ध है।[86] मध्ययुगीन भारतीय वैयाकरणों ने इस ध्वनिक्रम को तोड़ना चाहा था किन्तु पाश्चात्य[87] और भारतीय भाषाविद्[88] पूरे यत्न के बाद भी इससे अच्छे ध्वनिक्रम को विकसित नहीं कर पाए हैं।[89]

सन्दर्भ-सङ्केत

1. प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम् - महाभाष्य, पस्पशाह्निक
2. व्याकरणं नामेयं उत्तराविद्या - महाभाष्य, 1.2.32
3. चत्वारिश्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महादेवो मर्त्यान् आविवेश ।। ऋग्वेद, 4.58.3
4. ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः किं प्रातिपादिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वैयाकरणम्, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम् ---- । गोपथ ब्राह्मण, 1.24
5. संस्कृतं नाम दैवी वाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः - काव्यादर्श, दण्डी, 13.3
6. अट् कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि - अष्टाध्यायी, 8.4.2
7. अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः - अष्टाध्यायी 1.1.69
8. त्रयोविंशतिरुच्यते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः - वाजसनेयि प्रातिशाख्य, 8.28 - अ आ आ३, इ ई ई३, ऋ ॠ ॠ३, ऌ ॡ ॡ३, ए ए३, ओ ओ३, ऐ ऐ३, औ औ३ । द्वाचत्वारिंशद् व्यञ्जनानि तावन्वर्णसंग्रहः - वाजसनेयि प्राति०, 8.28 - कवर्ग चवर्ग टवर्ग तवर्ग पवर्ग, अन्तःस्थ, ऊष्म, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य, चार यम ।

9. स्वर् + अच्, स्वृ + अप्, प्रातिशाख्यों में इन्हें अक्षर - न क्षरति इति कहा गया ।
10. विशेषेण अञ्जते इति व्यञ्जते इति व्यञ्जनम्, वि + अञ्ज् + ल्युट्
11. अन्तः मध्ये तिष्ठन्ति इति अन्तःस्थाः
12 ऊष + मक्, मनिन्, उष्मा वायुस्तत्प्रधाना वर्णा ऊष्माणः - ऋग्वेद प्राति० 1.10 पर उवट भाष्य
13 सम् + युज् + क्त
14 अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः - पाणिनीयशिक्षा, स्थानप्रकरण
15. जिह्वामूलीयो जिह्व्यः, पाणिनीयशिक्षा, स्थानप्रकरण
16. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः, पाणिनीयशिक्षा, स्थानप्रकरण
17. अनुस्वारयमा नासिक्याः, पाणिनीयशिक्षा, स्थानप्रकरण
18. ऋग्वेदप्राति०, 1.52
19. विवृतकरणाः स्वराः, पाणिनीयशिक्षा, स्थानप्रकरण
20. स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः, पाणिनीयशिक्षा, स्थानप्रकरण
21. स्वयं राजन्त इति स्वराः - महाभाष्य, 1.2.29
22. अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति - महाभाष्य, 1.2.29
23. वेद में दो स्वरों के मध्य ड के लिए ळ और ढ के लिए ळह लिखते हैं ।
24. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ।। पाणिनीय शिक्षा
25. अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह सन्धौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते - ऋक्प्राति० पर उवट भाष्य ।
26. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः - अष्टाध्यायी, 1.2.27 उश्च ऊश्च उ३श्च वः - वा कालं इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात् ।
27. उरण् रपरः - अष्टाध्यायी, 1.1.50
28 तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् - अष्टाध्यायी, 1.1.9; ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम् - वार्तिक
29. परेष्वैकारमोजयोः - ऋ० प्राति०, 2.18
30. औकारं युग्मयोः - ऋ० प्राति०, 2.19
31. तेभ्य ए ओ विवृततरौ, पा० शिक्षा, अन्तः प्रयत्न प्रकरण, 9
32. ताभ्यामै औ, पा० शिक्षा, अन्तः प्रयत्न प्रकरण, 10.
33. अनुपश्चात् नासिका प्रयुञ्जते इति अनुनासिकः
34. वि + सृज् + घञ् तथा वि + सृज् + अनीयर
35. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ,
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ,
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा मतः ।। पाणिनीय शिक्षा
36. वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानम्, कण्ठस्य खे विवृते संवृते च आपद्यते श्वासतां नादतां वक्त्रीहायाम् - ऋग्वेद प्राति०, 31.1
37. उच्चारण में गूँज न होना अघोष और गूँज होना सघोष
38. जिह्वामध्येन तालव्यानाम्, पा० शिक्षा, करणप्रकरण
39. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम् पा० शिक्षा, करणप्रकरण
40. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
41. हलोऽनन्तराः संयोगः - अष्टाध्यायी 1.1.7

42. संयोगे गुरुः - अष्टाध्यायी 1.4.41
43. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।। काशिका, नन्दिकेश्वर
44. ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात्, विद्याकामस्तु गिरीशं
45. येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् । कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तम् – – –।। पाणिनीय शिक्षा
46. शिवादिभ्योऽण् - अष्टाध्यायी, 4.1.152
47. समुद्रवद् व्याकरणं माहेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरेन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ।।
48. नापि 'अइउण्' इति पाणिनीयप्रत्याहार समाम्नायवत् --- --- --- । निरुक्त 1.1, टीका
49. हयवरट् - प्रत्याहार सूत्र पर महाभाष्य - एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते ।
50. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 212
51. प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णाः यत्र स प्रत्याहारः
52. Scholars --- concentrated on the re-organization of a traditional consonant list which was modified to produce pāṇini's list. G. cadrona, p. 209.
53. Pāṇini's principles be observed in stating morpho-phonemics alteration, G. cadrona, p. 208.
54. अचः स्वराः
55. ह सघोष ध्वनि
56. यणो अन्तःस्थाः
57. हलि सर्वेषाम् - अष्टाध्यायी, 8.3.22, कादयो मावसाना स्पर्शाः
58. ञमङणनानां स्व-स्व स्थाना नासिकास्थाना च - ऋग्वेदप्राति 1.14
59. हशः संवारा नादा घोषाश्च
60. खरो विवारा श्वासाः अघोषाश्च
61. शल ऊष्माणः
62. शलश्च महाप्राणाः
63. तिस्रो वाचः प्रवद - ऋग्वेद, 7.10.11, तिस्रो वाच उदीरते - ऋग्वेद 9.33.4
64. तेषां विभागः पञ्चधा मतः - पाणिनीय शिक्षा
65. एकं गर्भ दधिरे सप्तवाणीः - ऋग्वेद, 3.1.6
66. अदेङ् गुणः - अष्टाध्यायी, 1.1.2
67. वृद्धिरेचि - अष्टाध्यायी, 6.1.85
68. इकोयणचि - अष्टाध्यायी 6.1.77
69. अकार एव सर्वावाक्
70. अचाः स्वराः
71. हयवरट् - शश्छोऽटि - अष्टाध्यायी, 8.4.63
हल् - शल् इगुपधादनिटः क्सः - अष्टाध्यायी, 3.1.45
72. अस्माकम् > हमारा (हिन्दी भाषा)
74. उच्चैरुदात्तः - अष्टाध्यायी, 1.2.29
75. नीचैरनुदात्तः - अष्टाध्यायी, 1.2.30
76. समाहारः स्वरितः - अष्टाध्यायी 1.2.31
77. संवारयति संकोचयति मुखम् - मुख का संकुचन
78. विवारयति विकासयति मुखम् - मुख का विकास

79. तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित वै नापभाषित वै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते - महाभाष्य पस्पशाह्निक

80. अथर्वदधातुरप्रत्ययःप्रातिपदिकम् - अष्टाध्यायी, 1.2.45
कृत्तद्धितसमासाश्च - अष्टाध्यायी, 1.2.46

81. एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव + अयं तु विशेषः ऐऔषू तद् ऐऔच् इति कृतम् ।

82. इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं - पुण्यराज, पृ० 283.

83. जाम्बवती जय [पाताल विजय], पाणिनि काव्यकार - P. Peterson, JRAS 1891.

84. इको यणचि - अष्टाध्यायी, 6.1.77, झलां जश् झशि - अध्याध्यायी 8.4.53

85. Fuddegon [1929 : 50] claimed the 'Śiva sutras had two purposes to give a phonetic classification and ''to afford the means of formulating concisely cuphonic and morphologic rules.''

86. शिलालेख - अङ्कोखत्, बृहत्तर भारत, पृ० 32

87. Pāṇini : A survey of research, George Cadrona, p. 209

88. Pāṇini : A survey of research, George Cadrona, p. 209

89. Pāṇini : A survey of research, George cadrona, p. 209

वंशावली

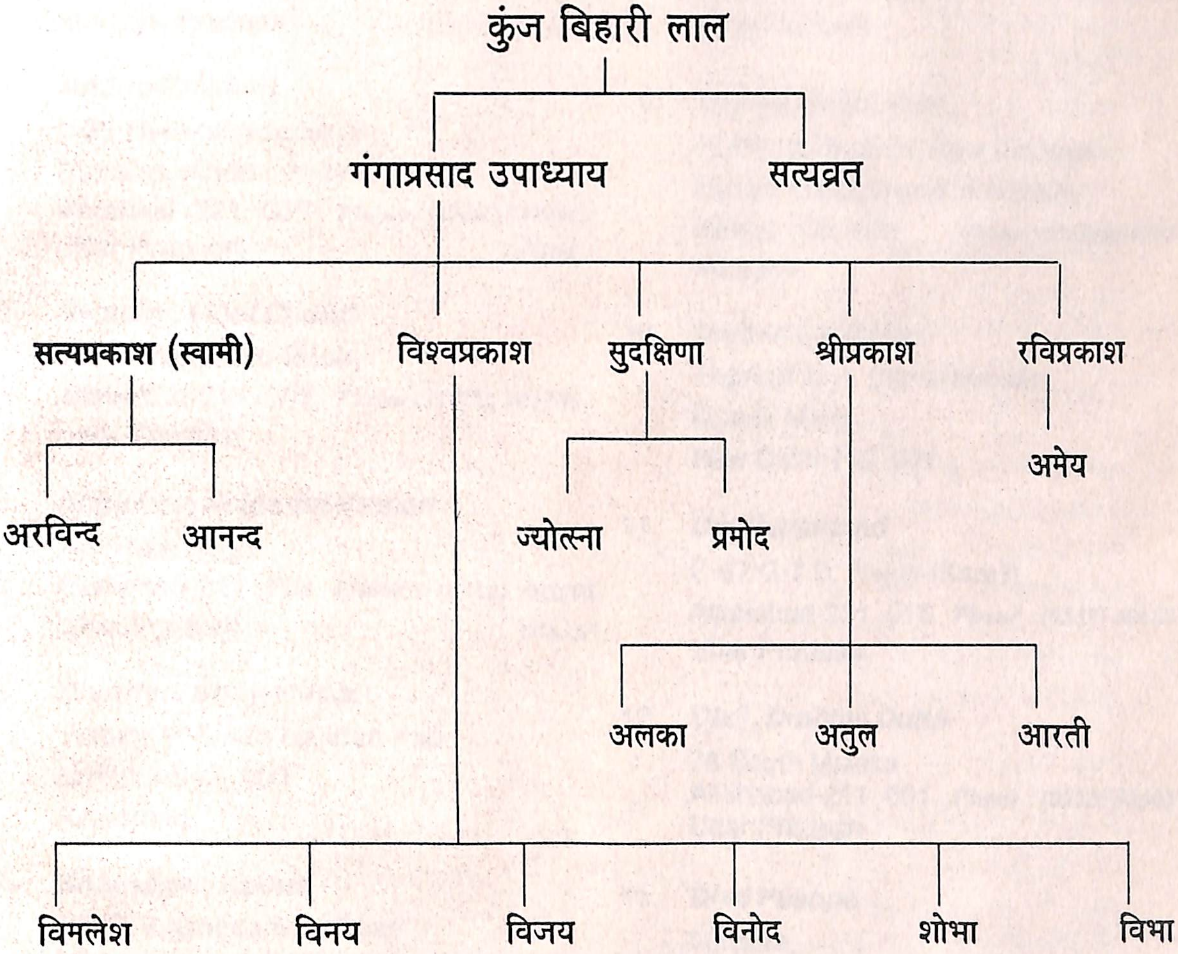
कुंज बिहारी लाल
गंगाप्रसाद उपाध्याय
सत्यव्रत
सत्यप्रकाश (स्वामी)
विश्वप्रकाश
सुदक्षिणा
श्रीप्रकाश
रविप्रकाश
अमेय
अरविन्द
आनन्द
ज्योत्स्ना
प्रमोद
अलका
अतुल
आरती
विमलेश
विनय
विजय
विनोद
शोभा
विभा

CONTRIBUTORS

1. ***Agnihotri, Prabhu Dayal***
E-2/73 Mahavir Nagar
Bhopal- 462 016 *Phone : (0755) 565240*
Madhya Pradesh

2. ***Anand Prakash***
L-29 Hyderabad colony
Banaras Hindu University
Varanasi -221 005 *Phone : (0542) 311868, 312102*
Uttar Pradesh

3. ***Awasthi, Mool Chand***
68-A Chak, Zero Road,
Allahabad-211 003 *Phone : (0532) 401106*
Uttar Pradesh

4. ***Bajpayee, Rajendra Kumari***
110 Ram Bagh
Allahabad-211 003 *Phone s: (0532) 605502, 604332*
Uttar Pradesh

5. ***Bhartiya, Bhawani Lal***
'Ratnakar' 8/423 Nandan Van
Jodhpur-342 000
Rajasthan

6. ***Bhatnagar, Komal***
5-B C.Y. Chintamani Road
Allahabad-211 002 *Phone : (0532) 601184*
Uttar Pradesh

7. ***Bhatta, Dhiranand (Father)***
'Sadhana Sadan' 1 Tashkent Road
Allahabad-211 001 *Phone : (0532) 609432*
Uttar Pradesh

8. ***Chaturvedi, Narmadeshwar (Late)***
239 Chak, Zero Road,
Allahabad-211 003 *Phone : (0532) 401028*
Uttar Pradesh

9. ***Dahiya, Yajan Veer***
H. No. 23 Type III, New Campus
Maharshi Dayanand University,
Rohtak-124 001 *Phone : (01262) 42054*
Haryana

10. ***Darbari Lal (Late)***
Anarkali Arya Samaj Mandir
Mandir Marg
New Delhi-110 001

11. ***Darshananand***
C-67 G.T.B. Nagar (Kareli)
Allahabad-211 016 *Phone : (0532) 606652*
Uttar Pradesh

12. ***Dixit, Brahma Dutta***
78 South Malaka
Allahabad-211 001 *Phone : (0532) 606027*
Uttar Pradesh

13. ***Dixit Pushpa***
Telipara,
Bilaspur *Phone : (07752) 7815*
Madhya Pradesh

14. ***Dubey, D.P.***
4A/2/1 Muirabad
Allahabad-211 002 *Phone : (0532) 641169*
Uttar Pradesh

15. ***Dwivedi, Kapil Dev***
'Shanti Niketan'
Gyanpur
Bhadohi-221 304 *Phone : (05418) 37250*
Uttar Pradesh

16. ***Gajanand Arya***
'Sukshiti'
19 Baliganj, Circular Road
Calcutta-700 019 *Phones : (033) 482614, 474386*
West Bengal

17. ***Gangadharan, N.***
15 Devan Colony,
Muthalamman Koil Street
Chennai (Madras)-600 033
Tamilnadu *Phone : (044) 4825153*

18. ***Gupta, Jagdish***
181-A1 Daraganj
Allahabad-211 006 *Phone : (0532) 605035*
Uttar Pradesh

19. ***Gupta, Mamta***
HIG 28 Circular Road
Allahabad-211 001 *Phone : (0532) 623395*
Uttar Pradesh

20. ***Gupta, Prem Shanker, Justice***
'Shanti Nilay'
25/1-A Tagore Town
Allahabad-211 002 *Phone : (0532) 603033*
Uttar Pradesh

21. ***Gupta, Rajendra Narayan***
204 Mutthiganj
Allahabad-211 003 *Phone : (0532) 403122*
Uttar Pradesh

22. ***Jaiswal, M.L.***
606 Mumfordganj,
Allahabad-211 002 *Phone : (0532) 441350*
Uttar Pradesh.

23. ***Kantawala, S.G.***
Kantareshwar, Mahadev's Pole,
Baijwada,
Vadodara-390 001 *Phone : (0265) 329334*
Gujrat

24. ***Kawathekar, P.N.***
145 Anoop Nagar
Indore-452 008 *Phone : (07311) 440644*
Madhya Pradesh

25. ***Khan, M.I.***
F D/56 New Kavi Nagar
Ghaziabad *Phone : (0575) 8-49256*
Uttar Pradesh

26. ***Kulshreshtha, Sushma***
K C/12-B Ashok Vihar,
Delhi-110 052 *Phone : (011) 7120287*

27. ***Malviya, Maya***
152/1 Silakhana, Teliyarganj,
Allahabad-211 004 *Phone : (0532) 640152*
Uttar Pradesh

28. ***Mishra, Abhiraj Rajendra***
14 Teacher's Hostel, Summer Hill
Shimla-171 005 *Phone : (0177) 231407*
Himachal Pradesh

29. ***Mishra, Durga Prasad***
128 Chandrika, Shivaji Marg,
Merrut-250 001
Uttar Pradesh

30. ***Mishra, Rajesh***
14 Teacher's Hostel, Summer Hill
Shimla-171 005 *Phone : (0177) 231407*
Himachal Pradesh

31. ***Mishra, Sheo Gopal***
25 Ashok Nagar
Allahabad-211 001
Uttar Pradesh

32. ***Mohit Mohan Lal***
L' Avenir
Saint Pierre *Phone : (00230) 534-238*
Mauritius

33. ***Narayan Dutta***
2/C Kulsum Terrace
7 Valton Road
Mumbai-400 039
Maharashtra

34. ***Pandey, B. N.***
Gandhi Smriti Darshan Samiti
5 Tees January Marg
New Delhi-110 011

35. ***Pandey, Janardan Prasad 'Mani'***
136/2C/2 Chandpur Salori
Manas Nagar, C-Lines
Allahabad-211 004
Uttar Pradesh

36. ***Pandey, Om Prakash***
23 Milani Park, University Campus,
Badshah Bagh
Lucknow-226 007
Uttar Pradesh

37. ***Pathak, Turshan Pal***
Publication & Information Directrate
Dr, K.S. Krishnan Road
New Delhi-110 012

38. ***Prajna Devi (Late)***
Jijnasu Smarak Panini Kanya Mahavidyalaya
Tulsipur
Varanasi-221 010
Uttar Pradesh

39. ***Prashasya Mitra Shastri***
B-29 Anand Nagar (Jail Road)
Rai Bareli-229 001 *Phone : (0535) 803941*
Uttar Pradesh

40. ***Radhey Mohan***
587 Mutthiganj (Babu Ganj Mandi)
Allahabad-211 003 *Phone : (0532) 404364*
Uttar Pradesh

41. ***Raghuveer Vedalankar***
'Ved Mandir'
D-12 Sector-8
Rohini *Phone : (011) 7271317*
New Delhi-110 034

42. ***Rai Suresh Vrat***
'Parijata' C-160 G.T.B. Nagar (Kareli)
Allahabad-211 016 *Phone : (0532) 600549*
Uttar Pradesh

43. ***Rajendra Jigyasu Pradhyapak***
'Ved Sadan'Nai Suraj Nagari
Abchar-152 116
Punjab

44. ***Rama Goparaju***
23-47-40 Kidwai Nagar
Matiyara Road, Allahpur
Allahabad-211 006 *Phone : (0532) 600957*
Uttar Pradesh

45. ***Ranganath, S.***
58/203 West Park Road
Malleswaram
Bangalore-560 055 *Phone : (080) 3347192*
Karnataka

46. ***Ravindra Satyarthi Swami***
27 Park Road
Allahabad-211 002 *Phone : (0532) 601066*
Uttar Pradesh

47. ***Sahagal, Ram Nath***
A-419 Defence Colony,
New Delhi-110 024 *Phones : (011) 461595, 4693607*

48. ***Saxena, Usha 'Madhvi'***
'Shiv Sadan'
Nagaratoli,
Ranchi-834 001 *Phone : (0651) 209884*
Bihar

49. ***Shanti Dev Bala***
423-C Sector B-1 Mahanagar
Lucknow-226 006 *Phone : (0522) 385350*
Uttar Pradesh

50. ***Sharma, Brahmanand***
7-Ka-15 Jawahar Nagar
Jaipur *Phone : (0141) 567849*
Rajasthan

51. ***Sharma Chiranjivi***
'Ved Bhavan' Shringeri Math
Alopi Bagh
Allahabad-211 006
Uttar Pradesh

52. ***Sharma, Devendra***
C-1038 Ram Sagar Mishra Nagar
Lucknow-226 016 *Phone : (0522) 382605*
Uttar Pradesh

53. ***Sharma, Hari Dutta***
5-Allahabad University Professor's Flat
Engineering College Campus
Allahabad-211 004 *Phone : (0532) 640185*
Uttar Pradesh

54. ***Sharma, Lal Bahadur Shastri***
100 MIG Kalindipuram
Allahabad-211 011 *Phone : (0532) 651476*
Uttar Pradesh

55. ***Shashi Prabha Kumar***
'Abhyudaya' 295 Sector 15-A
Noida-201 301 *Phones : 8-524855, 8-538743*
Uttar Pradesh

56. ***Shukla, Chandra Kant***
14/3 University Colony
Bariyatu Road
Ranchi-834 009 *Phone : (0651) 317608*
Bihar

57. ***Shyam Kumari (Shyama)***
5-A Dayanand Marg
Allahabad-211 001 ***Phone : (0532) 622235***
Uttar Pradesh

58. ***Singh, Kailash Nath***
5 Mirabai Marg
Lucknow-226 001 ***Phone : (0522) 213192***
Uttar Pradesh

59. ***Singh Rajendra 'Rajju Bhaiya'***
Dr. Hedgewar Bhawan, Mahal
Nagpur-440 002 ***Phones : (0712) 723003, 721589***
Maharashtra

60. ***Singh, V.K.***
47/48-A Balrampur House
Allahabad-211 004 ***Phone : (0532) 641237***
Uttar Pradesh

61. ***Srivastava, A.L.***
C-168 Sector-C Mahanagar,
Lucknow-226 006
Uttar Pradesh

62. ***Srivastava, Urmila***
C-632 G.T.B. Nagar (Kareli)
Allahabad-211 016 ***Phone : (0532) 606538***
Uttar Pradesh

63. ***Thite, G.U.***
21 Erandavana Gavathan
Pune-411 004 ***Phone : (0212) 356061***
Maharashtra

64. ***Tiwari, Shashi***
54 Sakshar Apartments
A-3 Pashchim Vihar
New Delhi-110 063 ***Phone : (011) 5585237***

65. ***Tondon, Kiran***
Pervak Lodge
Raj Bhawan Marg
Nainital-1
Uttar Pradesh

66. ***Tripathi, G.C.***
178 Alenganj
Allahabad-211 002 ***Phones : (0532) 607254, 611241***
Uttar Pradesh

67. ***Tripathi, Hari Shankar***
1-D Baghambari Road
Daraganj
Allahabad-211 006
Uttar Pradesh

68. ***Tripathi, Kesari Nath, MLA***
12-B Colvin Road
Allahabad-211 001 ***Phones : (0532) 622358, 623527***
Uttar Pradesh

69. ***Vedvati Vaidic***
A-19 Press Enclave
Saket ***Phones : (011) 6867700, 667295***
New Delhi-110 017

70. ***Vidyanand Saraswati Swami***
D-14-16 Model Town
Delhi-110 009 ***Phone : (011) 7127928***

आर्य कन्या डिग्री कालेज इलाहाबाद

प्रबन्धकर्तृ समिति

१.	*श्री हीरा लाल शर्मा*	*प्रधान*	*आर्य समाज चौक, पदेन*
२.	श्री लाल बहादुर शर्मा	प्रधान	
३.	श्री सुरेन्द्र नाथ सिंह	उप प्रधान	
४.	श्री पं० मूल चन्द अवस्थी	प्रबन्धक	
५.	श्री राधे मोहन	उप प्रबन्धक	
६.	श्री श्याम प्रकाश	कोषाध्यक्ष	
७.	श्री मोहन राम शर्मा	सदस्य	
८.	श्री सालिग राम साहू	सदस्य	
६.	श्री नन्द कुमार मिश्र	सदस्य	
१०.	श्री रवीन्द्र नाथ जायसवाल	सदस्य	
११.	श्री उदय नारायण सिंह	सदस्य	
१२.	श्री कन्हैया लाल पोरवाल	सदस्य	
१३.	डॉ० कोमल भटनागर	प्राचार्या	
१४.	डॉ० सुनीता भूटानी	वरिष्ठ प्रवक्ता	
१५.	डॉ० रेनू जैन	वरिष्ठ प्रवक्ता	

ओ३म्

'स्त्री शिक्षा' आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द का स्वप्न था। उनके इस स्वप्न को साकार करने के उद्देश्य से महिला वर्ष के अन्तर्गत सन् १९७५ में **आर्य समाज चौक, इलाहाबाद** द्वारा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सहयुक्त महाविद्यालय के रूप में **आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद** की स्थापना हुई थी। सम्प्रति महाविद्यालय में सुयोग्य २२ प्रवक्ताओं के निर्देशन में लगभग डेढ़ हजार छात्राएँ स्नातक कक्षाओं में मान्यता प्राप्त १३ विषयों में अध्ययनरत हैं। समग्र शिक्षणेतर कर्मचारियों का अध्यवसाय पूर्ण सहयोग महाविद्यालय की व्यवस्था को सुचारु गति देता है। निकट भविष्य में विज्ञान संकाय तथा कतिपय अन्य विषयों में परास्नातक कक्षाओं के सञ्चालन की सम्भावना है।

महाविद्यालय में छात्राओं के चारित्रिक उत्थान एवं बौद्धिक विकास की दृष्टि से सत्र में अनेकशः अग्निहोत्र, वैदिक मंत्रोच्चार, राष्ट्रीय पर्व, प्रबुद्ध जनों के व्याख्यान, प्रतियोगिताएँ, विचार गोष्ठियाँ, काव्य सभाएँ आदि विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित होते हैं। विशाल श्रोतृशाला, समृद्ध पुस्तकालय, आधुनिक उपकरण एवं खेलों आदि की सुविधाएँ छात्राओं के सर्वाङ्गीण विकास की दृष्टि से उपलब्ध हैं।

'आर्य गरिमा' महाविद्यालय की वार्षिक पत्रिका है। आर्य समाज के उद्भट विद्वान् स्वामी सत्यप्रकाश की स्मृति में प्रकाशित यह ग्रन्थ **'वेदश्रीः'** प्रकारान्तर से आर्य गरिमा का विशेषाङ्क है। महाविद्यालय ने 'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय' के शाश्वत उद्घोष को सदैव मुखरित किया है, विश्वास है कि भविष्य भी प्रशस्त होगा।

डॉ० कोमल भटनागर
प्राचार्या